Socio-Economic Aspects as Reflected in the Commentaries of Manusmriti

(मनुस्मृति की टीकाओं में प्रतिबिम्बित सामाजिक आर्थिक स्थिति)

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत)

शोध प्रबन्ध-सारांश

प्रस्तुतकर्त्री

पल्लवी श्रीवास्तव
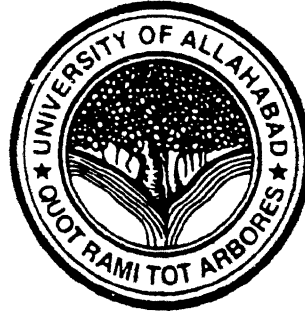
निर्देशक

डा0 हर्ष कुमार

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

2001

Socio-Economic Aspects as Reflected in the Commentaries of Manusmrit
(मनुस्मृति की टीकाओं में प्रतिबिम्बित सामाजिक आर्थिक स्थिति)

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत)

शोधप्रबन्ध–सारांश

प्रस्तुतकर्ता

पल्लवी श्रीवास्तव

निर्देशक

डा0 हर्ष कुमार

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

2001

सामाजिक स्थिति

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को बनाये रखने एवं व्यवस्थित रखने के प्रयासों की तीव्रता का दौर, जोकि गुप्त साम्राज्य के पतन एवं बाह्य आक्रमण के परिणाम स्वरूप प्रारम्भ हुआ था, पूर्वमध्यकाल तक चलता रहा। इस समय राजनीतिक स्थिति सामंतों के हाथों में आ चुकी थीं एवं राज्य छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया था जाति के आधार पर भी छोटे-छोटे गुट बन रहे थे, ऐसी परिस्थितियों में स्वाभाविक था कि सत्ताधारी वर्ग स्वार्थवश जाति व्यवस्था कायम रखने पर जोर देते। इसके साथ ही मुस्लिम आक्रमण, बौद्धधर्म के पतन के बाद उदित तांत्रिक पंथ भी जाति व्यवस्था पर जोर देते थे। इसके ठीक विपरीत समाज में कुछ अपवाद भी उपस्थित थे। जो जाति व्यवस्था में कुछ उदारता की तरफ संकेत कर रहे थे। जाति व्यवस्था के नियमो में शिथिलता इस काल के साहित्य में दिखाई पडती है। इस काल के विचारकों के मत से प्रतीत होता है कि संभवत. वर्णसंकरता को अब उतनी हेयदृष्टि से नहीं देखा जाता था जितना कि मनुस्मृति के काल में।

पूर्वमध्यकाल की जाति व्यवस्था में कई विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। प्राचीन काल से ब्राह्मण गोत्र, प्रवर एवं शाखा के आधार पर विभिन्न भागों में विभाजित होते थे। किन्तु पूर्व मध्य काल तक इन वर्गों के भी कई उपवर्ग बन गये। इस प्रकार ब्राह्मण विभिन्न प्रकार के व्यवसाय, कर्त्तव्यों एंव स्थान के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में विभाजित हो गये थे। धर्मशास्त्रों ने उन्हें कुछ विशेषाधिकार प्रदान किये थे, जैसे - करों से मुक्ति, गढ़े धन का बड़ा भाग, प्राण रक्षा का अधिकार। एक स्थल पर, यह कहकर कि आततायी ब्राह्मण की हत्या की जा सकती है, ब्राह्मणों के विशेषाधिकार में अवरोध उत्पन्न कर दिया गया ।

पूर्वमध्यकाल में राजपूतों का उदय एक महत्वपूर्ण घटना है। 7वीं-8वीं शती से ही राजपूतों के अस्तित्व का प्रारम्भ होता है जोकि पूर्वमध्यकाल तक आते-आते 36 गोत्रों तक पहुँच गया। यह इस काल की एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि किसी विदेशी जाति को वर्णक्रम मे स्थान दिया गया।

वैश्य जाति क्षेत्र विशेष जिससे वे संबंध रखते थे एवं अपने व्यापार के आधार पर बहुत सी शाखाओं में विभाजित हो गये थे। भूमि अनुदानों के फलस्वरूप एक प्रतिष्ठित भूमिधारी वर्ग उपस्थित हो गया था व्यापार वाणिज्य में गिरावट आई, जिससे कि वैश्यों को अपने वर्णकर्म के साथ-साथ अन्य वर्णों के कर्म भी अपनाने पडे। जिससे कि उनके शूद्रों के स्तर तक गिरने का भ्रम सा हो गया क्योंकि ठीक इसी समय खेतिहर मजदूरों एंव सामान्य मजदूरों का एक वर्ग शूद्रों में सम्मिलित हो गया था। मोटे तौर पर 11 वीं शती में वैश्यों की स्थिति में गिरावट आई। आपत्काल में उसे शूद्रों के समान पैर प्रक्षालन, जूठा खाना इत्यादि निम्न कार्य करने की अनुमति दी गई किन्तु आपत्काल के समाप्त होते ही वह इन कर्मों का

त्याग कर दें इस प्रकार स्पष्ट है कि सामान्यतौर पर वैश्य शूद्रों के कर्म नहीं अपनाते थे किन्तु कुछ पेशे जैसे- कारीगरी गायन वादन जैसे पेशों को वैश्यों द्वारा अपना लेने के कारण यह माना गया कि शूद्र एवं वैश्यों के मध्य भेद कम रह गया था।

समाज के अर्थ प्रधान होने के कारण शूद्र वर्ग मे अब एक वर्ण के लोग सम्मिलित नहीं थे वरन् एक समान पेशे के लोग थे। इस प्रकार पेशे एवं आजीविका के आधार पर शूद्रों का एक विशाल वर्ग खड़ा हो गया था। जिसमें कृषक कृषिमजदूर, कारीगर, शिल्पी, नौकर, इत्यादि सम्मिलित हो गये थे। इनमें सबसे बड़ा वर्ग खेतीहर मजदूरों का था तभी पुराणों एवं कानूनवेत्ताओं ने कृषि को केवल शूद्रों का पेशा बताया है। शूद्रों की स्थिति पूर्वमध्यकाल में पहले की तुलना में काफी सुधर गई थी अब मात्र जन्म ही शूद्र होने का लक्षण नहीं रह गया था। इस काल के व्यवस्थापकों के अनुसार द्विज (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) को आवश्यकता पड़ने पर नीच शूद्र से भी निरन्तर श्रद्धापूर्वक मोक्ष धर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस समय शूद्रों के द्विज की सेवा के सिद्धान्त से असहमति प्रकट की गई और निजधन रखने का अधिकार दिया गया। उन्हें मोक्ष छोड़कर सभी कुछ प्राप्त था, पंचमहायज्ञ, संस्कार इत्यादि बिना मत्रोच्चार के करने की अनुमति दी गई।

इस काल में अस्पृश्यता के बंधन में भी कुछ शिथिलता दिखाई देती है। अस्पृश्यों की लम्बी पंक्ति में अब केवल चाण्डाल ही अस्पृश्य रह गया था, अन्य सूत, मागध, आयोगव इत्यादि के स्पर्श से अब स्नान आवश्यक नहीं रह गया था।

स्त्रियों की दशा, किसी भी समाज के सभ्य होने का मापदण्ड है। प्राचीन काल से ही स्त्रियों पर लगाये गये अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध जैसे धीरे चलना, धीरे बोलना, वस्त्रों से पूरा शरीर ढकना, परपुरूष से बात न करना, इस युग में भी परम्परागत रूप से चले आ रहे थे। इस काल में शूद्रों की ही तरह स्त्रियाँ वेदों के पठन-पाठन और यज्ञों में सम्मिलित होने के अधिकार से वंचित कर दी गई। शिक्षा के अवसर भी कम होने लगे, वह केवल माता-पिता, भाई बन्धु से घर पर शिक्षा प्राप्त कर सकती थी, किन्तु उच्च वर्ग में अब भी सुसंस्कृत एंव सुशिक्षित स्त्रियों की कमी नहीं थी। इस काल में अनेक ऐसी स्त्रियाँ भी हुई जिन्होने अकेले पूरे शासन का भार अपने कंधे पर उठाया था।

कन्या का विवाह प्राचीन काल की भांति इस काल में भी अल्पआयु में ही कर दिया जाता था। संभवत इस काल में अविवाहित कन्याओं का क्रय-विक्रय होने लगा था तभी इस युग में कन्याओं के क्रय विक्रय को अपमानजनक बताया गया है। इस काल में स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण में एक स्वस्थ्य उदारवादी परिवर्तन दृष्टिगत

होता है। अब व्यभिचारिणी स्त्री के लिए मृत्यु का विधान नहीं किया गया था केवल आगामी ऋतुकाल तक के लिए उसका परित्याग किया जाता था ।

पूर्व मध्य काल में स्त्रियों के सम्पत्ति अधिकार में बहुत परिवर्तन आया। इस काल के व्यवस्थाकारों ने पुत्र के अभाव में पुत्री के उत्तराधिकारी होने का मत प्रतिपादित किया अब यदि कन्या अविवाहित रहे तो एक चौथाई, आधा या अपने भाई के बराबर हिस्सा प्राप्त कर सकती है। एक विधवा के रूप में पति की सम्पत्ति पर उसका पूर्ण अधिकार था। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में स्त्रियों के ऊपर अनेक बंधन लगाये जाने के बाद भी सम्पत्ति में अधिकार के रूप में उन्हे पर्याप्त आर्थिक सुदृढ़ता प्रदान की गई थी।

स्त्रीधन के सम्बन्ध में इस काल के विचारकों ने जहां अचल सम्पत्ति के खरीद फरोख्त के अधिकार को कम कर दिया वहीं यह भी घोषित किया कि पति को पत्नि के स्त्रीधन में हाथ लगाने का कोई अधिकार नहीं है यदि पति पत्नी पर उसे खर्च करने के लिए दबाव डाले तो उसे पत्नी को ब्याज सहित लौटाना पड़ता था। प्राचीन काल की भांति इस काल में भी स्त्रीधन की अधिकारिणी पुत्री को ही बताया गया है।

प्राचीनकाल से पूर्वमध्यकाल तक स्त्रियों को पत्नी के रूप में सबसे ज्यादा सम्मान प्राप्त था। उनसे अपेक्षा की जाती थी कि उन्हे हमेशा पति की सेवा में रहना, आज्ञा मानना और सम्मान देना चाहिए। धार्मिक कार्यों में उसकी उपस्थिति आवश्यक मानी गई है। उनकी तुलना देवियों से की गई है। विधवाओं के रूप में उनकी स्थिति हमेशा की तरह दयनीय थी। अमंगलों में विधवा सबसे बड़ा अमंगल माना गया था। उनपर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हुए थे। सम्भवतः इसके पीछे उन्हे प्राप्त आर्थिक अधिकार कार्य कर रहे थे। उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे पति की मृत्यु के उपरान्त सती प्रथा का पालन करें। इस काल के प्रमुख व्यवस्थाकार जोरदार शब्दों में सती प्रथा का समर्थन करते हुए इसके सभी वर्णों में प्रचलित होने की बात करते हैं, वहीं कुछ इसे अमानवीय करार देते हुए इसकी आलोचना करते हैं।

नियोग अर्थात् किसी नियुक्त पुरूष के सम्भोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति के लिए पत्नी या विधवा की नियुक्ति, जहां प्राचीनकाल में काफी प्रचलित था, वहीं पूर्वमध्यकाल में इसे निन्दित कृत्यों की श्रेणी में रखा गया।

पूर्वमध्यकाल में परदा प्रथा चाहे उच्च समुदाय और राजपरिवार में भले ही रही हो मगर साधारण जनता में इसका पूर्ण प्रचलन नहीं था, स्त्रियाँ प्राय बिना किसी प्रतिबन्ध के उन्मुक्त और परदाविहीन घूमती थीं। विधवा पुनर्विवाह वैदिक काल से सम्पन्न हो रहे थे, समर्थन के साथ-साथ विरोध के स्वर भी यत्र तत्र मिलते थे. किन्तु पूर्वमध्यकाल में विधवा विवाह की काफी निंदा की गई इससे स्पष्ट

है कि विधवा विवाह होते अवश्य थे तथा निदंनीय माने जाते थे किन्तु समाज में सम्मानित नहीं थे।

आश्रम व्यवस्था के पीछे मनुष्य के जीवन को सुसंस्कृत, सुगठित और सुव्यवस्थित बनाने की दार्शनिक भावना काम कर रही थी। हिन्दू विचारकों ने मानव जीवन को समग्रतापूर्वक व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए उसे आश्रमों के अन्तर्गत विभाजित किया था। हिन्दू विचारकों ने अत्यन्त मनोनिवेशपूर्वक मानव की कार्य पद्धतियों का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके जीवन के मूल कर्त्तव्यों का विभाजन किया था। उन्होनें यह स्वीकार किया कि जीवन का लक्ष्य केवल भोग और जीना नहीं है बल्कि योगमय आर्दशात्मक, अध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष की ओर प्रवृत्त होना भी है इस प्रकार जीवन की वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए ज्ञान करर्तव्य, त्याग और आध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम वानप्रस्थ और सन्यास नामक चार आश्रमों में विभाजित किया है, जिसका अंतिम लक्ष्य था मोक्ष की प्राप्ति । पूर्वमध्यकाल में थोडे बहुत परिवर्तन के साथ आश्रमों की व्यवस्था यथावत चल रही थी। इस काल में आते-आते ब्रह्मचारी से अब शिक्षा प्रदान करने के बदले में धन ग्रहण करना निंदनीय नहीं था किन्तु पहले से धन निश्चित कर लेना सम्मानजनक नहीं था। गृहस्थों का विभाजन अब किसी अन्य आधार पर न होकर अर्थ के आधार पर होने लगा था। वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम अब भी प्राचीन काल की भांति मोक्ष प्राप्ति के मार्ग के रूप में समझे जाते थे।

हिन्दू संस्कृति में विवाह को एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। इसे एक धार्मिक संस्कार के रूप में ग्रहण किया गया है। इसे एक संस्कार माना गया है जिसका उद्देश्य उन विभिन्न पुरूषार्थों को पूरा करना है, जिनकी प्राप्ति में पति और पत्नी दोनों का सहयोग होता है।

प्राचीनकाल से आधुनिक काल तक एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग या जाति में विवाह करते थे, प्राचीन स्मृतिकारों ने ब्राह्मण का क्षत्रिय या वैश्य से विवाह सबंध बिना किसी सन्देह अथवा अनुत्साह से मान लिया है किन्तु ब्राह्मण एवं शूद्र कन्या के विवाह संबंध के विषय में मतैक्य नहीं है। ऐसे विवाह हुआ करते थे, किन्तु इनकी भर्त्सना होती थी।

आर्थिक स्थिति

अस्थिर राजनैतिक स्थिति, परस्पर लगातार संघर्ष से आर्थिक स्थिति प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती थी। इस काल के सिक्कों का कम मात्रा में उपलब्ध होना, खराब अर्थव्यवस्था का ही सूचक माना जा सकता है, इससे यही स्पष्ट होता है कि व्यापार वाणिज्य में ह्रास के कारण मुद्रा प्रचलन में कम थी या फिर वस्तु विनिमय प्रचलन में था मेधातिथि इसकी पुष्टि भी करते हैं। दोनों ही स्थितियाँ अवन्नत अर्थव्यवस्था की ओर संकेत करती हैं। छोटे-छोटे सामंतों के उदय, जिससे शासक एवं शासित के मध्य कई श्रेणियाँ बन गई थी, से उत्पादकों का बहुत शोषण हो रहा था। इस काल के साहित्य में इस शोषण का जीवंत चित्र मिलता है। एक अभिलेख में करों की एक लम्बी सूची दी गई है जो आम जनता को विभिन्न श्रेणियों के राजा, सामंत एंव प्रमुखों को देनी पड़ती थी, यह बताती है कि चक्रवर्ती महाराज या अधिराज, नरेन्द्र, पारसनिक एवं पट्टहार क्रमश उपज का 1/10, 1/6 1/5 1/4 और 1/3 भाग राजस्व के रूप में लेते थे। इससे स्पष्ट है कि आम जनता पर करों का कितना बोझ था।

इस काल में कृषकों, व्यापारियों एवं सामान्य जनता से वसूले जाने वाले करों की सूची बहुत लम्बी थी। जिसमें भागभोगकर, हिरण्य, उद्रंग एवं उपरिकर, दसापराध, कुमारगाधियानक, कुटक, जलकर, गोकर तथा व्यापारियों से लिये जाने वाले करों में आयात निर्यात कर प्रवेष्य, निर्गमिक (आगम निगम कर) सीमा शुल्क (सानिर्गम प्रवेष्य, सुनाई, तलाई चुमाई, बिक्रीकर, उत्पादशुल्क, प्रवणिकर (चुंगी की तरह) टोल टैक्स, यह दो प्रकार से वसूला जाता था- मार्गों पर एवं नौका पर इत्यादि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त स्थानीय व्यापारियों से ढेर सारे छोटे-छोटे कर लिये जाते थे जैसे -कंधे पर सामान उठाकर बेचने वालो से स्कन्ध, फुटकर बाजार में खरीदने एवं बेचने वाली वस्तुओं पर पण्यकर, बाजार में घोड़े खड़े करने के स्थान पर मंदावी नाम का कर लगाया जाता था। एक अन्य कर तुरूष्कदण्ड का भी उल्लेख इस काल के साहित्य में मिलता है। जो सम्भवत राज्य में बसने वाले तुर्कों पर लगाया जाता था।

इस काल में भूमि पर स्वामित्व का प्रश्न स्पष्ट उत्तर नहीं प्राप्त कर पा रहा था। । भूमि पर स्वत्व के व्यक्तिगत स्वामित्व, सम्मिलित स्वामित्व एवं राजा के स्वामित्व के संबंध में विचारकों एवं इतिहासकारों के अलग-2 वर्ग बन गये थे । गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर स्पष्ट होता है कि भूमि में गडे धन में राजा का हिस्सा राजा की सम्प्रभुता सिद्ध करता हैं, साथ ही भूमिधारी कृषक वर्ग भी राजा को ही भूमि का स्वामी मानकर उसको कर इत्यादि देते थे । इस प्रकार राजा को कर के रूप में उपज अंश देना अंतिम रूप से राजा को ही भूस्वामी सिद्ध करता है ।

इस प्रकार करों की लम्बी सूची से स्पष्ट है कि आम जनता करों में किस तरह डूबी हुई थी।

इस काल में श्रेणियाँ काफी उन्नत अवस्था में पहुँच गई थीं, औद्योगिक एवं व्यापारिक श्रेणियों में भेद हो गये थे, जिन्हे क्रमश. श्रेणी और गण या संघ कहा जाता था। इसमें श्रेणी के सदस्य व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र होकर कार्य कर सकते थे जबकि गण के सदस्य सामूहिक रूप से कार्य करते थे। वास्तुकारों, राजगीरों, बढ़ईयों इत्यादि एवं जो मिलकर संघ के रूप में कार्य करते हैं उनकी मजदूरी को इस प्रकार बांटा जाता था कि जिसने ज्यादा मेहनत का एवं कठिन कार्य किया है, उसे ज्यादा हिस्सा मिलता था। जिसने सरल कार्य किया है उसे कम। इस प्रकार परिश्रम के आधार पर पारिश्रमिक का बंटवारा होता था।

इस काल में उद्योग धन्धे, आगात निर्गात मात्रा में सीमित हो गये थे, संभवत इसका कारण इस काल की बिगडती हुई अर्थव्यवस्था रही होगी। सामंतवाद की प्रवृत्ति के कारण साम्राज्य छोटी-छोटी प्रशासनिक इकाइयों में बंट गया था। सब अपने स्वार्थपूर्ति में संलग्न थे, जिससे एक प्रकार की बंद अर्थव्यवस्था का जन्म हो गया था, जिस कारण व्यापार वाणिज्य में जडता की सी स्थिति आ गई थी।

धार्मिक स्थिति

धार्मिक स्थिति से इस युग में काफी परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। धर्म को अब परम्परागत यज्ञ, तपस्या या देवी देवताओं की उपासना से सम्बन्ध न करके व्यवहारिक आचार के रूप में समझा जाने लगा था। एक स्थल पर मेधातिथि धर्म के पांच स्वरूप गिनाते हैं- वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, वर्णाश्रमधर्म, नैमित्तिक धर्म तथा गुणधर्म (अभिषिक्त राजाओं के संरक्षण संबंधी कर्त्तव्य)। प्राचीनकाल से भारत विभिन्न धर्म की भूमि रहा है साथ ही धर्म आपस में एक साथ सौहार्द्रपूर्ण ढंग से व्यवहार करते थे। इस काल में भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। विभिन्न धर्मों एवं पंथों के अनुयायी बहुत ही सामंजस्य की प्रवृत्ति प्रदर्शित करते थे। इस काल में विभिन्न देवी देवताओं की संयुक्त प्रतिमा का अंकन हुआ है जिसमें हरिहर (विष्णु, शिव), हरिहर हरण्यगर्भ (सूर्य, विष्णु, शिव ब्रह्म) त्रिमूर्ति (ब्रह्म, विष्णु, महेश) अर्द्धनारीश्वर (शिव एवं शक्ति) प्रमुख रूप से आते हैं। कई बार ब्राह्मणवादी देवता एवं बौद्ध देवता संयुक्त रूप से दिखते है। खजुराहों के जैन मन्दिर में ब्राह्मणवादी देवी देवताओं का स्वतन्त्र रूप से अंकन हुआ है। इस प्रकार विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय एक साथ फल फूल रहे थे।

पारम्परिक धार्मिक सम्प्रदाय-शैव, वैष्णव, शाक्त इत्यादि भी इस काल में सामान्य रूप से प्रचलित थे। समाज की वर्जनाओं को तोडते हुए तन्त्रवाद का प्रचलन बढ़ रहा था इसी के साथ अन्य धर्मों पर भी तन्त्र का प्रभाव बढ़ रहा था, कोई धर्म इसके प्रभाव से बच नहीं सका था। शैव धर्म में कौल, कापलिक एवं त्रिक जैसी तांत्रिक शाखाओं ने जन्म ले लिया था।

जैन एवं बौद्ध धर्म बढते हुए ब्राह्मणवाद का सामना करने में असमर्थ थे, इसी कारण इनका विस्तार क्षेत्र भी सीमित होता जा रहा था। जैन धर्म वणिक वर्ग से जुडकर एक क्षेत्र विशेष गुजरात, राजस्थान क्षेत्र तक सीमित हो गया। जबकि बौद्ध धर्म उत्तर भारत से समाप्त होकर कुछ समय तक पूर्वी भारत, बिहार, उड़ीसा में केन्द्रित हो गया। इस काल के साहित्यिक साक्ष्यों से पता चलता है कि किस प्रकार बौद्ध संघ में व्यभिचार का प्रवेश हो चुका था, और यह धर्म अपने मूल सिद्धान्तों से कितना भटक चुका था।

इस काल में श्राद्ध, पातक, प्रायश्चित को आचार शास्त्र की अपेक्षा धर्म में सम्मिलित किया गया । प्राचीन काल की तरह इस काल में श्राद्ध करने वाले की योग्यता एवं श्राद्ध मे सम्मिलित होने वालो की योग्यता की लम्बी सूचियाँ प्राप्त होती है साथ ही यह भी उल्लेख मिलता है कि किस प्रकार पिण्डदान करना चाहिए, कब करना चाहिए, कहाँ करना चाहिए, श्राद्ध करते समय किसे-2 देखना वर्जित होता है इत्यादि । श्राद्ध भोजन के लिए आमंत्रित लोग, पांक्तेय या अपांक्तेय का विचार, श्राद्ध में भोज्य सामग्री क्या प्रस्तुत की जाये इसका विषद् उल्लेख प्राप्त होता है ।

श्राद्ध मे भोज्य सामग्री क्या प्रस्तुत की जाये इसका विषद् उल्लेख प्राप्त होता है । पिण्डदान के समय किन मंत्रों का पाठ करना चाहिए एवं किन का नहीं इस विषय का भी विवरण प्राप्त होता है ।

पातक क्या होता है, कितने प्रकार का होता है यथा पातक, अनुपातक, उपपाातक एवं प्रकीर्णक । ब्रह्महत्या, सुरापान, स्तेय (चोरी), गुरू अंगनागमन इत्यादि से क्या तात्पर्य है एवं प्रत्येक के लिए किस प्रकार के प्रायश्चित की व्यवस्था की गई थी । किस प्रकार के प्रायश्चित में किस प्रकार के कृत्य करने का विधान किया गया था ।

इस काल में तीर्थस्थलों को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया था, विभिन्न तीर्थ स्थलों की लम्बी सूची प्राप्त है । तीर्थ स्थलों पर जाकर आत्महत्या करने के उदाहरण भी इस काल में प्राप्त होते हैं ।

<u>राजनय</u>

इस काल में राजनीति धर्म की परिभाषा में कुछ परिवर्तन दृष्टिगत हो रहा था. इस काल में राजनीति धर्म को राजा के कर्त्तव्यों से संबंधित करते हुए, राजा के दो प्रकार के कर्त्तव्य बताये हैं। दृष्टार्थ (अर्थात जिनके प्रभाव सांसारिक हों और देखे जा सके, एवं अदृष्टार्थ जिनका आध्यात्मिक महत्व हो) यथा-अग्निहोत्र। इसके साथ ही मेधातिथि यह भी कहते हैं कि राजनीति के नियम धर्मशास्त्र के धार्मिक ग्रंथों के आधार पर न बनकर सांसारिक अनुभवों पर आधारित है। इस प्रकार इस काल में राजनीति से सम्बन्धित दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया था राजनीति अब दैवीय न होकर सांसारिक समझी जाने लगी थी। राजा होने के लिए क्षत्रिय होने की अनिवार्य योग्यता भी अब नहीं रह गई थी। इस काल तक कई गैर क्षत्रियवंश ब्राहाण शुंग, कण्व, वाकाटक, वैश्य-गुप्त, सफलतापूर्वक शासन कार्य कर चुके थे। इस काल के विचारकों ने राजा को सलाह दी कि विपत्ति काल में राजा अपने कोष से भोजन आदि की व्यवस्था करके प्रजा पालन करें। जिस प्रकार आधुनिक काल की सरकार नि.शुल्क चिकित्सा, वृद्धावस्था पेंशन जैसी सुविधाएँ प्रदान करती है उस प्रकार की सुविधाओं की राजा से अपेक्षा काफी प्राचीनकाल से की जाती रही है।

युद्ध के संबंध में भी इस काल में काफी परिवर्तित विचार दृष्टिगत होते हैं। प्राचीन काल के राजनीतिज्ञ विजय के लिए कपटाचरण के लिए संकेत करते हैं और जबकि मनु कपटपूर्ण युद्ध एवं गुप्त आयुधों से लड़ने को मना तो करते हैं किन्तु शत्रु देश को तहस-नहस करने की अनुमति देते हैं जबकि पूर्वमध्यकाल में कहा गया कि शत्रु देश के लोगों की यथासंभव विशेषत ब्राह्मणों की रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार अब युद्धों में सहृदयता का व्यवहार किया जाने लगा था, इस तथ्य का संकेत एक अन्य सन्दर्भ से भी मिलता है जब मेधातिथि युद्धबंदियों को दास बनाने की अनुमति नहीं देते, बल्कि पराजित देश के दासों को ही वह दासों का एक प्रकार ध्वजाहृत बताते हैं।

प्राचीन काल की भांति व्यवहार विधि भी पूर्वमध्यकाल में चली आ रही थी। भोग या भुक्ति से सबंधित विचारो में परिवर्तन दिखाई पडता हे। जहा प्राचीनकाल में विधान किया गया था कि बंधक एवं प्रतिभूमि (धरोहर) समय के व्यवधान से समाप्त नहीं हो जाते वहीं पूर्वमध्यकाल में इसके लिए 20 वर्ष की समय अवधि निश्चित कर दी गई । इसके उपरान्त व्यक्ति स्वामित्वहीन हो जाता था।

मनु न जहाँ स्त्रियों को अयोग्य साक्षी करार दिया है वहीं पूर्वमध्यकाल के विचारकों ने स्त्रियों एवं स्त्रियों के मध्य तथा स्त्रियों तथा पुरूषों के मध्य विवाद में

स्त्री साक्षी को वरीयता दी है, इससे स्पष्ट है कि इस काल में स्त्रियों को अब सम्मानजनक दृष्टि से देखा जाने लगा था।

मेधातिथि के विचारों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में अर्थदण्ड का ज्यादा प्रचलन था। जादू-टोना करने वालों के लिए मृत्युदण्ड तक का विधान किया गया था, इससे ऐसा संकेत मिलता है कि समाज में जादू टोना इत्यादि अंधविश्वासों का प्रचलन बढ़ गया होगा जिसकी रोकथाम के लिए मृत्युदण्ड का विधान किया गया होगा।

पूर्वमध्यकाल के ज्यादातर विचारकों ने जहाँ स्त्रियों को सम्पत्ति में पर्याप्त अधिकार प्रदान किये। पुत्रहीन होने पर पिता की सम्पत्ति की अधिकारिणी पुत्री मानी गई। पिता की सम्पत्ति में एक चौथाई या आधा या पुत्र के समान वह अधिकार प्राप्त करती थी, यदि वह आजीवन कुवांरी रहने का व्रत ले। इसके साथ ही पति की मृत्यु के उपरान्त विधवा ही सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी, जबकि प्राचीन काल में किसी भी स्थिति में पिता या पति की सम्पत्ति में पुत्री या पत्नी को कोई अधिकार नहीं प्राप्त था। इसी तरह पूर्वमध्यकाल में आकर मेधातिथि स्त्रियों के किसी भी प्रकार के धन अधिकार से असहमत होते हैं और उन्हें केवल स्त्रीधन की अधिकारिणी स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार सम्पत्ति में ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अधिकार एवं नियोग इत्यादि से संबंधित तथ्यों पर टीका करते हुए मेधातिथि इसे केवल प्राचीन काल में प्रचलित बताते हैं।उनके अनुसार काल एवं देश के अनुसार स्मृतियों के वचन परिवर्तित होते हैं।इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में ज्येष्ठ पुत्र के विशिष्ठ दाय एवं नियोग प्रचलन में नहीं थे। दत्तक संतान के संबंध में प्राचीन काल में दत्तक का समानजातीय होना आवश्यक बताया गया था। वहीं पूर्वमध्यकाल के प्रथम चरण में लगभग 9 वीं शती में मेधातिथि ब्राह्मण के क्षत्रिय को गोद लेने की भी बात करते हैं, वहीं इसके दूसरे चरण में लगभग 11वीं शती में कुल्लूकभट्ट केवल समानजातीय दत्तक पुत्र लेने की बात करते हैं। इससे ऐसा संकेत मिलता है कि पूर्वमध्यकाल के प्रारम्भिक दौर में जाति बंधन की जो मान्यतायें ढीली पड़ रही थीं वह इस चरण की समाप्ति तक पुनः कठोर होनी लगी थी।

Socio-Economic Aspects as Reflected in the Commentaries of Manusmrit

(मनुस्मृति की टीकाओं में प्रतिबिम्बित सामाजिक आर्थिक स्थिति)

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत)

शोधप्रबन्ध

प्रस्तुतकर्ता

पल्लवी श्रीवास्तव

निर्देशक

डा0 हर्ष कुमार

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

2001

विषयानुक्रमणिका

आभार

प्रस्तुत अध्ययन के इस अकिचन प्रस्तुतीकरण मे अनेक श्रद्धेय विद्वज्जनो व गुरूवरो का सहयोगात्मक एव आर्शीवादात्मक योगदान रहा है, जिसे विस्मृत करना बहुत बडी भूल होगी। सर्वप्रथम मै अपने शोध सम्प्ररेक माननीय डा0 हर्ष कुमार के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिनके अमूल्य सुझावो एव निर्देशन से यह लेखन कार्य सभव हो सका। समय-समय पर निरलस होकर उन्होने मुझे जो वैदुष्यपूर्ण सुझाव एव प्रेरणा दी उसके प्रति शब्दो मे आभार व्यक्त करना सभव नही है। मैं अपने सभी गुरुजनो की आभारी हूँ, विशेष रूप से प्रो0 बी0 एन0 एस0 यादव, प्रो0 बी0डी0 मिश्र, प्रो0 गीता देवी जी, डा0 आर0पी0 त्रिपाठी, श्री ओ0पी0 श्रीवास्तव, प्रो0 ओम प्रकाश जी के प्रति हार्दिक रूप से विनयवत हूँ, जिनकी सतत प्रेरणा और सहयोगात्मक सुझावो ने पग-पग पर मार्गदर्शन किया। विभाग के अन्य गुरुजनो जिनके आर्शीवाद से यह कार्य पूर्ण हो सका है ।

मै अपने पूज्यनीय पिता जी श्री हरि शकर श्रीवास्तव, माता जी श्रीमती निर्मला देवी, सासू माँ श्रीमती आर0डी0 शर्मा, भाई दिवाकर एवं पुत्र शिखर मोहन की अत्यन्त अभारी हू। जिन्होने प्रारम्भ से लेकर अंत तक निरन्तर मुझे प्रेरित किया और अपने सहयोग एव प्रोत्साहन द्वारा यह शोध कार्य पूर्ण करने मे अभूतपूर्व योगदान दिया है। मै अपने पति श्री शैलेन्द्र मोहन की हार्दिक आभारी हूँ जिन्होने मेरी इस आकाक्षा को पूर्ण करने मे अपना अमूल्य सहयोग दिया है।

मै इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के पुस्तकालायध्यक्ष तथा प्राचीन इतिहास, संस्कृति एव पुरातत्व विभाग के पुस्तकालाय सहायक श्री सतीश चन्द्र राय के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिनके सहयोग से मुझे पुस्तकालय की अमूल्य सुविधा प्राप्त हुई। इस के साथ मैं उन सभी विद्वज्जनों की ऋणी हूँ जिनके द्वारा उदभावित तथ्यों को मैंने प्रस्तुत अध्ययन में उपयोग किया है और जिसका निर्देशपाद टिप्पणियों मे स्थान-स्थान पर कर दिया गया है।

गगानाथ शोध सस्थान के केन्द्रीय पुन्तकालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा बरेली पुस्तकालय, विश्वविद्यालय बरेली पुन्तकालयो से मुझे ग्रथो के पर्यालोचन मे जो सहयोग मिला उसके लिए भी मै कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत अध्ययन छ अध्यायो मे निबद्ध है जिनमे क्रमश प्रस्तावना, सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, धार्मिक स्थिति, उपसहार विवेचित है, जिसमे मनुस्मृति की टीकाओ मे प्रतिबिम्बित सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक विवरणो को प्रस्तुत करते समय प्रसगवश मनुस्मृति से साम्यता व विभिन्नता भी रेखाकित करने का प्रयास किया गया है । इस कार्य मे पूर्वमध्यकालीन परिस्थितियो के स्पष्टीकरण के लिए तत्कालीन अन्य ग्रन्थो का भी सहयोग लिया गया है।

अपने अल्पज्ञान एव अल्प सामर्थ्य से प्रणीत प्रस्तुत शोध प्रबध मे विषयगत व शैलीगत त्रुटियो के लिए मै क्षमाप्रार्थी हूँ ।

विनीत

Pallavi Srivastava

पल्लवी श्रीवास्तव

प्रस्तावना

वर्तमान राजनैतिक परिवेश मे मनुस्मृति का उल्लेख जब भी किया जाता है, तब वह पुरातन, रूढिवादी तथा हिन्दू परम्परा का निषेधात्मक रूप प्रस्तुत करने के लिए किया जाता है, किन्तु मनुस्मृति का यह विश्लेषण एकपक्षीय है, वास्तविकता यह है कि भारतीय समाज के संगठन की प्रक्रिया ऋग्वैदिक काल से प्रारम्भ होती है, वह उत्तरवैदिक काल तथा सूत्रकाल मे विकसित एव पुष्ट होती हुई स्मृतियो के काल मे आकर मनुस्मृति मे परिपूर्णता प्राप्त करती है। मनुस्मृति प्राचीन भारतीय व्यवस्था के सर्वाधिक विकसित स्तर का प्रतिनिधित्व करती है और यही वह कारण था कि मनुस्मृति के बाद मौलिक धर्मशास्त्रो के प्रणयन की प्रवृत्ति में विराम लग गया और व्यवस्थाकारो ने कालान्तर में सामाजिक व्यवस्था के निश्चयन में मनुस्मृति को मानक माना और अपने विचार उसी के परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत किये। मुगलकाल के उत्तरवर्तीकाल मे जब भारत पर अग्रेजों का शासन हुआ, जो प्रारम्भ मे व्यापारिक कम्पनी के रूप मे भारत में व्यापार हेतु आये थे। किन्तु उन्होने धीरे-धीरे सम्पूर्ण शासन अपने हाथों मे ले लिया। नये शासकों ने तो अपने प्रशासकीय कार्य सरल बनाने और कुछ उसे सुदृढ आधार प्रदान करने के लिए अनेक दूरगामी परिवर्तन किये। भारत में कानून और व्यवस्था की स्थापना की गई, सचार व्यवस्था में सुधार हुआ, सडको और रेल मार्गों ने सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में जोडकर आवागमन का मार्ग तैयार किया गया, संसाधनों के अधिकाधिक दोहन के लिए कृषि एव सिंचाई व्यवस्था में सुधार किया गया, भारत के उत्पादक ससाधनो के विकास के लिए उद्योगो को प्रारम्भ किया गया, एक पूर्णत. नवीन अग्रेजी शिक्षा प्रणाली शुरू की गई व्यापार और उद्योग के क्षेत्र मे नई व्यवस्थाओं से भारतीयो का परिचय हुआ और सावर्जनिक स्वास्थ्य में सुधार के लिए प्रयत्न किये गये। इन सबके परिणाम मे नये समाज के प्रमुख लक्षण आकार लेने लगे और भारतीयों के मस्तिष्क मे नए विचार और भाव होने प्रारम्भ हुए। किन्तु पाश्चात्य संस्कृति एंव भारतीय संस्कृति में पर्याप्त विभिन्नताये थीं, जिससे अंग्रेज शासको के समक्ष यह समस्या था कि भारतीय परम्पराओं के अनुरूप सामाजिक न्याय कैसे किया जाए, क्योंकि अंग्रेज संस्कृत में लिखे धर्म शास्त्रों

की परम्पराओं, भाषा आदि से अपरिचित थे। जिनमें भारतीय सामाजिक मान्यताओं का स्वरूप विशेषत था । इसी पृष्ठभूमि मे तात्कालिक शासको ने भारतीय भाषाओं का अध्ययन प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम अभिज्ञान शांकुन्तलम् का अनुवाद अग्रेंजी मे विलियम जोंस ने किया। हिन्दुओ के उत्तराधिकार की न्याय व्यवस्था करने के लिए मनुस्मृति का अंग्रेजी मे अनुवाद कराया गया जो एक कोड आफ जेन्टूलाज के नाम से प्रचलित है। तत्कालीन परिस्थिति में मनुस्मृति के अतिरिक्त ऐसा कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं था जिसमे तत्कालीन समाज, अर्थ एंव राजनीति का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है। मनुस्मृति का महत्व इसी तथ्य से स्पष्ट होता है कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के नियमन की सबसे महत्वपूर्ण ग्रथ के रूप में मनुस्मृति को ग्रहण किया गया तथा इसके बाद किसी नयी स्मृति का प्रणयन न कर समय-समय पर इस व्याख्या, या टीका ही प्रस्तुत की गई। इन टीकाओं के टीकाकारों ने मेधातिथि, गोविन्दराज, कुल्लूकभटट्, आदि प्रमुख है जो भारतीय इतिहास के पूर्वमध्यकाल से समान्यत· सम्बन्धित हैं।

यदि वर्तमान परिस्थिति मे यह प्रश्न उठाया जाये कि आज के युग में मनुस्मृति का क्या महत्व है ? तो इस प्रश्न का उत्तर काफी विस्तृत होगा, क्योकि मनुस्मृति मे न केवल सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक परिस्थितियों का विशद विवेचन मिलता है, बल्कि इसके साथ ही इसमें एक आदर्श व्यवस्था का भी चित्र मिलता है। जिसमे विभिन्न सामाजिक घटकों के कर्त्तव्यो का निधारण किया गया है। मनुस्मृति का सामाजिक महत्व इस रूप मे देखा जा सकता है कि तत्कालीन समाज के आदर्शो को वर्तमान समय मे भी शायद अपनाया जा सकता है, उदाहरणार्थ.- अनावश्यक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने के लिए समाज का विभिन्न वर्णों में विर्भाजन एंव प्रत्येक वर्णों के कार्य, अधिकार, कर्त्तव्यों का निर्धारण किया गया है । इस विभाजन एंव वर्गीकरण से समाज को सुचारू रूप से चलाने में सहायता मिल सकती है। समाज में व्यक्ति के जीवन की संस्कारयुक्त, नियमबद्ध एंव व्यवस्थित बनाने के लिए संस्कार, आश्रम, पुरूषार्थ का नियमन किया गया था। वर्तमान काल के मानव के अव्यवस्थित जीवन एंव गिरते हुए नैतिक स्तर में सुधार के लिए जीवन के विभिन्न दर्शनिक आदर्शों को अपनाया जा सकता है। व्यक्ति के जीवन में जन्म से ही उच्च आदर्शो की स्थापना के लिए संस्कारों का नियोजन

किया गया था, जीवन के प्रत्येक काल को समान महत्व प्रदान करने के लिए जीवन का विभाजन आश्रमो के रूप मे कर दिया गया था, जिसमे रहता हुआ व्यक्ति समाज, परिवार एंव देवताओ द्वारा किये गये कृत्यो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जीवन के चार पुरूषार्थ है, जिनके माध्यम से व्यक्ति धर्मयुक्त जीवन व्यतीत करता हुआ, जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसरित होता है । इस प्रकार सस्कार, आश्रम एंव पुरूषार्थ का अनुसरण करके मनुष्य सासारिक एंव अध्यात्मिक सुख शाति प्राप्त कर सकता है। यद्यपि मनुस्मृति मे स्त्रियों के पृथक अस्तित्व को नही स्वीकारा गया है, उन्हे सदैव किसी के नियन्त्रण में रहने के लिए निर्देशित किया गया है। उनके चरित्र को अस्थिर एंव उन्हे कामी, क्रोधी, लोभी, परपुरूष की तरफ आकृष्ट होने वाली बताया गया है, उनके कार्यों मे घर की देखभाल करना, पति की सेवा करना प्रमुख बताया गया है, यहॉ तक कि उन्हे चरित्रहीन पति की भी पूजा करने का निर्देश दिया गया है। फिर भी उन्हे समाज मे आदरणीय स्थान प्राप्त था, पुत्र उत्पन्न करने के कारण उन्हें आदरणीय माना जाता था, धार्मिक कार्यों की पूर्णता के लिए पति के साथ उसकी पत्नी का होना आवश्यक था। इस प्रकार स्त्रियों के लिए स्थापित उच्च आदर्शों का अनुसरण आज भी स्त्रियाँ कर सकती है। विधवा, नियोग एंव वेश्याओं की स्थिति के अध्ययन से तत्कालीन समाज में इनकी स्थितियों का पता चलता है। सम्पत्ति मे स्त्री के अधिकार एंव स्त्रीधन के उल्लेखों से समाज मे स्त्रियो की आर्थिक अधिकार के बारे में पता चलता है।

मनुस्मृति मे समाज के कुछ आर्थिक पक्षों का विस्तृत विवेचन किया है। जैसे भूमि पर स्वामित्व के प्रश्न पर अनेक संभावनाये व्यक्त की गई है। किन्तु संभवत निष्कर्ष रूप मे भूमि पर राजा के स्वामित्व को स्वीकार किया गया है क्योकि पृथ्वी मे गडे धन का प्रथम अधिकारी वही होता था। किस मौसम में कौन सी फसल लगानी चाहिए, किस फसल के बाद कौन सी फसल ज्यादा उपयोगी है, सिचाई की व्यवस्था किस प्रकार होनी चाहिए इत्यादि तथ्यों का विवेचन मिलता है। विभिन्न वर्णो के पेशों का विस्तृत उल्लेख मिलता है एंव आपद् काल के संदर्भ मे उनके लिए अनुचित उचित पेशों का विवरण मिलता है। जिससे पता चलता है कि विपरीत परिस्थितियों में भी कैसे अपने पेशों की रक्षा की जा सकती

है एव असमर्थ होने पर किस प्रकार जीविकोपार्जन करना चाहिए। कराधान के सदर्भ मे मनुस्मृति ने जोर देकर कहा है कि राजा को हर हालत मे कराधान थोडा ही लेना चाहिए । इस नीति को ध्यान मे रखकर वर्तमान परिस्थितियो मे करनीति की समीक्षा करनी चाहिए। शिल्पियो एव कारीगरों से कर के रूप मे माह मे एक दिन नि.शुल्क कार्य करवाया जाता था, वर्तमान परिस्थिति मे इस तथ्य को ध्यान मे रखकर निम्न तबके से करो का अधिग्रहण करना चाहिए।

मनुस्मृति मे राजा की आवश्यकता, अवधारणा, कर्त्तव्यो से वर्तमान शासन व्यवस्था के लिए शिक्षा ली जा सकती है, राजा को किस प्रकार अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए, किस प्रकार उसे कर ग्रहण करना चाहिए, किस प्रकार न्याय व्यवस्था की रक्षा के लिए चोरो को दण्डित करना चाहिए, राजा के आर्दशो से एक सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था के लिए प्रेरणा ली जा सकती है। इसके साथ ही मनुस्मृति मे स्वर्ग एंव नरक की भावना का भय दिखाकर भी राजा के कुछ कर्त्तव्यो का निर्धारण किया गया है। आज वर्तमान जीवन में भी स्वर्ग एव नरक के आधार पर कुछ कार्यों की अपेक्षा की जा सकती है।

मनुस्मृति मे वर्णित कानून व्यवस्था आज के युग के सामने एक आदर्श है। वर्तमान युग मे जहॉ भ्रष्टाचार एव रिश्वत एक आम बात है, मनुस्मृति मे न केवल इसकी भर्त्सना की है बल्कि इसके लिए दण्ड की व्यवस्था की है। राजा को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि राजा रिश्वत लेते पकडे जाने पर देश निकाला का दण्ड दे, एक अन्यत्र स्थल पर रिश्वत लेने पर उसका सर्वस्व हर लेने की बात कही गई है। आज की कानून व्यवस्था मे दण्ड मिलने की स्थिति शायद ही किसी रिश्वतखोर के सामने आई हो, दण्ड का भय ही व्यक्ति को ऐसे कार्यो की तरफ झुकने से रोक सकता है। मनुस्मृति के उदाहरण से इस तथ्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। मुकदमे एव गवाह वर्तमान युग में आजीविका का साधन बन चुके है। उनका सत्य या असत्य से काफी कम संबंध है। मनुस्मृति काल मे झूठे साक्षी (गवाह) की निंदा ही नही की गई है बल्कि उसे नरक मे जाने का भय दिखाया गया है। धर्मनिर्णय के समय मिथ्यावचन कहने वाले को भी नरकगामी कहा गया है।

मनुस्मृति मे सदाचार के उच्च आदर्श प्रस्तुत किये गये है। मनुस्मृति मे अपनी विवाहिता के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्त्री के साथ गमन की तीव्र भर्त्सना की गई है एव अलग-अलग परिस्थितियों मे अलग-अलग प्रकार के दण्ड की व्यवस्था की गई। किस वर्ण का पुरूष किस वर्ण की कन्या के साथ गमन करे, उसकी सहमति या असहमति से, हर परिस्थिति के लिए अलग-अलग दण्ड विधान निश्चित किये गये है। भाई की पत्नी के चरणो की वदना का उल्लेख मिलने से तत्कालीन समाज मे बडो के प्रति आदरभाव की एक झलक मिलती है। माता की महत्ता एव माता पिता के प्रति ऋण का उल्लेख मिलने से इस आदर्श को अपनाने की प्रेरणा मिलती है।

ब्राह्मणो के लिए उच्च आदर्शों की स्थापना की गई थी। जैसा मदिरा पीने वाले ब्राह्मण के लिए दण्डस्वरूप शूद्र के स्तर का हो जाने का प्रावधान था। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज मे मदिरा को हेय दृष्टि से देखा जाता था। ब्राह्मणो को निम्न वर्ण का हो जाने का भय दिखाया जाता था, जिससे ब्राह्मण इसका अनुसरण न करें। राजा से अपेक्षा की जाती थी कि वह समाज मे जुए पर प्रतिबन्ध लगाये, इस तथ्य से राज्य द्वारा जुए पर प्रतिबन्ध लगाने की प्रेरणा मिलती है। मनुस्मृति मे शातिपूर्वक उत्तराधिकार के नियम का विधान किया गया था। किस प्रकार सम्पत्ति, पिता की मृत्यु के बाद उसकी विधवा एव पुत्रो मे बंटती है। माता की मृत्यु के बाद किस प्रकार सहोदर भाई बहने बटवारा करे। इसी प्रकार स्त्रीधन पर किसका अधिकार होता है, स्त्री की मृत्यु के बाद उसपर किस का अधिकार होता है, किन परिस्थितियो मे कोई अन्य स्त्रीधन का प्रयोग कर सकता है। इससे तत्कालीन समाज मे उत्तराधिकार के कठोर नियमों का पता चलता है । जबकि वर्तमानकाल में सबसे ज्यादा झगडे उत्तराधिकार के मामले को लेकर होते हैं। उत्तराधिकार के नियमो का निर्धारण कर उनके पालन पर ध्यान देना चाहिए।

इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे मनुस्मृति के आदर्श देखने को मिलते हैं। इन्ही आर्दशों से वर्तमान समय में प्रेरणा ली जा सकती है।

भारतीय प्राच्चविद्या के पाश्चात्य पाठको तथा विदेशी प्रशंसकों ने मनु एव मनुस्मृति के समाज पर गहनतम प्रभाव से आकृष्ट होकर इस

दिशा मे विशेष गवेषणाये की। सर्वप्रथम ब्यूहलर ने अपने ग्रथ 'द लॉज ऑफ मनु' मे विद्वतापूर्ण भूमिका एव पाद टिप्पणी सहित मनुस्मृति के श्लोको का अग्रेजी मे अनुवाद किया। 'सर विलियन जोन्स' ने अपने अग्रेजी अनुवाद मे मनुस्मृति को 1250 ई0पू0 की रचना माना है और यूनानी भाषा के माइनोस आदि शब्दो को ससकृत शब्द मनु का विकृत रूप माना है। जी0सी0 हागटन ने मनुस्मृति के मूल भाग व अग्रेजी अनुवाद को यथावश्यक पाद टिप्पणियो सहित तीन खण्डो मे प्रकाशित किया। हॉपकिन्स ने अपनी सम्पादित पुस्तक 'द आर्डिनेन्स आफ मनु (ए0सी0 बर्नले का अग्रेजी अनुवाद) मे महाभारत के शातिपर्व मे वर्णित मनु एव मनुस्मृति के उल्लेख को प्रमाण मानकर मनुस्मृति को महाभारत से प्राचीन माना है। आग्लभाषा के अतिरिक्त लासलूयर का फ्रेच भाषा मे "लॉएस डे मनु" नामक ग्रन्थ तथा डकन एम0 डैरेट का जर्मन भाषा मे, भारूचि की टीका सहित अनुवाद मुद्रित हुआ। जर्मन भाषा मे ही जे जाली द्वारा सम्पादित एव अनूदित पाठ्य भाग का प्रकाशन भी महत्वपूर्ण था। गोनियर विलियम्स ने मनुस्मृति का रचना काल 500 ई0 पूर्व निर्धारित किया है। इसी श्रृखला में मैक्समूलर, मैक्डानल, श्लेगल, एल्फिंस्टन, गौरिशियो, मैडम ब्लैवेत्स्की, ऐनी बेसेन्ट आदि विद्वानो ने मानवीये मूल्यो के सस्थापक ग्रथ मनुस्मृति को अपने शोधों मे सम्मानपूर्ण स्थान दिया। संस्कृत एव सस्कृति प्रेमी दाराशिकोह ने फारसी भाषा मे रचित अपने ग्रंथ 'मज उल बहरैन' (दो सागरों का सम्मिलन) मे आदि पुरूष मनु को आदम के समकक्ष माना है। महान दार्शनिक नीत्शे ने श्रेष्ठ गुणो के प्रतिनिधिभूत ग्रंथ मनुस्मृति को बाइबिल की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट मानकर कहा था- "Close the Bible and open the code of Manu" आधुनिककाल मे उत्तरभारत की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक स्थिति को लिपिबद्ध करने का प्रयास जब भी किसी इतिहासकार द्वारा होता है, मनुस्मृति उसके लिए एक महत्वपूर्ण स्त्रोत सिद्ध होती है। जिनमें से कुछ एक का उल्लेख करना समीचीन होगा।

पी0वी0 काणे ने अपने ग्रथ 'धर्मशास्त्र का इतिहास' जो पांच खण्डों मे उपलब्ध है, में समस्त भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, विधिविधान नियम, आचार-विचार प्रस्तुत किये है। उनकी इस कृति के लिए मनुस्मृति एक महत्वपूर्ण स्त्रोत सिद्ध हुई। आर0एस0 शर्मा

के ग्रथ 'इण्डियन फ्यूडलिज्य एव शूद्राज इन एन्शिएन्ट इण्डिया' मे पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज तथा अर्थव्यवस्था एव पूर्वमध्यकालीन भारत मे सामजिक परिवर्तन के विश्लेषण के लिए मनुस्मृति के उद्धरण लिये गये है। बी0पी0 मजूमदार ने 'सोश्यो इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया', डी0 डी0 कौशाम्बी ने 'ए इन्ट्रोडक्शन टू दा स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री', बी0एन0एस0 यादव ने 'सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया 800-1200 ई0', रोमिला थापर ने 'एन्शिएन्ट सोशल हिस्ट्री' मे मनुस्मृति उत्तरभारत के ऐतिहासिक विवेचन मे महत्वपूर्ण स्त्रोत रही है।

सुधाकर चट्टोपध्याय, के0वी0आर0 आयगर, ए0एन0 बोस आदि के द्वारा शोध एव इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत के सामाजिक आर्थिक इतिहास पर जितने भी शोध एव अध्ययन हुए है उनके लिए मनुस्मृति एक महत्वपूर्ण स्त्रोत रही है।

मनुस्मृति की तिथि.

मनुस्मृति का रचनाकाल क्या है इस सबध में मतभेद है। इसके निर्धारण के लिए आतरिक एंव बाह्य साक्ष्यो का सहारा लेना पडता है। मनुस्मृति की सब से प्राचीन टीका मेधातिथि की है। जिसका काल 900 ई0 है। याज्ञवल्क्य के व्याख्याकार विश्वरूप ने मनुस्मृति के जो लगभग 200 श्लोक उद्धत किये गये है वे सब बारह अध्यायो के है, दोनों व्याख्याकारो ने वर्तमान मनुस्मृति से ही उद्धरण लिये है। वेदान्तसूत्र के भाष्य मे शंकराचार्य ने मनु को अधिकतर उद्धत किया है । कुमाररिल के तत्रवातिक मे मनुस्मृति को सभी स्मृतियो से और गौतम धर्मसूत्र से भी प्राचीन कहा है मृच्छकटिक (9 39) ने पापी ब्राह्मण के दण्ड के विषय मे मनु का हवाला दिया है। बलभीराज धारसेन के एक अभिलेख से पता चलता है कि सन 571 ई0 में वर्तमान मनुस्मृति उपस्थित थी। जैमिनीसूत्र के भाष्यकार शबर स्वामी ने भी जो 500 ई0 के बाद के नही हो सकते, प्रत्युत पहले के ही हो सकते है। मनुस्मृति को उद्धत किया है। अपरार्क एव कुल्लूक ने भविष्यपुराण द्वारा उद्धत मनुस्मृति के श्लोकों की चर्चा की है। बृहस्पति ने जिनका काल 500 ई0 है मनुस्मृति की भूरि-भूरि प्रशसा की है। बृहस्पति ने जो कुछ उद्धत किया है वह वर्तमान मनुस्मृति में पाया जाता है। स्मृतिचंद्रिका में उल्लिखित अंगिरा ने मनु के धर्मशास्त्र की चर्चा की है। अश्वघोष की वज्रसूचिकोपनिषद में मानवधर्म के कुछ ऐसे

उद्धरण मिलते है वो वर्तमान मनुस्मृति मे पाया जाता है। रामायण मे वर्तमान मनुस्मृति की बाते पाई जाती है।

उपयुक्त बाहय साक्ष्यो से स्पष्ट है कि द्वितीय शती के बाद अधिकतर लेखको ने मनुस्मृति को प्रमाणिक ग्रथ माना है।

वर्तमान मनुस्मृति याज्ञवल्क्य से बहुत प्राचीन है क्योंकि मनुस्मृति मे न्याय विधि सबधी बाते अपूर्ण है और याज्ञवल्क्य इस बात मे बहुत पूर्ण है याज्ञवल्क्य की तिथि कम से कम तीसरी शती है। अत मनुस्मृति को इससे बहुत पहले रचा जाना चाहिए था। मनु ने यवनों, कम्बोजो, शको, पहलवो एव चीनो के नाम लिये है। अतएव वे ई0 पू0 तीसरी शती से बहुत पहले के नही हो सकते। यवन, कम्बोज एव गाधार लोगो का वर्णन अशोक के पाचवे प्रस्तर लेख मे आ चुका है। वर्तमान मनुस्मृति गठन एव सिद्धान्तो में प्राचीन धर्मसूत्रो अर्थात गौतम, बौधायन एंव आपस्तम्ब के धर्मसूत्र से बहुत आगे है। अत निसदेह इसकी रचना धर्मसूत्रो के उपरात हुई है, स्पष्ट है कि मनुस्मृति की रचना ई0पू0 द्वितीय शती के बीच कभी हुई होगी।

वर्ण्य विषय·

मनुस्मृति में 12 अध्यायो तथा 2694 श्लोक है। इस रूप मे यह पुस्तक व्यापक वर्ण्य विष्य के प्रस्तुत कर जीवन के लगभग सभी पक्षो को समेट लेती है। सामान्य सासारिकता के मध्य जीवन यापन करते हुए सदाचार के माध्यम से मानव को ब्रह्मत्व पद का अधिकारी बना देने का श्रेय मनुस्मृति को ही है। आत्मज्ञान का इच्छुक साधक धर्म, अर्थ, काम के सेवन द्वारा अधर्म की निवृत्ति करता हुआ परम पुरूषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। भारत मे आदिकाल से धर्म, अर्थ, काम को पृथक कर देखने की जो परम्परा चली आ रही थी मनुस्मृति में उन तीनो को एक परिधि मे समाविष्ट कर समाज को उच्च आचरण की एक नई दिशा दी। अपनी विस्तृत सामग्री के संकलित कोश से मनुस्मृति (विदो के समान) आदेश नही उपदेश के माध्यम से मानवीय आचरण के धार्मिक, राजसिक एव सामाजिक तीनो पक्षो के शाश्वत विधि विधानो को उदभूत करती है। धर्मशास्त्र के अन्तर्गत सृष्टि की रूपरेखा धर्म की परिभाषा, धर्म के उपाददान, वेद स्मृति, साधुपुरूषों के आचार, आत्मतुष्टि, संस्कार, वर्णों के अधिकार, एंव कर्त्तव्य, पंचमहायज्ञ, प्रणव व्याहति, गायत्री, सन्ध्या, सत, रज,

तमगुणो का स्वरूप, दानस्तुति प्रायश्चित, विधि, भक्ष्याभक्ष्य नियम, कर्मों का स्वरूप, जीव पच्चमहाभूत, तपस्या व विद्या का महत्व, धर्मज्ञ के लक्षण आत्मज्ञान, निष्काम कर्म मोक्ष इत्यादि विषय विवेचित है। राज्य की शाति की स्थापना के लिए प्रजावत्सल राजा को आतरिक व्यवस्था सुचारू रखने का प्रयास करना चाहिए। इसके साथ ही बाह्य शत्रुओ से भी पूर्ण सावधान रहकर राज्य की रक्षा करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है। इस आधार पर राजशास्त्र को दो भागो मे बाटा जा सकता है- प्रथम के अन्तर्गत राज्य की परिभाषा तथा उत्पत्ति, राजा का परिचय, गुण, अवगुण शासनविधि, मत्रिपरिषद, राज्य सभा की योग्यता, सगठन एंव कार्य प्रणाली, दूत की पात्रता, दुर्ग, राजधानी, दण्डविधान, न्याय व्यवस्था, कर ग्रहण, कोश, ज्ञाता एव अज्ञात चोर, बदीगृह, इत्यादि विषय विशद वर्णित है। द्वितीय भाग के अन्तर्गत राजनीति का सामान्य लक्षण, शत्रु तथा मित्र से सजगता, संधि एव विग्रह, सेना, सैन्य-सचालन, आक्रमण, युद्ध नियम, साम, दान, दण्ड, भेद आदि कूटनीतिया समाविष्ट है। समाजशास्त्र के अन्तर्गत-विवाह, गृहस्थ जीवन, पति पत्नि के कर्त्तव्य, सम्बन्ध विच्छेद, सतान के प्रति अधिकार, ज्येष्ठ पुत्र, दत्तक पुत्र, पुत्री, उत्तराधिकार, स्त्रीधन, सम्पत्ति विभाजन, वसीयत द्यूतकर्म का निषेध आदि विषयो की व्याख्या है।

विषय क्षेत्र:

ब्राह्मणो के कर्त्तव्य[1], ब्राह्मण की उत्पत्ति[2], ब्राह्मणो की श्रेष्ठता[3], ब्राह्मणो के विशेषाधिकार- यथा ब्राह्मण वध को महापाप बताना[4], ब्राह्मण की ताडना को पाप बताया है।[5] ब्राह्मण से कठोर वचन कहने पर वर्णक्रम से दण्ड[6], ब्राह्मण पर राजा कभी क्रोध न करे[7], आपद काल मे भी ब्राह्मण को पवित्र बताना[8], इन विशेषाधिकारों की पराराष्ठा मनु के एक श्लोक[9] मे दिखाई पडती है। जिसमें उन्होने विधान किया है कि ब्राह्मण जो कहे उसे धर्म जाने।[10] इसके साथ ही मनु ने ब्राह्मणो के लिए शिक्षा, सस्कार, चरित्र की उच्चता पर अन्य वर्णों से ज्यादा जोर दिया है। मनु के अनुसार हजारो असंस्कारी ब्राह्मणों के एकत्र हो जाने पर भी सभा नहीं हो सकती है।[11] बिना शिक्षित ब्राह्मण आयोग्य माना गया।[12]

सामाजिक वर्णक्रम मे क्षत्रियो को दूसरा स्थान प्रदान किया गया है एव सभी वर्णों की रक्षा का भार उसके ऊपर सौपा गया।[13] इसके साथ ही उसे कुछ विशेषाधिकार भी प्रदान किये गये जैसे उन्हें कितने भी घृणित अपराध के लिए मृत्युदण्ड नही दिया जा सकता था।[14]

वैश्यो की उत्पत्ति[15] कार्य एव कर्त्तव्य[16], विशेषाधिकार[17] एव आपदकालीन धर्म[18] इत्यादि का उल्लेख मनुस्मृति मे विस्तृत रूप से मिलता है।

मनुस्मृति ने शूद्रो के ऊपर अनेक प्रकार की अपात्रताये लाद दी है। जैसे शूद्र स्पर्श से यज्ञ फलो का नाश होता है।[19] शूद्र यदि धर्मोपदेश करे तो मुख, कान मे तपाया हुआ तेल डाल दे,[20] शूद्र यदि द्विज से द्रोह करे तो जलते हुए दस अगुल लोहे की शलाका उसके मुंह मे डाली जाये।[21] शूद्र यदि ब्राह्मण या क्षत्रिय को पतित बताये तो उसकी जीभ काट ले[22], शूद्र जिस अग से द्विजाति को मारे, राजा उसका वही अग कटवा ले,[23] ब्राह्मण से अमर्यादित व्यवहार करने पर दण्ड[24] का विधान किया गया है। शूद्रो को दास बताया गया[25] साथ ही यह भी कहा गया कि शूद्र का निजधन कुछ नही है,[26] शूद्र की हत्या का प्रायश्चित मेढक, कुत्ते को मारने के बराबर था।[27] किन्तु इसके साथ ही शूद्र के लिए यह भी विधान किया गया था कि यदि शूद्र अच्छे सस्कारो से युक्त हो तब वह अपनी जाति से उत्तम हो जाता है।[28] एक स्थल[29] पर सस्कारी शूद्र को असस्कारी ब्राह्मण से उच्च बताया गया है।

मनुस्मृति मे वर्ण संकर की भर्त्सना की गई है।[30] राजा के कर्त्तव्यो मे वर्णाश्रम एव वर्णधर्म की रक्षा करना बताया गया है।[31] इसके साथ ही वर्ण सकर से उत्पन्न जातियो का भी विवरण दिया गया है।[32] अनुलोम एंव प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सतानो के अधिकारो एंव कर्त्तव्यो का उल्लेख मिलता है।[33] इसके साथ ही मनु ने यह भी विधान किया है कि वर्ण सकर से उत्पन्न संतान तप से प्रभाव से उच्च हो सकता है।[34] आरस[35], क्षेत्रज[36], कानीन[37] सहोढ[38], पुनर्भव[39] इत्यादि के अधिकारविषय मे विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

मनुस्मृति में स्त्रियों की स्थिति के विषय मे विशद वर्णन प्राप्त होता है। अनेक उद्धरणो से पता चलता है कि स्त्रियों को पुरूषों के समान किसी भी कार्य को करने की स्वतन्त्रता नही थी।[39A] स्त्रियों को

उनके पति वश मे रखे।[39B] स्त्रियो के चरित्र को मनु ने काफी विकृत बताया है। उन्हे कामी, क्रोधी, लालची एव झूठी, विश्वास न करने योग्य बताया गया है।[40] स्त्रियो को किसी के साक्षी होने के योग्य नही समझा गया है।[41] स्त्रियो का कर्त्तव्य सतानोत्पत्ति पालन, एव घर के कार्य करना बताया गया है।[43] इसके साथ ही स्त्रियो के आदर की बात भी कही गई है।[44] मनु का कथन है कि जहॉ नारी की पूजा होती है वहॉ लक्ष्मी का वास होता है।[45] धार्मिक कार्यो मे स्त्रियो की उपस्थिति आवश्यक थी। क्योकि बिना विवाह के पुरूष को अपूर्ण बताया गया है[46]। पुत्र उत्पन्न करने के कारण स्त्रियो को आदर योग्य माना गया है।[47]

मनुस्मृति मे स्त्रियो के लिए स्त्रीधन का प्रावधान करके उन्हे कुछ आर्थिक सुदृढता प्रदान की गई। इस स्त्रीधन में बधु बाधव की वर्जना की गई है।[48]

मनुस्मृति मे अन्य विविध सामाजिक आयामो, सस्कार[49], आश्रम[50], पुरूषार्थ[51], विवाह[52] इत्यादि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमे पंच महायज्ञ[53], तीन ऋण[54], धर्म की महत्ता[55], इत्यादि का उल्लेख भी मिलता है।

शिक्षा, गुरू एव विद्या की महत्ता पर कई स्थलो पर बल दिया गया है, जिससे लगता है कि तत्कालीन समाज मे गुरू तथा गुरू द्वारा प्रदत्त शिक्षा को उच्च स्थान प्राप्त था। गुरू की महत्ता के अनेक उद्धरण मिलते हैं।[56] गुरू को माता पिता से उच्च स्थान प्रदान किया गया है, मनु ने विधान किया है कि गुरू से आज्ञा लिये बिना अपने गुरू अर्थात् माता पिता आदि को प्रणाम न करे।[57] इसके साथ ही विद्या की महत्ता की भी चर्चा की गई है।[58] शिक्षा का महत्व द्वादश अध्याय के 114वे श्लोक से ज्ञात होता है जिसमे अवेदपाठी ब्राह्मण को भी सभा योग्य नही बताया गया।[59] साथ ही अशिक्षित ब्राह्मण को अयोग्य माना गया है।[60] मनुस्मृति तत्कालीन समाज मे कानून तथा व्यवस्था का सुव्यवस्थित चित्र प्रस्तुत करती है। उदाहरण स्वरूप - रिश्वत लेते पकडे जाने पर देश निकाला दिया जाने का प्रावधान किया गया है।[61] किसी कार्यवाही में साक्षी के झूठ बोलने की निंदा की गई है।[62] धर्मनिर्णय के समय झूठ बोलने पर नरक प्राप्त होने की बात कही गई है।[63] चोरों को दण्ड देना

राजा का कर्त्तव्य बताया गया है।[64] स्त्री की इच्छा के बिना उसके साथ समागमन पर दण्डस्वरूप मृत्युदण्ड का विधान निश्चित किया गया है।[65]

मनुस्मृति मे राजा की अवधारणा[66] स्पष्ट करते हुए राजा के कर्त्तव्यो का विवेचन किया गया है, जैसे राजा को ससार की रक्षा करनी चाहिए[67] राजा को वर्णाश्रम, वर्णधर्म की रक्षा करनी चाहिए।[68] राजा को पिता के समान कर ग्रहण करना चाहिए[69] राजा का धर्म युद्ध करना है[70] राजा रिश्वत लेते व्यक्ति को पकडे तो देश निकाल दे[71], चोरो को दण्ड देना राजा का कर्त्तव्य है।[72] राजा को कराधान थोडा लेना चाहिए[73], एक अन्य स्थल पर राजा को थोडा कर ग्रहण करने का विधान किया गया है, जैसे सूर्य नदियो का जल सोखता है,[74] राजद्रोही को राजा प्राणदण्ड दे[75], राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा की रक्षा करे[76], राजा देश को पीडा दे तो वह नष्ट हो जाता है।[77] राजा बालक हो तब वह देवता है[78]। यथा शक्ति युद्ध करने वाला राजा स्वर्ग लोक प्राप्त करता है।[79] इसके साथ ही मनुस्मृति मे राज्य के सात अंगो का भी उल्लेख मिलता है।[80] सब भूमि पर राजा का अधिकार माना गया था जिसके कारण पृथ्वी मे गडेधन का आधा हिस्सा राजा का होता था[81]। राज्य मे उत्पन्न होने वाले धान्य का कराधान 1/6, 1/8, 1/20वां हिस्सा राजा का होता था।[82] कारीगर एव शिल्पी अपना कर राजा के यहाँ एक दिन कार्य करके अदा करते है।[83] मनुस्मृति मे साधारण जीवन की नैतिकता का उच्च स्तर प्रस्तुत किया गया है। एक स्थल पर सदाचार की महत्ता का उल्लेख प्राप्त होता है[84], परस्त्रीगमन को बुराकर्म बताया गया है तप की महत्ता[86], माता पिता का ऋण[87], माँ की महत्ता[88], भाई की पत्नी की चरणों की वदना[89], धर्म की महत्ता[90], आश्रमो - ब्रह्मचर्य[91], गृहस्थाश्रम[92], गृहस्थ के कर्त्तव्य[93], वानप्रस्थाश्रम[94], सन्यासाश्रम[95] का उल्लेख मिलता है। इच्छा के विरूद्ध स्त्री से समागम करने पर प्राणदण्ड का उल्लेख मिलता है[96] जोकि तात्कालिक समाज का कठोर चरित्र प्रस्तुत करता है उत्तराधिकार[97] के विषय मे विस्तृत उल्लेख मिलता है। मद्य पीने वाले ब्राह्मण को शूद्र बताया गया है।[98] राजा को निर्देशित किया गया है कि राज्य मे जुए का खेलना एव समाहय राजा बंद कर दे।[99] मनु ने स्वर्ग का लोभ एंव खराब भविष्य का भय दिखाकर भी कुछ आदर्शों को स्थापित करने का प्रयास किया है, जैसे चारो वर्णों के लोग यदि अपना कार्य न

करे तो जन्मान्तर शत्रु के दास होते है[100] युद्ध से भागे पुरूष का पुण्य समाप्त हो जाता है,[101] यथाशक्ति युद्ध करने एव पीछे न हटने वाला राजा स्वर्ग लोक पाता है।[102]

मनुस्मृति अन्तिम मूल धर्मशास्त्र है, इसके बाद मूल रूप से कोई धर्मशास्त्र नही लिखा गया है, पूर्वमध्यकाल मे मनुस्मृति पर कई विद्वानो ने टीकाओ का प्रणयन किया, जिनमे मेधातिथि, गोविन्दराज एव कुल्लूकभट्ट प्रमुख है ।

मेधातिथि:

मेधातिथि मनुस्मृति की विस्तृत एव विद्वतापूर्ण व्याख्या की है। मेधातिथि को मनुस्मृति का सबसे प्राचीन भाष्यकार माना गया है। मेधातिथि के भाष्य की कई हस्तलिखित प्रतियो में पाये जाने वाले अध्यायो के अत मे एक श्लोक आता है जिसका अर्थ है कि सहारण के पुत्र मदन नामक राजा ने किसी देश से मेधातिथि की प्रतिया मंगा कर भाष्य का जीर्णोद्धार कराया। ब्यूहलर[103] के अनुसार मेधातिथि कश्मीरी या उत्तर भारत के रहने वाले थे, क्योंकि उनके भाष्य मे कश्मीर का बहुत वर्णन है।

मेधातिथि ने निम्नलिाति स्मृतिकारो की किसी न किसी बहाने चर्चा की है- गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, विष्णु, शंख, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, पराशर, बृहस्पति, कात्यायन आदि। मेधातिथि[104] ने बृहस्पति को वार्ता एंव राजनीति के लेखको मे गिना है। उशना एंव चाणक्य दण्डनीति राजनीति एव राजशासन के लेखको मे गिने गये है। कौटिल्य के ग्रथ से बहुत स्थानो पर उद्धरण लिये गये है। मेधातिथि ने असहाय एव अन्य स्मृति विवरणकारो के नाम लिये है। मेधातिथि ने पुराणो का उल्लेख किया है, उनके अनुसार व्यास ही पुराणों के लेखक है, और पुराणो में सृष्टि का विवरण पाया जाता है। मेधातिथि[105] ने मनु पर टीका करते हुए लिखा है कि पाचरात्र, निग्रन्थ (जैन एव पाशुपत) लोग आर्यों के समाज से बाहर के है।

मेधातिथि ने पूर्वमीमांसा का विशेष अध्ययन किया था, उनके भाष्य मे 'विधि' एंव 'अर्थवाद' नामक शब्द बहुधा आते है। जैमिनि सूत्रों का हवाला देकर मेधातिथि ने बहुत स्थानों पर मनु की व्याख्या की है। उन्होने शबरभाष्य से उद्धरण लिये हैं। उनके भाष्य[106] में कुमारिल का

नाम और उनकी उपाधि भट्टपाद का उल्लेख हुआ है। मेधातिथि ने कई स्थलो पर शकराचार्य के शरीरक भाष्य के मत का उद्घाटन किया है। किन्तु शकर की भाति मोक्ष का साधन केवल ज्ञान है, ऐसा नही माना है, प्रत्युत उन्होने ज्ञान एव कर्म दोनो को आवश्यक समझा है, इसका कारण मीमासा का प्रभाव है। मेधातिथि के भाष्यग्रथ से प्रकट होता है कि आज की ही मनुस्मृति इन के समय मे भी थी।

मनुस्मृति की व्याख्या करते हुए स्थान-स्थान पर मेधातिथि ने अपनी कृति स्मृतिविवेक से भी उद्धरण लिये है। स्मृतिविवेक मे सभवत पद्य ही थे। पराशरमाधवीय ने स्मृतिविवेक से बहुत उद्धरण लिये है। लोल्लट ने अपने 'श्राद्ध प्रकरण' ग्रथ मे मेधातिथि की चर्चा की है। तिथि-निर्णय सर्वसमुच्चय मे मेधातिथि के बहुत से श्लोक उद्धत है। विश्वेश्वर सरस्वती के यति धर्म सग्रह मे भी मेधातिथि का उल्लेख हुआ है। इन तथ्यो से स्पष्ट है कि मेधातिथि ने धर्म पर बहुत सी स्वतन्त्र बाते अपने किसी ग्रथ में लिख रखी थी, जो पर्याप्त प्रामाणिक हो चुकी थी, किन्तु यह ग्रंथ आज तक उपलब्ध नही हो सका है।

मेधातिथि ने असहाय एव कुमारिल के नाम लिये है और संभवत· शकर का मत भी उद्धत किया है अत. उनका समय 820 ई0 के बाद का ही कहा जा सकता है। मिताक्षरा ने उन्हें प्रामाणिक रूप मे ग्रहण किया है। अत· वे 1050 ई0 के पूर्व भी हुए होगे। मनु के अन्य व्याख्याकार कुल्लूकभट्ट ने मेधातिथि को गोविन्दराज 1050-1100 ई0 के बहुत पूर्व माना है। अत मेधातिथि को लगभग 9वी शती ई0 का माना जा सकता है।

गोविन्दराज

गोविन्दराज ने मनुटीका नामक अपने मनुस्मृति भाष्य[107] मे लिखा है कि उन्होने स्मृतिमजरी नामक एक स्वतन्त्र पुस्तक भी लिखी है। इस पुस्तक के कुछ अश आज उपलब्ध है। गोविन्दराज की जीवनी के विषय में उनकी कृतियों से प्रकाश पडता है। मनुस्मृति की टीका एंव स्मृतिमजरी में उन्हे गगा के किनारे रहने वाले नारायण के पुत्र माधव का पुत्र कहा गया है। कुछ लोगों ने इसी से बनारस के राजा गोविन्दचन्द्र से उनकी तुलना की है, किन्तु ये दोनो व्यक्ति एक नहीं थे क्योंकि राजा क्षत्रिय थे एंव गोविन्द राज ब्राहमण थे। गोविन्दराज ने

पुराणो, गृह्यसूत्रो, योगसूत्र आदि की चर्चा की है, उन्होने आन्ध्र जैसे म्लेच्छ देशो मे यज्ञो की मनाही की है, उन्होने मेधातिथि की भाति मोक्ष के लिए ज्ञान एव कर्म का सामजस्य चाहा है। कुल्लूकभट्ट ने मेधातिथि एव गोविन्दराज के भाष्यो से बहुत से उद्धरण लिये है। दायभाग मे गोविन्दराज की चर्चा है, गोविन्दराज की स्मृतचन्द्रिका मे धर्मशास्त्र संबधी काफी तथ्य आ गये है। कुल्लूकभट्ट ने मेधातिथि को गोविन्दराज से बहुत प्राचीन कहा है। मिताक्षरा ने मेधातिथि एव भोजदेव का उल्लेख तो किया है, किन्तु गोविन्दराज का नही। इससे सिद्ध होता है कि गोविन्दराज 1050 ई0 के उपरान्त ही उत्पन्न हुए होगे। अनिरूद्ध की हारलता (1160 ई0) मे गोविन्दराज की चर्चा हुई और वे विश्वरूप भोजदेव एंव कामधेनु की भांति प्रमाणिक ठहराये गये है। इससे स्पष्ट होता है कि गोविन्द राज 1125 ई0 के बाद नही हो सकते है। दायभाग ने गोविन्दाराज के मत का खण्डन किया है। जीमूतवाहन ने भोजदेव के एव विश्वरूप के साथ गोविन्द राज का भी हवाला दिया है इस प्रकार उपर्युक्त धर्मशास्त्र विदो के कालो को देखते हुए कहा जा सकता है कि गोविन्दराज 1050-1080 ई0 के मध्य मे कभी हुए होगे।

कुल्लूकभट्ट:

मनु पर जितने भाष्य हुए है, उनमे कुल्लूक की मन्वर्थमुक्तावली नामक टीका सर्वश्रेष्ठ है। इस के कई प्रकाशन भी हो चुके है। कुल्लूकभट्ट का भाष्य सक्षिप्त, स्पष्ट एंव उद्देश्यपूर्ण हैं। इन्होने मेधातिथि, गोविन्दराज के भाष्यो से उद्धरण लिये है, कही-कही इन भाष्यकारो की इन्होने कटु आलोचानाए भी की है। कुल्लूक ने निम्नलिखित लेखकों के नाम लिय है- गोविन्दराज, धरणीधर, भास्कर (विदान्तसूत्र के भाष्यकार) भोजदेव, मेधातिथि, वामन (काशिका के लेखक) भट्टवार्तिक कृत विश्वरूप। इन्होने अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। ये बगाल के बारेन्द्र कुल के नन्दननिवासी भट्टदिवाकर के पुत्र थे- इन्होने पण्डितो की संगति में काशी मे अपना भाष्य लिखा।

कुल्लूकभट्ट ने स्मृतिसागर नामक एक निबन्ध लिखा, जिसके केवल अशौच सागर एव विवादसागर नामक प्रकरणों के अंश अभी तक प्राप्त हो सके हैं। श्राद्धसागर में पूर्वमीमांसा संबधी विवेचना भी है। कुल्लूक ने लिखा है कि उन्होने अपने पिता के आदेश से विवाद सागर,

अशौच सागर एव श्राद्धसागर लिखे है। इनमे -महाभारत के प्रमुख उद्धरण है। महापुराणो, उपपुराणो, धर्मसूत्रो एव अन्य स्मृतियो की चर्चा यथास्थान हुई है। भोजदेव, हलायुध, जिकन, कामदेव, मेधातिथि शखधर आदि के नाम भी आये है।

कुल्लूक की तिथि निश्चित करना एक कठिन कार्य है। ब्यूहलर[108] एव चक्रवर्ती ने उन्हे 15वी शती मे रखा है । कुल्लूक ने भोजदेव, गोविन्दराज, कल्पतरू एव हलायुध की चर्चा की है, अत वे 1150 ई0 के बाद ही हुए होगे। रघुनन्दन ने अपने दायतत्व एव व्यवहारतत्व मे तथा वर्धमान ने अपने दण्डविवेक मे उनके मतों की चर्चा की है, अत कुल्लूक 13 ई0 के पूर्व हुए होगे। वे सभवत: 1150-1300 ई0 के बीच कभी हुए होगे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनु के पहले टीकाकार मेधातिथि 9वी शती ई0 से सम्बन्धित थे । गोविन्दराज का काल 11वी-12वी ई0 तथा कुल्लूकभट्ट का 12वी-13वी ई0 था । मनु के यह सभी टीकाकर उस विशेष कालवधि से सम्बन्धित थे जिसे इतिहासकारो के समान्यत पूर्वमध्यकाल की सस्था ही है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनु के पहले टीकाकार मेधातिथि 9वी शती ई से सम्बन्धित थे । गोविन्दराज का काल 11वी-12वी शती ई0 तथा कुल्लूकभट्ट का 12-13 वी .ई0 था । मनु के यह सभी टीकाकार उस विशेष कालावधि से सम्बन्धित थे जिसे इतिहासकारो ने सामान्यत. पूर्वध्याकाल की सज्ञा दी है।

(1) मनुस्मृति IV 15

(2) मनुस्मृति I 93

(3) तत्रैव I 99

(4) तत्रैव VIII 381

(5) तत्रैव IV 166

(6) तत्रैव VII 267

(7) तत्रैव IX 313

(8) तत्रैव X 103

(9) तत्रैव XII 108

(10) तत्रैव XII 108

(11) तत्रैव XII 114

(12) तत्रैव III 168

(13) तत्रैव

(14) तत्रैव

(15) तत्रैव I 93

(16) तत्रैव

(17) तत्रैव

(18) तत्रैव

(19) तत्रैव III 178

(20) तत्रैव VIII 272

(21) तत्रैव VIII 277

(22) तत्रैव VIII 279

(23) तत्रैव VIII 280

(24) तत्रैव VIII 282

(25) तत्रैव VIII 282

(26) तत्रैव VIII 413

(27) तत्रैव XI 131

(28) तत्रैव IX 335

(29) तत्रैव -

(30) तत्रैव X 102, VII 24

(31) तत्रैव VII 80

(32) तत्रैव

(33) तत्रैव

(34) तत्रैव X 51, 52

(35) तत्रैव IX 166

(36) तत्रैव IX 167

(37) तत्रैव IX 172

(38) तत्रैव IX 173

(39) तत्रैव IX 175

(39A) तत्रैव IX 173

(39B) तत्रैव IX 8

(40) तत्रैव IX 17

(41) तत्रैव VIII 77

(42) तत्रैव IX 14

(43) तत्रैव IX 27 43

(44) तत्रैव III 56. III 58

(45) तत्रैव V 155

(46) तत्रैव IX 26

(47) तत्रैव III 52

(48) तत्रैव IX 194

(49) तत्रैव II 278

(50) तत्रैव III 9-10

(51) तत्रैव

(52) तत्रैव III 12-13

(53) तत्रैव

(54) तत्रैव II 117

(55) तत्रैव IV 239 241, 242

(56) तत्रैव II 117

(57) तत्रैव II 117

(58) तत्रैव II 196

(59) तत्रैव XII 114

(60) तत्रैव III 188

(61) तत्रैव VII 124

(62) तत्रैव VIII 75

(63) तत्रैव VIII 94

(64) तत्रैव VIII 302

(65) तत्रैव

(66) तत्रैव V 96

(67) तत्रैव VII 2

(68) तत्रैव VII 35

(69) तत्रैव VII 80

(70) तत्रैव VII 87

(71) तत्रैव IX 231

(72) तत्रैव VIII 302

(73) तत्रैव VII 129

(74) तत्रैव IX 305

(75) तत्रैव IX 275

(76) तत्रैव VII 106

(77) तत्रैव VII 112

(78) तत्रैव VII 81

(79) तत्रैव VIII 89

(80) तत्रैव IX 294

(81) तत्रैव VIII 38

(82) तत्रैव VII 130

(83) तत्रैव VII 138

(84) तत्रैव IV 156

(85) तत्रैव IV 134

(86) तत्रैव IV 190

(87) तत्रैव II 227

(88) तत्रैव II 145

(89) तत्रैव II 132

(90) तत्रैव IV 239, 241, 242

(91) तत्रैव IV 1

(92) तत्रैव V 1

(93) तत्रैव V 7-8

(94) तत्रैव VI 1, 2, 23

(95) तत्रैव VI 52, 57, 33

(96) तत्रैव VIII 364

(97) तत्रैव IX

(98) तत्रैव XI 97

(99) तत्रैव VII, VIII

(100) तत्रैव

(101) तत्रैव VII 95

(102) तत्रैव VII 89

(103) ब्यूहलर, लाइफ ऑफ हेमचन्द्र

(104) मेधातिथि का भाष्य

(105) मेधातिथि मनु पर II 6

(106) मेधातिथि मनु पर II 18

(107) गोविन्दराज का मनु भाष्य

(108) ब्यूहलर लाइफ . . . .

सामाजिक स्थिति

किसी भी समाज की स्थिति के अध्ययन के लिए समाज के विभिन्न घटको वर्ण व्यवस्था, जाति प्रथा, स्त्रियो की स्थिति, शिक्षा का स्तर एव अवसर, आश्रम, सस्कार, पुरूषार्थ, नैतिक स्तर, विवाह इत्यादी का सूक्ष्मता से निरिक्षण करना पडता है । किसी भी राज्य या देश की सामाजिक स्थिति के अध्ययन से देया या राज्य मे व्यक्तियो के पारस्परिक सबध एव स्त्रियो की स्थिति वर्ण एव जाति व्यवस्था के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समाज मे रूढियो का विकास हो रहा है या समाज खुले रूप मे विकास मार्ग पर अग्रसरित हो रहा है । आश्रम, सस्कार पुरूषार्थ के अध्ययन से पता चलता है कि व्यक्ति का नैतिक स्तर कैसा है, व्यक्ति विशेष की आत्माशक्ति एव आत्मविश्वास से ही समाज के आत्म नियत्रण का निर्माण होता है । जिससे एक सुसगठित एवं सुव्यवस्थित समाज बनाने मे सहायता मिलती है । व्यक्तियो के रहनसहन के स्तर एव खानपान से व्यक्ति की मनोदशा प्रभावित होती है पूर्वमध्यकालीन समाज मे अस्थिर राजनैतिक स्थिति का प्रभाव समाज पर पड रहा था । साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यों मे विभक्त हो गया था, छोटे-छोटे सामन्तो का स्वार्थ भी इसी मे पूर्ण हो रहा था कि यही स्थिति बनी रही, चिससे वर्ण व्यवस्था एव जातिप्रथा में कठोरता बढ रही थी । आश्रम, सस्कार एव पुरूषार्थ के पालन मे भी शिथिलता देखने को मिलती है । मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि समाज पतन की ओर बढ रहा था ।

जाति व्यवस्था:

जाति व्यवस्था के प्रारभिक स्वरूप एव इसके उद्‌भव के कारणो का प्रश्न एक विस्तृत विश्लेषण का विषय रहा है तथा इसके समाधान के लिए अनेक सभावनायें व्यक्त की जा सकती है। हट्‌टन[1] जैसे समाजशास्त्री ने इस प्रश्न के उत्तर मे 15 सभावनाये व्यक्त की है जिन्होने जाति प्रथा की उत्पत्ति में सहायता प्रदान की होगी, इसके समर्थन में अन्य समाजशास्त्रियों एवं इतिहासकारो ने अपने मत प्रस्तुत किये हैं. जिनमे से नेसफील्ड[2], राइसले[3], होकार्ट[4], इबस्टन[5], घुर्ये[6], केतकर[7], मजूमदार[8] आदि प्रमुख है।

रामशरण शर्मा[9] का मत है कि अपनी प्राकृतिक प्रवृत्ति और प्रतिभा के अनुरूप सम्पूर्ण मानव समाज चार वर्गो मे विभक्त है। कुछ लोगो मे उत्तम आध्यात्मिक तथा बौद्धिक प्रतिभाये है कुछ लोग युद्ध करने की क्षमता रखते है, कुछ उत्पादन कार्य मे योग्य है और तदनुसार वे विभिन्न श्रेणी मे रखे गये है, अतएव वर्णव्यवस्था मानव समाज मे विद्यमान स्वाभाविक एव सहजगुणो पर आधारित है। इस समय कोई भी कार्य उच्च या निम्न की भावना से प्रभावित नही था, और अपनी निर्धारित श्रेणी के कार्य मे विशिष्ठता होने के कारण, धीरे-धीरे कठोरता ने जन्म लेना शुरू कर दिया।

वर्ण पर आधारित समाज के विभाजन का एक कारण तत्कालीन जीवन की अन्तहर्निहित चिन्तना मे भी खोजा जा सकता है। इसी दर्शन से अनुप्राणित होकर प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण के अन्तर्गत रहकर निर्दिष्ट सामाजिक व्यवस्था का अनुपालन करता था। इस दर्शन के मूल मे मोक्ष प्राप्ति का लोभ है। भारतीय जीवन मे मोक्ष प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करने, समाज के प्रति कर्त्तव्यों का निर्वाह करने तथा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वो का पालन करने से मोक्ष प्राप्ति संभव मानी गई। अपने वर्ण के सामाजिक एव धार्मिक कर्मो को सम्पन्न करना ही वर्ण धर्म था, और इस धर्म की पूर्ति से ही मोक्ष प्राप्ति सभव थी। वर्ण व्यवस्था के मूल मे यह भी चिन्तना थी कि विभिन्न वर्ग अपनी-अपनी प्रतिस्पर्धा एव विरोध को समाप्त करके निश्चित कार्यो को करते हुए अपने कर्त्तव्यो का पालन करें। प्रत्येक वर्ग के कार्य निश्चित हो जाने के कारण उनके मध्य वैमनस्य का कम हो जाना स्वाभाविक ही था।

जातिव्यवस्था की उत्पत्ति के लिए कुछ भौगोलिक, जैसे अकेला उपमहाद्वीप होने के कारण एवं पुन राज्यों मे बंटा होने के कारण, ऐतिहासिक - जैसे समय-समय पर बाहृय जातियो का आक्रमण एव पुन उनका यहीं बस जाना, यहाॅ की प्राचीन जातियो के पुराने पेशे और सबकी भिन्न संस्कृति तथा समाजशास्त्रीय कारण - जैसे - मात्रृक एव पैत्रृक पृष्ठभूमि का भिन्न होना, कबीले का माना, टोटमवाद, टैबू आदि महत्वपूर्ण कारण माने गये है। क्रोबर[10] इस सबंध मे मानव की एक

स्वाभाविक प्रवृति की ओर ध्यान आकृष्ट कराते है कि व्यक्ति स्वाभाविक रूप से अलग रहने की भावना रखता है।

वर्णव्यवस्था के विकासक्रम पर दृष्टि डाले तो इसका प्रारम्भिक चरण ऋग्वैदिक युग मे दिखाई पडता है जब वर्ण शब्द का प्रयोग त्वचा के रग के रूप मे किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य श्वेत वर्ण के थे एव यहॉ के मूल निवासी अनार्य श्याम वर्ण के थे। समाज के विभाजन का प्रारम्भ आर्यो द्वारा अनार्यो पर विजय से प्रारम्भ होता है। यहॉ के मूल निवासी अनार्य, जिन्हे समय-समय पर दास या दस्यु की सज्ञा भी दी जाती है; को आर्यो ने जीतकर गुलामो या दासो जैसा व्यवहार करना प्रारम्भ किया। कबीले का प्रमुख एव पुरोहित उच्च माने गये जोकि स्वाभाविक रूप से सामान्य जनता की कीमत पर शक्तिसम्पन्न हो रहे थे। इस प्रकार समाज धीरे-धीरे तीन मुख्य वर्गो - सैनिक, पुजारी एव साधारण जन मे बट गया।[11] ऋग्वैदिक काल के अत मे चौथे वर्ग शूद्र का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के 10वे मण्डल[12] में यह उल्लेख प्राप्त है एवं इस मण्डल को बाद का क्षेपक माना जाता है। ऋग्वैदिक काल मे यह विभाजन पेशे पर आधारित था, इस अध्याय मे ही सर्वप्रथम चारो वर्णो का उल्लेख प्राप्त होता है।[13]

उत्तरवैदिक काल मे समाज चार वर्णो मे विभाजित हो चुका था - ब्राह्मण, राजन्य या क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र । ब्राह्मण वर्ण - ऋग्वैदिक काल का पुजारी वर्ग था, जो अब अपने धार्मिक कर्मकाण्ड के कारण प्रमुखता प्राप्त कर रहा था। राजन्य या क्षत्रिय ऋग्वैदिक काल के सैनिक से विकसित हुआ था जिस का कार्य समाज की रक्षा करना था, सामान्य जन विश या वैश्य कहलाये, जबकि वर्ण व्यवस्था मे सबसे नीचे शूद्रो या अनार्यो को स्थान मिला।

जाति व्यवस्था, का जोकि वर्ण व्यवस्था से भिन्न है;[14] का वैदिक साहित्य मे कोई उल्लेख नहीं मिलता है। यह सर्वप्रथम सूत्रकाल मे दिखाई पडती है। सर्वप्रथम गौतम[15] एव वशिष्ट[16] के धर्मसूत्रों में विभिन्न वर्णो के सदस्यो के मध्य विवाह एवं अन्य प्रकार के मिश्रण से कुछ जातियों की उत्पत्ति की बात की गई है। यद्यपि धर्मसूत्रो में भी जातिशब्द का प्रयोग मिश्रित जाति के लिए किया गया है, जबकि निरूक्त[17] मे कृष्ण जातीय एवं ब्रह्म जातियों का उल्लेख मिलता है। पाणिनी के अष्टाध्यायी[18]

मे ज्ञात होता है कि धीरे-धीरे चारो वर्ण जातियो के रूप मे विकसित हो गये ।[19]

मनुस्मृति[20] मे जाति प्रथा की उत्पत्ति दैवीय आधार पर बताई गई है । भगवतगीता के अनुसार वर्ण व्यवस्था का आधार व्यक्ति विशेष की क्रिया एव बौद्धिक आधार था। जातक एव यूनानी साहित्य से पता चलता है कि एक सामान्य नियम के अनुसार प्रत्येक जाति अपने निर्धारित पेशो को अपनाने को बाध्य थी जबकि इनमे निर्धारित पेशो को न अपनाने के उदाहरण दिखाई पडते है।[21] इस प्रकार जहाँ एक ओर धर्मसूत्र जाति व्यवस्था को व्यवस्थित करने का एव चातुर्वण्य व्यवस्था के साचे मे बैठाने का प्रयास कर रहे थे दूसरी तरफ बौद्ध एव जैन बढती हुई जाति व्यवस्थ को रोकने मे सलग्न थे।

गुप्तोत्तरकाल मे कुछ परिस्थितियाँ ऐसी पैदा हो गई थीं जिन्होने जाति व्यवस्था की कठोरता को बढाने में योगदान दिया। हूण आक्रमण के परिणामस्वरूप गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ, जिससे राजनैतिक अस्थिरता एव अधकार पूर्ण युग अस्तित्व मे आया। कल्हण की राजतरंगिणी[22] मे हूणों के आक्रमण का प्रभाव कश्मीर पर स्पष्ट दिखाई पडता है । मिहिर कुल[23] का भी एक उद्धरण प्राप्त होता है कि कैसे धार्मिक कार्यो की चेतना आर्यो की भूमि पर स्थापित की गई है। उत्तरभारत में भी लगभग ऐसी ही परिस्थितियो बनी हुई थीं क्योंकि यह भी विदेशी आक्रमण एव राजनैतिक अस्थिरता से घिरा हुआ था। ऐसी अवस्था मे जाति के कर्त्तव्यो को मजबूत करने एव विदेशियों को अपने मे समाहित करने की आवश्यकता महसूस की गई । प्राचीन काल से ही वर्णाश्रम धर्म को काफी महत्वपूर्ण माना गया है। धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के समय से ही इसके पालन पर जोर दिया जा रहा था। इसके कुछ अभिलेखीय प्रमाण भी प्राप्त होते है जैसे द्वितीयशती में सातवाहन राजा वशिष्ठी पुत्र पुलुमावी ने अपने अभिलेख[24] मे वर्णाश्रम धर्म के पालन पर जोर दिया है एव स्वंय को इसका संरक्षक घोषित किया था। गुप्तोत्तर काल में पुन: ऐसे उदाहरण दिखाई पडने लगते है जब यशोधर्मन[25] अपने अभिलेख में वर्णक्रम को सुव्यवस्थित करने एव ऊपर उठने का दावा करता है। हर्षवर्द्धन[26] की मुद्रा पर लिखे लेख से पता चलता है कि प्रभाकरवर्द्धन ने जाति एवं आश्रम नियमों को स्थापित किया था।

हर्षचरित[27] से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण जनपद वर्ण सकर से मुक्त था नालन्दा से प्राप्त एक मिट्टी की मुद्रा से भी पता चलता है कि मौखरि साम्राज्य के प्रारम्भिक राजा महाराजा हरिवर्मा ने भी ऐसा कार्य किया था।

वलभी के शिलादित्य II[28] (671ई0) के ताम्र अभिलेख से पता चलता है कि वह वर्ण एव आश्रम के धर्म को स्थापित करने मे दूसरा मनु था। लगभग ऐसी ही प्रशसा इसी वश के राजा ध्रुवसेन की भी की गई है। गुर्जर राजा जयभट्ट III[29] के एक भूमिअनुदान से ज्ञात होता है कि दद् जो इस वश के सस्थापको मे एक था, ने वर्णाश्रम धर्म को मनु की आज्ञा मानकर उसको पुन स्थापित किया कामरूप के वर्मन राजा[30] (7-8वीं शती) ने भी वर्णाश्रम धर्म को ऊपर उठाया। दण्डिन के दशकुमार चरित[31] मे राजा पुण्यवर्मन का वर्णन चारो वर्णो के निर्माणकर्त्ता के रूप मे किया गया है जैसा मनु ने बताया था।

इस प्रकार वर्णव्यवस्था को पुन. स्थापित करने कार्य, जोकि यवन-शक आक्रमण से अव्यवस्थित हो गया था, एक पवित्र कार्य माना जाने लगा था। धनपाल की तिलकमजरी[32] (11वी शती) मे सार्वभौम मेघवाहन को वर्णाश्रम धर्म व्यवस्थित करने का श्रेय दिया गया है। राजतरगिणी[33] में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि राज्य जाति व्यवस्था को व्यवस्थित करने का प्रयास कर रहा था। नैषधचरित मे राजा नल कहते है कि वे जाति धर्म के मार्ग से कभी विचलित. नही हुए इसलिए उन्हे ईश्वर का पवित्र आर्शीवाद प्राप्त था।

चातुर्वण्य व्यवस्था को बनाये रखने एव व्यस्थित रखने के प्रयासो की तीव्रता का दौर, जोकि गुप्त साम्राज्य के पतन एव बाह्य आक्रमण के परिणाम स्वरूप प्रारम्भ हुआ था. यह पूर्वमध्यकाल तक चलता रहा। इस समय राजनीतिक स्थिति सामन्तों के हाथो में आ चुकी थी एव राज्य छोटे-छोटे राज्यों मे बट गया था, ऐसी परिस्थितियों मे यह स्वाभाविक था कि लोग स्वार्थवश वर्ण व्यवस्था कायम रखने पर जोर देते, क्योकि छोटे-छोटे सामन्ती राज्यों के मध्य लगातार युद्ध होते रहते थे, मुस्लिम आक्रमण, बौद्ध धर्म के पतन के बाद उदित तांत्रिक पथ जो जाति प्रथा पर जोर देते थे।

जाति व्यवस्था में बढती कठोरता छूतपात खानपान एवं विवाह के संबंध में दिखाई पड़ती है। 11वीं शती में अलबरूनी ने पाया कि हिन्दू

समाज मे जाति व्यवस्था ने समाज मे गहरी जडे जमा ली थी। विभिन्न जातियो ने सकरे घेरे बना लिये थे और अलगावाद की प्रवृत्ति ने ऐसा वातावरण बना दिया था कि एक जाति वर्ग के लोग दूसरी जाति की के लोगो को मूर्ख समझते थे।[34] विभिन्न उपजातियों की उपस्थिति ने सामाजिक सबधो के घेरे को ओर सकरा बना दिया था, इस युग मे अन्तर्जातीय विवाह प्रचलन मे नही थे। ८वी शती तक कुमारिल के तन्त्रवार्तिक[35] से पता चलता है कि लोग सामान्यतौर पर अपवित्र होने के भय के बिना मित्रो एव सम्बन्धियो से भोजन इत्यादि ले लेते थे किन्तु पवित्रता एव छूतपात की विचारधारा के कारण साथ मे भोजन करने की प्रथा लगभग समाप्त हो गई थी।

इसके ठीक विपरीत समाज मे कुछ अपवाद भी उपस्थित थे, जो जाति व्यवस्था मे कुछ उदारता की तरफ सकेत कर रहे थे। 11वी शती का एक जैन अध्यापक अमितगति अपनी 'धर्मपरीक्षा'[36] में कहता है कि यह अपना व्यक्तिगत व्यवहार है जिससे जाति निश्चित होती है। ८वी शती के गुर्जर प्रतिहार[37] अभिलेख कलियुग के प्रभाव के कारण वर्णाश्रम धर्म को व्यवस्थान्मूलित बताता है।

9वी शती में शकराचार्य[38] वर्ण एव आश्रम धर्म को अव्यवस्थित स्थिति में बताते है। 11वी शती मे धनपाल[39] को युग का 'वर्णकार विप्लव' कहा गया है। इसी स्थिति को स्पष्ट करते हुए क्षेमेन्द्र[40] भी लिखते है कि चातुर्वण्य का क्रम अव्यवस्थित हो गया था जो गिरावट का गम्भीर चिन्ह था, जिसमें कलियुग का समाज गिरने जा रहा था। वत्सराज[41] (12वी शती) भी बताता है कि शिव के क्रोध के कारण जातिक्रम अव्यवस्थित हो गया था। इस प्रकार पूर्वमध्यकाल मे वर्णव्यवस्था की पुनर्स्थापना पर बल दिया गया।

जाति व्यवस्था के नियमों मे शिथिलता मेघातिथि के उद्धरणो मे भी दिखाई पडती है। मेघातिथि[42] अनुलोम एव प्रतिलोम विवाह पर अपने परिवर्तित विचार प्रस्तुत करते है। "यद्यपि अनुलोमों मे भी वर्णसंकरता पाई जाती हैं, किन्तु वे अपनी माता की जाति के विशेष अधिकारो को प्राप्त कर लेते है जबकि मनुस्मृति[43] मे माता एव पिता दोनो से निम्न जाति के अधिकार उसे प्राप्त होते थे। इस प्रकार यह तथ्य जाति प्रथा में ढीलेपन की प्रदर्शित करता है।

एक अन्य उद्धरण से भी जाति प्रथा की कठोरता मे कमी की ओर सकेत मिलता है। मनु[44] ने जात्युत्कर्ष नामक एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। गौतम[45] एव याज्ञवल्क्य[46] ने भी इस सिद्धान्त से सबधित विचार प्रकट किये है। मनु[47] के मतानुसार जब कोई ब्राह्मण किसी शूद्र नारी से विवाह करता है तो उससे उत्पन्न कन्या पारशव कहलाती है और यदि वह पारशव लडकी किसी ब्राह्मण से विवाह करती है और पुन इसी सम्मिलन से उत्पन्न लडकी किसी ब्राह्मण से विवाहित होती है तो इस प्रकार सातवी पीढी मे पुत्र शूद्र हो जाता है, उसे जात्पकर्ष कहते है।

मनु के टीकाकारो ने जाति के उत्कर्ष एव अपकर्ष के विषय मे अवधि कम कर दी है। मेधातिथि[48] के अनुसार पाचवी पीढी मे जात्युत्कर्ष सभव है इसी प्रकार जात्यपकर्ष के लिए भी पाच पीढियॉ ही पर्याप्त है। इस प्रकार जाति उत्कर्ष एव जाति अपकर्ष को मेधातिथि ने जातिव्यवस्था मे ढीलेपन के रूप मे प्रस्तुत किया।

याज्ञवल्क्य[49] ने जात्युत्कर्ष एव जात्यपकर्ष के दो प्रकार बताये है जिनमे एक तो विवाह (मनु एव गौतम के समान) से उत्पन्न है और दूसरा व्यवसाय से। यह जानना चाहिए कि सातवी एव पाचवी पीढी में जात्युत्कर्ष होता है, यदि व्यवसाय मे विपरीतता पाई जाती है, तो उसमें भी वर्ण के समान ही सातवी एवं पाचवी पीढी मे जात्युत्कर्ष पाया जाता है। मेधातिथि[50] ने इसे इस प्रकार समझाया है- यदि कोई ब्राह्मण शूद्र से विवाह करे और उससे कन्या उत्पन्न हो तो वह कन्या निषादी कही जायेगी और यदि यह निषादी एक ब्राह्मण से विवाहित होती है और पुत्री उत्पन्न करती है और वह पुत्री एक ब्राह्मण से विवाहित होती है और यह क्रम छः पीढियो तक चलता रहा तो छठी का बच्चा सातवीं पीढी मे आकर ब्राह्मण हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन मे समय के साथ-साथ दो परिवर्तन देखने को मिलते हैं प्रथम अब वर्णसकरता को संभवत: उतनी हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था जितना कि मनुस्मृति के काल में क्योंकि मनुस्मृति में जहॉ जात्युत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष के लिए सात पीढियो का समय लगता था वहीं यह घटकर पांचवी पीढी पर आ गया, इससे स्पष्ट होता है कि वर्णसंकरता के प्रति दृष्टिकोण में कुछ लचीलापन आ गया था।

द्वितीय अब जाति को जन्नना दृष्टि मे न देखकर व्यवसाय की दृष्टि से भी देखा जाने लगा था। यह इसयुग की नई विशेषता थी कि जाति व्यवसाय से निर्धारित हो तथा इस तरह से निर्धारित जाति के लिए अलग नियम विशेष बने थे। इस तरह के विधानो से जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था की दृढताये पर्याप्त मात्रा मे शिथिल हो जाती है किन्तु यह प्रश्न अवश्य उठाया जाता रहा होगा कि क्या वास्तविक जीवन मे जात्युत्कर्ष सभव रहा होगा क्योकि पाच पीढियो का लेखा जोखा रखना असंभव तो नही किन्तु दुरूह कार्य अवश्य रहा होगा।

पूर्वमध्यकाल की जातिव्यवस्था मे कई विभिन्नताये पाई जाती है। प्राचीन काल से ब्राह्मण गोत्र प्रवर एव शाखा के आधार पर विभिन्न भागो मे विभाजित होते थे, जिसकी पुष्टि तत्कालीन अभिलेखीय[51] प्रमाणो से होती है।

लक्ष्मीधर[52] ने देवल[53] का उद्धरण देते हुए वेदों के पढने की सीमा, निर्धारित कर्त्तव्यो को करने एव नैतिक चरित्र के स्तर के आधार पर ब्राह्मणो को आठ स्तरो मे विभाजित किया है। मिताक्षरा[54] ने पेशे एव कर्त्तव्यो के स्तर के आधार पर ब्राह्मणो की दस श्रेणियॉ बताई है। ये इस प्रकार है - देव, मुनी, द्विज, राजा, वैश्य, शूद्र, मरजरा, जगली पशु, म्लेच्छ, चण्डाल। जबकि अत्रिस्मृति[55] के अनुसार ब्रह्मक्षत्र-सैनिक ब्राह्मण, निषाद ब्राह्मण जोकि चोर, लुटेरा या पीठ में छूरा भोकने वाला, मास एवं मछली पसद करने वाला, राजा ब्राह्मण एव मरजरा ब्राह्मण का स्थान ले चुका था।

इन्द्र-III के काल के राष्ट्रकूट अभिलेख[56] से उत्तर भारत के ब्राह्मणो के पाच वर्गो का पता चलता है । ये ब्राह्मणों के पाच वर्ग इस प्रकार है - सारस्वत (सरस्वती नदी का क्षेत्र), कान्यकुब्ज (कन्नौज का क्षेत्र), उत्कल (उडीसा), मैथिल (उत्तरी बिहार का क्षेत्र) एव गौड।[57] इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में ब्राह्मणो मे जहॉ काफी विभाजन हो गया था वही इनमे स्थानीयता भी आ गई थी, इन्हे स्थान विशेष के नाम से जाना जाने लगा था।

पूर्व मध्यकाल मे राजपूतों या राजपूत्रों का उदय एक महत्वपूर्ण घटना है। जिन्होंने वर्णक्रम में अपना उच्चा स्थान भी बना लिया था।[58] 7वीं-8वीं शती से ही राजपूतो के अस्तित्व का प्रारंभ[59] होता

है जोकि पूर्व मध्यकाल तक आते-आते 36 गोत्रो तक पहुँच गया।[60] टॉड[61] एव क्रुक[62] ने राजपूतो को विदेशी उत्पत्ति का माना है, इनका मत है कि मध्य एशिया से आई सीथियन जाति ही राजपूत है जोकि प्राचीनकाल मे बडी सख्या मे भारत आये थे। स्मिथ[63] ने राजपूतो - प्रतिहार, चौहान, परमार, चालुक्य को पश्चिमोत्तर क्षेत्र का एक गोत्र बताया है जोकि शक एव हूण - विदेशी आक्रमणकारियो के वशज है। भण्डारकर[64] ने अग्निकुल के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए राजपूतो को विदेशी उत्पत्ति का बताया है।

सी0वी0 वैद्य[65] ने राजपूतो की विदेशी उत्पत्ति को न मानते हुए, उन्हे वैदिक आर्यो की सबसे लडाकू जाति एव शुद्ध क्षत्रिय बताया है। जी0एच0 ओझा[66] ने विदेशी उत्पत्ति एव देसी मूल के मध्य मार्ग खोजने का प्रयास किया।

पूर्व मध्यकाल मे वैश्य, क्षेत्र विशेष जिससे वे सबध रखते थे एवं अपने व्यापार के आधार पर बहुत सी शाखाओ मे विभाजित हो गये थे। जैन-पुस्तक-प्रशस्ति सग्रह[67] मे गुजरात एवं राजस्थान के वैश्यो की विभिन्न शाखाओ का उल्लेख मिलता है। ये है - श्रीमाल, प्रागवत, उपकेश, धारकट्ट, पालीवाल, मोध, गुर्जर, नागर, दिसावल एव दुम्बद। 13वी शती के एक अभिलेख[68] से इन शाखाओ के पुन: उपशाखाओ में विभाजित होने का प्रमाण मिलता है। इस अभिलेख मे अम्बाई गोत्र के सतान एव प्रागवत (आधुनिक पोडवाल) के श्रेष्ठिन (बैकर) का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार उमेशवाल (आधुनिक ओसवाल) का भी नामोल्लेख प्राप्त होता है।

हेमचन्द्र, पूर्व मध्यकाल के प्रसिद्ध, जैन आचार्य, वैश्यों के मोध वश से सबध रखते थे।[70] यह नाम अन्हिलवाड के दक्षिण मे स्थित प्राचीन कस्बे मोढेरा से लिया गया है।

कभी-कभी वैश्यो को उनके व्यापार विशेष के अनुसार पहचाना जाता था जैसे - सोने का व्यापार - सौवर्णिक[72], औषधियो का विक्रेता औषधिक[73] ।

पूर्व मध्यकाल में शूद्र वर्ग में भी विभिन्न वर्गो के लोग सम्मिलित थे, जिनमें कृषक, मजदूर एव खेती करने वाले किसान,

कारीगर, शिल्पकार, फेरी वाले मजदूर नौकर देखभाल करने वालो का भी बडा वर्ग था। जोकि कई जाति समूहो मे विभाजित हो गये थे।

अभिधानचितामणि[74] हेमचन्द्र की देसीनाममाला[75] एव यादवप्रकाश की वैजयन्ती[76] से शूद्रो की मुख्य जातियो एव पेशे पर आधारित वर्गो का सकेत मिलता है[77] - जिनमे कारीगर[78], लुहार, प्रस्तरकारक, कुम्हार, जुलाहे, बढई, मोची, तौलिक, ईट बनाने वाले, सुनार, ताम्रकार, पेटर, कहार[79], प्लास्टर करने वाला, टेलर, धोबी, मदिरा विक्रेता एव माला बनाने वाले[80], मछुआरे, करतब दिखाने वाला, फेरी वाला[81], शिकारी, चडाल, नर्तक, अभिनेता, बासुरी वादक, तबला बजाने वाला नौकर, भृत्य एव विभिन्न प्रकार का कार्य करने वाले इत्यादि सम्मलित थे।

इस प्रकार सभी वर्णो मे विभिन्न उपजातियो का तेजी से विकास हो रहा था, जिसके फलस्वरूप शासक एव शासित एक छोटे वर्ग के रूप मे सीमित होते जा रहे थे, स्थानीयता बढ रही थी। संभवत इसी कारण क्षेत्रो एव पेशो के आधार पर जातियो का उपजातियों मे विभाजन हो रहा था।

पूर्व मध्यकाल मे विभिन्न प्रकार की मिश्रित जातियो की उत्पत्ति भी एक महत्वपूर्ण विशेषता है, इनकी सख्या में अधिकता मुख्य कारण अब वर्णसकरण न होकर विभिन्न जातियो की उपजातियो के सकरण से उत्पन्न होना था। ह्वेनसाग[82] एव शुक्रनीतिसार[83] के अनुसार मिश्रित जातियो की सख्या गणना से परे थी । मेधातिथि[84] ने लिखा है कि - 60 मिश्रित जातियॉ है, इनसे तथा चार वर्णो के पारस्परिक सम्मिलन से बहुभेदी उपजातियो बनती चली गई है।

<u>आहिण्डिक</u>- मनु[85] के अनुसार यह निषाद पुरूष एवं वैदेही नारी की संतान है अर्थात् दोहरी प्रतिलोम जाति का है। मनु[86] ने इसे ही चर्मकार का कार्य करने के कारण कारावर कहा है। कुल्लूकभट्ट[87] ने उशना के मत का उल्लेख करते हुई इसे बंदीगृह मे आघ्रमको से बंदियों की रक्षा करने वाला कहा है।

<u>कैवर्त</u>- आसाम की एक घाटी मे कैवर्त-नामक एक परिगणित जाति है। मनु[88] ने कैवर्त को निषाद एव आयोगव की सतान माना है। इसे ही मनु ने भार्गव एव दास भी कहा है, कैवर्त लोग नौकावृत्ति करते है। शकराचार्य[89] ने दास एव कैवर्त को समान माना है जातको में कैवर्त को केवत (केवट) कहा गया है। मेधातिथि[90] ने इसे मिश्रित जाति कहा है।

<u>चून्चु</u>- मनु[91] के अनुसार मेद, आन्ध्र, चून्चु एव मदगु की वृत्ति है जगली पशुओ को मारना। कुल्लूकभट्ट[92] ने चून्चु को ब्राह्मण एव वैदेहक नारी की सतान कहा है।

<u>बर्बर</u>- मेधातिथि[93] ने बर्बरो को 'सकीर्णयोनि' कहा है। महाभारत[94] मे बर्बरो को शक, शबर, यवन, पहलब आदि अनार्य जातियो मे गिना गया है।

<u>मद्गु</u>- मनु[95] के अनुसार यह जगली पशुओ को मारकर अपनी आजीविका चलाता है। कुल्लूकभट्ट[96] ने मनु के इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह ब्राह्मण एव बदीनारी की सतान है।

<u>वेण</u>- मनु एवं बौधायन[97] के अनुसार यह वैदेहक पुरूष एव अम्बष्ठ नारी की सतान है। कौटिल्य[98] ने वेण को अम्बष्ठ पुरूष एव वैदेहक नारी की सतान माना है। मनु[100] ने इसे बाजा बजाने वाला कहा है। कुल्लूकभट्ट[101] ने इसे बुरूड की भॉति बास का काम करने वाला माना है।

यहॉ कुछ सीमित मिश्रित जातियो का उल्लेख किया गया है जिन पर मनुस्मृति के टीकाकार मनु से भिन्न मत रखते थे। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि समय के साथ-साथ मिश्रित जातियों के समीकरण बदल रहे थे एवं ये सामान्य दृष्टि से देखे जाने लगे थे।

ब्राह्मण.

विराट पुरूष के मुख से उत्पन्न[101] होने के कारण ब्राह्मण का स्थान समाज मे सर्वोच्च माना गया[102], एवं उसका कार्यक्षेत्र बौद्धिक प्रतिभा से संबंधित किया गया। प्राचीन काल से ही ब्राह्मणों को अनेक

तरह के विशेषाधिकार मिले हुए थे। मनुस्मृति मे उसे सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया है क्योकि जाति की विशिष्टता से, उत्पत्ति स्थान (ब्रह्मा का मुख) की श्रेष्ठता से, अध्ययन-अध्यापन एव व्याख्यान आदि के द्वारा नियम (श्रुति-स्मृति-विहित आचरण) के धारण करने से और यज्ञोपवीत ससरकार आदि की श्रेष्ठता से सब वर्णो मे वर्णो का स्वामी माना जाता था।[103]

पूर्व मध्यकाल तक आते-आते अनेक ब्राह्मण विरोधी सम्प्रदायों - जैन एव बौद्ध के उदय के बाद भी ब्राह्मणो ने समाज मे अपना स्थान बनाये रखा। उस काल की पुस्तको एव अभिलेखो से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण वास्तव मे समाज के एव विचारो के शिक्षित नेता होते थे। लक्ष्मीधर ने अपने धनखण्ड[104] मे कहा है कि आदर्श दानी ब्राह्मण को वैदिक शिक्षा, ब्रह्मचर्य, सत्य, शाति एव प्रसन्नचित्त, पाप से डरने वाला, अहिसक, पवित्र हवन इत्यादि करने वाला, धार्मिक प्रतिज्ञाओ का सूक्ष्मता से परीक्षण करने वाला, गायो की रक्षा करने वाला, लालच से परे होना चाहिए।

समकालीन साहित्य एव अभिलेखो से पता चलता है कि कुछ ब्राह्मण साधारण जीवन व्यतीत करते थे और सादा जीवन एवं उच्च विचार के आर्दश का पालन करते थे। अपने सदाचरण का स्तर उच्च बनाये रखने के लिए ब्राह्मणो को ऐसा जीवन व्यतीत करना होता था। ब्राह्मणो की प्रशंसा करते हुए लक्ष्मीधर[105] यम का उद्धरण देते हुए कहते है कि "ब्राह्मण पैदा होना दुर्लभ भाग्य का टुकडा समझना चाहिए जोकि पिछले जन्म के अच्छे कर्मो का फल होता है।" किन्तु समाज मे केवल अच्छे ब्राह्मण नही नही थे बल्कि कुछ बुरी प्रवृत्तियों वाले ब्राह्मण भी थे। राजतंरगिणी मे कल्हण ने तीन बुरे ब्राह्मणो का उद्धरण दिया है।[106]

ब्राह्मण अपनी आजीविका विभिन्न तरीके से चलाते थे, इनमे से कुछ व्यवसाय ऐसे थे, जिनकी अनुमति धर्मशास्त्रों मे प्राप्त थी। वेद एवं अन्य सहायक विषयो को पढाना, राजा के पुरोहित के रूप मे कार्य करना इनके मुख्य कर्त्तव्य थे। लक्ष्मीधर ने एक अनुच्छेद पुरोहित द्वारा की जाने वाली पूजा अर्चना को अर्पित कर दिया है जिससे राज्य विपदाओ से बचा रहे । अभिलेखों से पता चलता है कि पुरोहितों को बहुत से दान दिये गये। गहडवाल नरेशों ने जगुसरमन[107] एवं देववरा[108] जैसे पुरोहितों को दान दिये। बैरकपुर ताम्रपत्र से पता चलता है कि विजयसेन की रानी

बिलसादेवी ने उदयकरदेवशर्मन को भूमि के चार पाटक, तुलापुरुषदान[109] करवाने की शुल्क स्वरूप दिये गये थे। कुछ ब्राह्मणो ने ज्योतिषशास्त्र को अपनी आजीविका का साधन बना लिया था, जिनमे मग ब्राह्मण प्रमुख थे।

इस समय, ब्राह्मणो के निम्न व्यवसाय करने के भी उदाहरण मिलते है, जो साधारणतौर पर उनके करने के नही होते है। 11वी शती मे अलबरूनी[110] के उल्लेखो से पता चलता है कि इस समय ब्राह्मण कपडे एव (सुपारी) का व्यापार वैश्यो की अपेक्षा अच्छी तरह कर रहे थे।

9वी शताब्दी के पेहोआ अभिलेख[111] से पता चलता है कि वामुख नामक ब्राह्मण घोडे का व्यापारी था। 10वी शताबदी के सियादोनी अभिलेख[112] से पता चलता है कि धमुक नामक एक ब्राह्मण पान का व्यापारी था। बल्लालसेन[113] ने व्यापारिक ब्राह्मणो के एक सघ को ब्राह्मण जाति से निम्न कर दिया था। कथाकोषप्रकरण[114] से पता चलता है कि ब्राह्मण अच्छे कृषक भी थे। क्षेमेन्द्र[115] अपने दशावतार चरित मे बताते है कि ब्राह्मण निम्नस्तर के पेशे जैसे कारीगरी, नर्तक, शराब बेचने, मक्खन बनाने, दूध, नमक इत्यादि बेचने जैसे कार्य करने लगे थे और साथ ही अपने धार्मिक कर्त्तव्यों को छोडने लगे थे।

धर्मशास्त्रो एव अर्थशास्त्र के अनुसार, ये पुरोहित मत्री, न्यायविद् नियुक्त होते थे। भट्टलक्ष्मीधर गहडवाल वंश के गोविन्द चन्द्र के महासान्धिविग्रहिक, मत्रीश्वर थे।[116] स्कन्द उसका पुत्र सोढल और पौत्र स्कन्द एवं वर्मन चहमान राजाओं के वंशगत मंत्री थे।[117] 11वी एव 12वीं शताब्दी मे चालुक्य, चंदेल, कलचुरी, पाल, सेन इत्यादि राजवंशों मे ब्राह्मण मत्री थे। ब्राह्मण न्यायधीश भी होते थे। बगाल के राजा लक्ष्मणसेन के अधीन हलायुध धर्माध्यक्ष थे।[118] लटकमेलक से ज्ञात होता है कि छोटी जगहो पर गांव इत्यादि में ब्राह्मण न्यायधीश का कार्य करते थे।

इस काल के ग्रंथो; टीकाओ एवं पुराणो से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों को पारम्परिक रूप से सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक कानूनी विशेषाधिकार[119] प्राप्त थे। इनके आर्थिक विशेषाधिकारों मे करारोपण से मुक्ति, गढे हुए धन का पूरा हिस्सा, ब्राह्मणो को प्राप्त कुछ विशेष उपहार इत्यादि थे। कुछ अभिलेखों[120] अलबरूनी[121] एवं सोमेश्वर[122] के उल्लेखो से करों में मुक्ति का पता चलता है। लेकिन यह विशेषाधिकार केवल श्रोत्रिय ब्राह्मणों को ही प्राप्त था।

ब्राह्मण धर्म के विभिन्न पहलुओ की व्याख्या करता था सबके पेशे एव कर्त्तव्य निर्धारित करता था, वह सभी वर्णो से आदर प्राप्त करता था। अलबरूनी के लेखो से ब्राहमणो को प्राप्त कानूनी अधिकार, जिनका उल्लेख धर्मशास्त्रो मे है, की पुष्टि होती है। वह बताता है कि ब्राह्मण जिसने किसी व्यक्ति की हत्या की है उसे केवल उपवास रखना, प्रार्थना करना तथा दण्ड स्वरूप कुछ धन देना पडता था।[123] कुछ विशेष अपराधो के लिए उन्हें कमतर दण्ड दिया जाता था जबकि चोरी के लिए कठोर दण्ड दिया जाता था।[124]

ब्राह्मणो की सुरक्षा के लिए उनके नियम बने हुए थे[125] एक ब्राह्मण की हत्या करना पाप माना जाता था और इसे बहुत घृणित अपराध की श्रेणी मे गिना जाता था[126] इतिहास मे ऐसे बहुत कम उदाहरण प्राप्त होते है जब राजाओ ने ब्राह्मणों को मृत्युदण्ड दिया होगा। 12वी शती का गाजीपुर जिले से प्राप्त अभिलेख इसका अपवाद है।[127]

ब्राह्मण विरोधी सम्प्रदायो जैन, बौद्ध एवं तत्र द्वारा समय-समय पर ब्राह्मणो के विशेषाधिकारो का विरोध किया गया लेकिन यह भी स्पष्ट है कि जिन राज्यों मे जैन एव बौद्ध धर्म संरक्षण प्राप्त कर रहे थे उनमें ब्राह्मणो को विशेषाधिकार नही प्राप्त थे।

ब्राह्मण विरोधी लेखो और सम्पत्ति के आधार पर स्मृतियो के टीकाकारो ने ब्राह्मणो के विशेषाधिकारो को कम करने का प्रयास किया। 9वी शताब्दी में मेधातिथि भी धीमे स्वर मे यह कहते है कि साधारण या ब्राह्मण के लिए चार तरह की सुविधा की व्यवस्था की गई थी (1) धार्मिक तौर तरीके (2) चरित्र एवं शिक्षा के अभाव मे भी सम्मान प्राप्त करना (3) गढे हुए धन का पूर्ण हिस्सा प्राप्त करना (4) अपनी योग्यता के बिना उपहार प्राप्त करना। इन्हे अपनी सम्पत्ति की पूर्ण सुरक्षा का भी आनन्द प्राप्त था, साधारण तौर पर कहा जा सकता है कि उन्हे दूसरे को नुकसान पहुँचाने के कार्य की सजा एव रोक से सुरक्षा प्राप्त थी।[128]

11वीं शताब्दी मे कुल्लूकभट्ट[129] के उद्धरणो से ब्राह्मण के एक और विशेषाधिकार में कमी होती दिखाई पडती है अभी तक ब्राह्मणो को प्राणदण्ड से मुक्ति प्राप्त थी, किसी भी अवस्था मे भी ब्राह्मण का वध जघन्य अपराध था। कुल्लुकभट्ट ने मनुस्मृति की टीका करते हुए कहा है कि यदि भागकर भी अपने प्राण न बचाये जा सके तो आक्रमणकारी

गुरू या ब्राह्मण या किसी भी अन्य आततायी को मारा जा सकता है। जबकि मेधातिथि[130] ने इसी सदर्भ मे मनु पर टीका करते हुए कहा है कि आततायी ब्राह्मण को भी मारना मना था।

क्षत्रिय

डा0 घुर्ये का मत है कि 11वी शती के लगभग क्षत्रियो का अस्तित्व अधरे मे था।[131] इसके लिए उन्होने कई कारण बताये। इसका पारम्परिक कारण परशुराम की उस शपथ मे ढूढा जा सकता है जिसमें उन्होने पृथ्वी को क्षत्रिय विहिन बनाने की कसम ली थी। हूणो के आक्रमण एव क्षत्रियो की पूर्ण पराजय बौद्ध धर्म का फैलाव हिन्दु राज्यो का तुर्की अफगानियों द्वारा अधिग्रहण से भी क्षत्रियो की संख्या मे कमी आई। कमलाकर ने भी बुझे मन से यह स्वीकार किया है कि 7वी शती मे क्षत्रियो का अस्तित्व दुर्लभ था।[132] लेकिन अनेक अभिलेखो के प्रमाण से यह पता चलता है कि 11वी एव 12वी शती मे क्षत्रियो का अस्तित्व अधकार में नही था। पाल साक्ष्यों से पता चलता है कि नारायण - वर्मन नाम का महासांधिविग्रहिक एक क्षत्रिय था (खलीमपुर कास्यपत्र), जबकि उत्तर भारत मे अनेक क्षत्रिय जगह-जगह राज्य कर रहे थे। शाही राजवशीयों एव अन्य क्षत्रियो ने, जब तुर्क अफगानो ने पजाब - अफगानिस्तान का अधिग्रहण कर लिया था, कश्मीर मे शरण ली थी।[133] समकालीन अभिलेखो से पता चलता है कि जयचन्द गहड़वाल[134], मदनवर्मन चदेल[135], परमारों के अधीन ग्वालियर[136] मे क्षत्रिय शासन कर रहे थे।

कृत्यकल्पतरू और ग्रहस्थरत्नाकर से क्षत्रियों के कर्त्तव्य एवं विशेषाधिकार का पता चलता है।

अन्य तीनो वर्णों की रक्षा का भार क्षत्रियों के कधे पर था। लक्ष्मीधर[136] मनु, पराशर, पैठीनसी, हारिति, बौधायन, आपस्तम्ब, देवल का उद्धरण लेकर कहते है कि एक राजा की तरह क्षत्रियों का यह विशेष कर्त्तव्य है कि वह शस्त्र धारण करे, राज्य के लिय जो सही है उसकी करने का प्रयत्न करे।

झगडों में मध्यस्थता करे और वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करे। एक साधारण क्षत्रिय का यह कर्त्तव्य था कि वह अपनी मृत्यु तक युद्ध करता रहे और रणक्षेत्र से कभी पीठ दिखा कर न आये। जबकि देवल का मत है कि क्षत्रिय को भगवान की पूजा करनी चाहिए और स्वंय को

ब्राह्मणो की सेवा मे अर्पित कर देना चाहिए। इस काल मे उन्हे ब्राह्मणो के सभी विशेषाधिकार प्राप्त थे केवल अध्यापन एव यज्ञ बलिको छोडकर। वह वेदाध्ययन कर सकता था लेकिन उनमे कोई विचार प्रस्तुत नही कर सकता था शिक्षा के विषय क्षेत्र मे युद्ध, कला, धुनर्वेद की शिक्षा भी सम्मिलित थी ।

धर्मशास्त्रो मे क्षत्रियो को केवल आपदकाल मे कृषि कार्य करने की अनुमति दी गई है।[138] भोज के राज्य के समय, ग्वालियर क्षेत्र मे एक क्षत्रिय मेनुकाक को हम कृषि करता हुआ पाते है[139] देवल कहते है कि क्षत्रिय को कभी भिक्षा नही मागनी चाहिए। लक्ष्मीधर देवल के इस विचार से सहमत होते हुए क्षत्रियो को उपहार ग्रहण करने की छूट देते है।[140] क्षत्रियो को बहुत से गाव दानस्वरूप भी प्राप्त होने के उदाहरण मिलते है।

सामाजिक वर्णक्रम में क्षत्रियो का स्थान निर्विवाद रूप से ब्राह्मणो के बाद ही निर्धारित हुआ है। शुकनीतिसार महाभारत के पुराने सिद्धान्त को बताती है कि (12 79 15-20) ब्राह्मण कोई पाप नहीं करता है यदि वह युद्ध मे दुष्ट क्षत्रिय का वध करता है तो।[141] लेकिन जहॉ तक दण्ड का प्रश्न है क्षत्रियो को भी अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे सम्भवत. उनके हाथ में राज्य की रक्षा का भार था इसलिए उन्हें कुछ रियायते प्राप्त थी। अलबरूनी बताता है कि चोरी करने का अपराधी ब्राह्मण अधा किया जा सकता था जबकि एक क्षत्रिय को दाये हाथ या बांये पैर मे चोट की जाती थी। इसके साथ ही उन्हें कितने भी घृणित अपराध के लिए मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता था।[142] उत्तरभारत मे राज्य करने वाले मुख्य राजपूत गुहिल, गुर्जर, प्रतिहार, चाम्पा, चहमान, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चदेल, परमार, गहडवाल इत्यादि थे जो स्वंय को राजपूत कहते थे। अभिलेखो में इन्होने अपनी उत्पत्ति माउण्ट आबू पर्वत पर वशिष्ठ द्वारा किये गये यज्ञ से बतायी है जो अग्निकुल का सिद्धान्त कहलाता है। स्मिथ को मानना है कि हूण एव गुर्जर जैसी विदेशी जातियो के देसी सम्मिलन से इन चारों की उत्पत्ति हुई जोकि मुख्य रूप से राजपूत माने जाते है परमार, चालुक्य, चाहमान, प्रतिहार।[143] डा0 घोषाल भी स्मिथ के इस मत से सहमत नहीं है। कल्हण अपनी राजतरंगिणी में 36 मूल राजपूत जातियो का उल्लेख करता है।[144] राजपूत मूल रूप से जो भी रहे

हो उन्हे क्षत्रिय वर्ग मे ही सम्मिलित माना जाता है, इन्होने सामाजिक व्यवस्था मे अपना विशेष स्थान बना लिया था।

वैश्य

गुप्तोत्तर काल मे भूमि अनुदानो के कारण एक प्रतिष्ठित भूमिधारी की उपस्थित हो गया था । व्यापार एवं वाणिज्य मे गिरावट आई, जिससे की वैश्यो को अपने वर्णकर्म के साथ-साथ अन्य वर्णो के कर्म भी अपनाने पडे। विष्णुपुराण[145] से पता चलता है कि कलयुग मे वैश्यो ने व्यापार एव कृषि मे छोड दिया होगा और अपनी जीविका सेवाओं एव यांत्रिक कला से करते थे। इस काल की सामाजिक आर्थिक गिरावट की स्थिति अन्य ग्रंथों से भी प्रमाणित होती है। स्कन्द पुराण[146] जिससे 8वीं, 9वी से 13वी शती तक के भारत के इतिहास एव सस्कृति पर प्रकाश पडता है, से पता चलता है कि कलियुग में वाणिज्य मे गिरावट आई क्योंकि वणिक वर्ग राजपुत्रो पर निर्भरता की स्थिति मे थे।

9वीं शती के जैन लेखक जिनसेन[147] ने वैश्यो को एक वणिक वर्ग के रूप मे अलग करने की कोशिश की है। वह वैश्यो का साधारण कर्त्तव्य कृषि, व्यापार, वाणिज्य एव पशुपालन बताता है बृहत्धर्मपुराण[148] (13वी शती), जो मुख्यत बगाल की तस्वीर दिखाता है एक स्थान पर तीसरे वर्ण के पेशे के सदर्भ में केवल (व्यापार एव वाणिज्य) को वैश्यो का पेशा बताया गया है। देवी भागवत से यह पता चलता है कि कृषि जोकि वैश्यों के मुख्य पेशे के रूप मे जानी जाती थी अब सामान्य तौर पर नियमबद्ध रूप से वैश्यों से सम्बद्ध नहीं रह गयी थी।

मोटे तौर पर, 11वी शती मे वैश्यो की स्थिति मे गिरावट आई। यह प्रवृत्ति कुछ क्षेत्रो में बढती भी गई, जिनका उललेख अलबरूनी[150] भी करते है कि वैश्यों की स्थिति शूद्रो के स्तर तक गिर गई थी। ये दोनों साथ-साथ कस्बे मे रहने लगे थे कभी-कभी ये साथ-साथ एक घरो में रहने लगे थे, और आपस मे खान-पान एवं विवाह करने लगे थे। किन्तु अलबरूनी के मत से सहमत होना कठिन है क्योकि शूद्रों को वर्णक्रम से हमेशा नीचे रखा गया, खान-पान में छूत-पात करना सामान्य सी बात थी इसके साथ ही अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन आम नहीं था, जिससे यह आपस में विवाह करते। इसको इस तरह समझा जा

सकता है कि कृषि, व्यापार एव वाणिज्य मे कमी आने से अपने जीविकोपार्जन के लिए वैश्यो ने शूद्रो के कर्म जैसे कारीगरी, हस्तकारी इत्यादि प्रारम्भ कर दिये होगे जिससे दोनो वर्गो के मध्य भेद कम रह गया होगा।

वैश्यो एव शूद्रो के मध्य भेद तो मनुस्मृति[151] एव बौधायनधर्मसूत्र[152] के काल से चला आ रहा है। डा0 अल्तेकर एव घुर्ये भी वैश्यो की शूद्रो के स्तर तक की निम्न स्थिति से सहमत है।[153] पूर्वमध्यकाल के लेखक देवल ने वैश्यो के पेशे मे नर्तक, गायक, वादक, कुश्ती करने वालों को सम्मिलित किया है, जिसका लक्ष्मीधर ने भी समर्थन किया है[154]। लक्ष्मीधर ने वैश्यो को नमक, शराब, मास, दही, तलवार, पानी, मूर्तियाँ इत्यादि का व्यापार करने से मना किया है।[155] लक्ष्मीधर यहाँ मेधातिथि से मतभेद रखते है क्योंकि मेधातिथि उन्हें ज्यादातर चीजे बेचने की अनुमति देते है।[156]

वैश्यो के आपदर्धम पर मेधातिथि[157] का कथन है कि वह शूद्रो की तरह पैर प्रक्षलन करे, जूठा खाये तथा अन्य निम्न कार्य भी कर सकता था किन्तु संकट की स्थिति समाप्त होते ही वह इन कर्मो को त्याग दे। लगभग ऐसा ही मत कुल्लूकभट्ट[158] भी व्यक्त करते है कि वैश्य द्विजाति की शुश्रुषा करने और उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करने जैसे निम्न कार्य केवल तभी तक कर सकता था जब तक वह सकट ग्रस्त रहता था, अपनी स्थिति सुदृढ होते ही वह इन कार्मो का परित्याग करके प्रायश्चित करता था।

इन तथ्यो से यह स्पष्ट होता है कि शूद्रो के सभी कार्य वैश्य सामान्य तौर पर नही करने लगे थे, ये कार्य केवल आपत्ति काल में ही अपनाये जा सकते थे। कारीगरी गायन, वादन जैसे पेशो को वैश्यो द्वारा अपना लेने के कारण यह माना गया कि शूद्र एव वैश्यो के मध्य भेद कम रह गया था।

शूद्र.

ब्रह्मा के पैर से शूद्र की उत्पत्ति बताकर उनके उद्भवकाल से ही उनकी निम्न स्थिति निर्धारित की गई थी। ब्रह्मा ने उसे द्विज वर्गो की सेवा के लिए निर्मित किया हैं, जिसे पूरा करना उनका परमधर्म है, किन्तु जैसे समय व्यतीत होता गया, उसके ऊपर अनेक अपात्रताएँ लाद दी

गई जिससे वह अन्य वर्णो के समीप भी न आ सके। मनुस्मृति मे शूद्रों को काफी हेय स्थिति मे चित्रित किया गया है। जैसे - शूद्र स्पर्श से यज्ञ फलों का नाश होता है।[159] शूद्रो को राज्य कार्य में वर्जित किया गया है।[160] शूद्र कठोर वचन कहे तो जिह्वा छेदन का दण्ड दिया जायें।[161] द्विजो से द्रोह करे तो दण्ड[162] धर्मोपदेश करे तो मुखकान मे तपाया तेल डाल दे।[163] एक स्थल पर यहॉ तक कह दिया गया है कि शूद्रो का निजधन कुछ भी नहीं है।[164] इसके साथ ही शूद्र की हत्या का प्रायश्चित मात्र कुत्ते और मेढक को मारने के प्रायश्चित के समान था।[165]

धीरे-धीरे स्थिति परिवर्तित हो रही थी, समाज अब कर्मकाण्ड प्रधान होने के स्थान पर अर्थप्रधान होने लगा था. अत· शूद्र वर्ग में अब एक वर्ण के लोग सम्मिलित नही थे वरन् एक समान पेशे के लोग थे। इस प्रकार पेशें एव आजीविका के आधार पर शूद्रो का एक विशाल वर्ग खडा हो गया, जिसमें कृषक, कृषि मजदूर, कारीगर, शिल्पी, नौकर इत्यादि सम्मिलित हो गये। इनमे से सबसे बडा वर्ग खेतीहर मजदूरों का था, कुछ पुराणों एवं कानूनवेत्ताओ ने भी कृषि को केवल शूद्रों का पेशा बताया है।[166] जैसे ह्वेनसांग 7वीं शती में पाता है कि शूद्रों ने एक कृषक वर्ग तैयार कर लिया था जो खुदाई एव जमीन साफ करने का कार्य करते थे।[167] 10वीं शती के यात्री इब्न खुर्दादबा ने भी यह कहा है कि शूद्र लोग पेशे से कृषि करते थे या कृषक थे।[168] यह बढते हुए लौह प्रचलन के युग का प्रारम्भ था संभवत· शूद्रों ने निम्न कर्म छोड कर जमीन साफ कर उस पर खेती करना प्रारम्भ कर दिया होगा, इससे जहॉ कृषि कार्य पर वैश्यो का एकाधिकार कम हो गया था, वहीं शूद्रो की स्थिति निरन्तर उच्च होती जा रही थी।

पूर्वमध्यकाल मे अब ऐसे अनेक पेशे थे जिन्हें शूद्र एवं वैश्य साथ-साथ अपना रहे थे। एक उदाहरण के लिए किनासा शब्द ले सकते हैं, जिसका उल्लेख ऋग्वेद[169] में कृषक के संदर्भ में प्राप्त होता है विष्णुधर्मोत्तर[170] पुराण एव भविष्य पुराण[171] में भी किनासा वैश्य वर्ण के सदर्भ में प्रयुक्त हुआ है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कृषि या कृषक वैश्य वर्णी लोग ही थे। इसमें साथ ही वैजयन्ती[172] में किनासा शब्द की एक स्थल पर व्याख्या कृषक के रूप में की गई हैं दूसरे स्थल पर वैश्य वर्ग के संदर्भ में। किन्तु 8वीं शताब्दी के टीकाकर

असहाय एव नारद स्मृति (1 181) मे किनासा शब्द शूद्र के लिए प्रयुक्त हुआ है इन परिस्थितियो मे कहा जा सकता है कि जो भूमिधारी सम्पन्न कृषक वर्ग था वह वैश्य वर्ण मे सम्मिलित था, और जो भूमिहीन थे, जिनके पास पर्याप्त साधन नही थे, उनका स्तर निम्न निर्धारित किया गया था । उन्हे शूद्र माना गया जबकि ये भी कृषि कार्य ही करते थे।

इसके साथ ही अन्य उद्धरणों एव प्रमाणों से पता चलता है कि शूद्रों की स्थिति पूर्वमध्यकाल मे पहले की तुलना मे काफी सुधर गई थी। अब मात्र जन्म ही शूद्र होने का लक्षण नहीं रह गया था। लक्ष्मीधर[173], हारिती का उद्धरण लेते हुए बताते है कि शुद्व मस्तिष्क वाला शूद्र भी शैतान मस्तिष्क वाले ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य की तुलना मे श्रेष्ठतर है। इस काल में उसकी कुछ अपात्रताये समाप्त कर दी गई थीं। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि कहते है कि द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को आवश्यकता पडने पर नीच शूद्र से भी निरन्तर श्रद्वापूर्वक मोक्ष धर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[174] उसने आगे कहा है कि श्रुति - स्मृति - विहित धर्म की अपेक्षा अन्य लौकिक धर्म चाण्डाल भी कहे तो उसे मानना चाहिए। यदि चाण्डाल भी 'इस स्थान पर बहुत देर तक मत रूको', 'इस जल मे स्नान न करो' आदि वचन कहे तो उसे स्वीकार करना चाहिए। वह चण्डालोक्त वचन भी एक प्रकार का धर्म अर्थात व्यवस्था है और मनूक्त 'धर्म' शब्द 'व्यवस्था के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है। इससे स्पष्ट है कि शूद्र का सद्गुण और ज्ञान मध्यकालीन व्यवस्थाकारो द्वारा स्वीकार किया जाने लगा था।

एक स्थल पर मनुस्मृति के टीकाकार[175] मेधातिथि एव विश्वरूप का कहना था कि शूद्रों को न तो गुलाम बनाया जा सकता था और न ये ब्राह्मण पर निर्भर हो सकते थे। वह व्याकरण तथा अन्य विज्ञानों का अध्यापक हो सकता था तथा स्मृतियों मे निर्दिष्ट उन सभी तुल्यों को सम्पन्न कर सकता था जो अन्य वर्गो के लिए निर्दिष्ट किये गये थे, वह देवताओं के नाम ले सकता था और नामकरण आदि सस्कार भी सम्पन्न कर सकता था लेकिन मंत्रोच्चार के बिना। बृहत्धर्म पुराण[176] से पता चलता है कि शूद्र व्याकरण व अन्य शास्त्र पढा सकता था इसके साथ ही वह पुराण पढ सकता था और उसके अर्थ की व्याख्या कर सकता था। लक्ष्मीधर अपने गृहस्थखण्ड में इन सब अधिकारो से सहमत नहीं

होते है व्यास का उद्धरण देते हुए रहते है कि शूद्र मास बेच सकता है उसे उपनयन एव अग्निहोत्र सस्कार करने की आवश्यकता[177] नही है लेकिन अन्यत्र नियतकलाकन्द (कृत्यकल्पतरू के) मे लक्ष्मीधर भोजन मे छूतपात को दूर करने की अनुमति देते है। मनु के एकदम विपरीत वह रहते है कि शूद्र कोई पाप नही करता है यदि एक ब्राह्मण का चावल वह अपने घर में पका लेता है।[178]

मेधातिथि ने शूद्रो की द्विज की सेवा मे सिद्धान्त से असहमति व्यक्त की और उन्हे निजधन रखने का अधिकार दिया था।[179] एक स्थल पर मेधातिथि कहते है कि शूद्र ब्राह्मण की सेवा कर एव गृहस्थाश्रम मे रहते हुए सतान्नोत्पत्ति करके मोक्ष छोडकर सभी कुछ प्राप्त कर सकता है।[180]

पारिवारिक जीवन के कर्त्तव्यो का जहॉ तक प्रश्न है, कुछ व्यवस्थाकारो ने शूद्रो[181] को पाक - यज्ञ, पच्चमहायज्ञ एवं सस्कार बिना मत्रोच्चार के करने की अनुमति दी है। लेकिन पुरातनपथी विचारधारा उन्हे केवल पाकयज्ञ एवं विवाह संस्कार करने की अनुमति देती हैं। यह नि संदेह रूप से शूद्रो पर अपात्रता लादने का एक प्रयास था। लेकिन यह वह समय था, जब उच्चा वर्ण भी सस्कार विधिवत ढग से करने पर ध्यान नही दे रहा था।

यदि अपात्रताओ एव अनुमति की दृष्टि से देखा जाए तो वह एकदम स्वतन्त्र नहीं थे, फिर भी गुलामों की तुलना में उनकी स्थिति बहुत ही अच्छी हो चुकी थी।

विपत्तिग्रस्त शूड के लिए मनु ने कारूकर्म (सूप इत्यादि बनाने का कार्य) करने की अनुमति दी है। मेधातिथि ने इस कारूकर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है कि भोजन बनाने, कपडा बुनने और बढईगिरी के कार्य सम्पन्न करके शूद्र अपनी भार्या और सतान का पोषण कर सकता था। संकटकाल आने पर शूद्र का अन्य कर्म अपनाने के लिए कुल्लूकभट्ट ने भी निर्देश दिया है। उसके अनुसार वह भोजन पकाने का काम, तक्ष, चित्रकारिता जैसी शिल्पकलाओ का कार्य कर सकता था। इससे स्पष्ट होता है कि सकट काल में भी शूद्र को आजीविका के लिए कठिनाई का सामना नही करना पडता रहा होगा।

अस्पृश्यता:

अस्पृश्यता केवल जन्म से ही नही उत्पन्न होती इसके उद्‌गम के कई स्रोत थे उदाहरणांथ - भयकर पापो अर्थात् दुष्कर्मो से. ब्रह्म हत्या करने वाले, ब्राह्मण के सोने की चोरी करने वाले या सुरापान करने वाले लोगो को जाति से बाहर कर देने. खान पान का सम्बन्ध न रखने, उन्हे स्पर्श न करे, उनकी पुरोहिती न करेने और उनके साथ कोई विवाह सबध न स्थापित करने से वे लोग वैदिक धर्म से विहीन हो जाते थे । दूसरा कारण धर्म संबधी घृणा एव विद्वेष। अस्पृश्यता उत्पन्न होने का तीसरा कारण है कुछ लोगो का, जो साधारणत अस्पृश्य नहीं हो सकते थे कुछ विशेष व्यवसायो का पालन करना। चौथा कारण है कुछ परिस्थितियो में पड जाना, यथा रजस्वला स्त्री के स्पर्श, शवस्पर्श[182] आदि। अस्पृश्यता था पांचवा कारण है - म्लेच्छ या कुछ विशिष्ट देशो का निवासी होना।

अस्पृश्यता के पीछे जो मान्यता एव धारणा पायी जाती है वह मात्र धार्मिक एव क्रिया संस्कार संबधी है। प्राचीन समय मे बहुत से व्यवसाय वंशानुक्रमिक थे, अत: क्रमश. यह विचार ही दृढ होता गया कि वे लोग जो ऐसी जाति के होते हैं, जो गदा व्यवसाय करती है, जन्म से ही अस्पृश्य है। धीरे-धीरे स्थिति ऐसी होती गई कि उस जाति के लोग चाहे वह गदा व्यवसाय अपनाये या न अपनाये उन्हें अस्पृश्य ही माना जाता है। प्राचीन काल मे व्यवसाय से लोग स्पृश्य एव अस्पृश्य माने जाते थे।

गौतम ने लिखा है कि चाण्डाल ब्राह्मण से शूद्र द्वारा उत्पन्न सतान है अत· वह प्रतिलोमों में अत्यन्त गर्हित प्रतिलोम है[183] आपस्तम्ब ने लिखा है कि चाण्डालस्पर्श पर सर्वत्र स्नान करना चाहिए।[184] जबकि मनुस्मृति ने केवल आन्ध्र, मेद, चाण्डाल एवं श्वपच को गाव के बाहर तथा अन्त्यावसायी को श्मशान में रहने को कहा हैं। इससे स्पष्ट है कि अन्य हीन जातियॉ गांव में रह सकती थी[185] मनु की व्याख्या में मेधातिथि का स्पष्ट कहना है कि प्रतिलोमो मे केवल चाण्डाल ही अस्पृश्य है, अत. प्रतिलोमों यथा सूत, मागध, आयोगण, वैदेहक एव क्षत्ता के स्पर्श से स्नान करना आवश्यक नहीं[186] यही उद्‌भावना इस संदर्भ में कुल्लूक की भी है। इनकी स्थिति में सुधार इस बात से स्पष्ट है कि अब इनके छूने से स्नान आवश्यक नहीं रह गया था।

यही दूसरी तरफ कुछ कठोर दृष्टि रखने वाले व्यवस्थापक भी दिखाई देते है हेमचन्द्रकृत देसीनाममाला मे उल्लिखित है कि चाण्डाल 'झाझरी' व डोम 'खिर्खी' नाम की एक शाखा हाथ मे लेकर आवाज करते चलते थे जिससे लोग उनके सम्पर्क मे आने से बच जाये।[187] अपरार्क एव विज्ञानेश्वर[188] के अनुसार चाण्डाल की छायामात्र से मनुष्य अपवित्र हो जाता है यदि वह गाय की पूछ की दूरी तक भी पहुच गया हो। जबकि मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि एव कुल्लूकभट्ट ने ऐसे विचार प्रस्तुत नही किये है।

अस्पृश्य शब्द का प्रयोग विष्णुधर्म सूत्र एव कात्यायन ने भी किया है। प्राचीन धर्मशास्त्रो की सम्मति से चाण्डालो, म्लेच्छो, पारसीको को अस्पृश्यो की श्रेणी मे रखा गया है। अति (267-269)[190] ने लिखा है कि यदि द्विज चाण्डाल, म्लेच्छ, सुरापात्र, रजस्वला को स्पर्श कर ले तो (उसे बिना स्नान किये) भोजन नही करना चाहिए, यदि भोजन करते समय स्पर्श हो जाये तो भोजन बंद कर देना चाहिए और भोजन को फेककर स्नान कर लेना चाहिए। आजकल अन्त्यजो मे म्लेच्छों, धोबियों, बॉस का काम करने वालों, मल्लाहो, नटो को कुछ प्रातो में अस्पृश्य नही माना जाता। यही बात मेधातिथि एव कुल्लूकभट्ट के समय मे भी पायी जाती थी।

स्मृतिकारों ने कुछ जातियो की अस्पृश्यता के विषय में अपवाद भी बताये है। अत्रि[191] ने लिखा है कि मंदिर देवमाता, विवाह, यज्ञ एव सभी उत्सवो में किसी अस्पृश्य का स्पर्श अस्पृश्यता का द्योतक नही हो सकता। यही बात शतातप, बृहस्पति आदि ने भी कही है। स्मृत्यर्थसार ने उन स्थानों के नाम गिनाये है जहॉ छुआछूत का कोई भेद नहीं माना जाता - सग्राम मे, हाट (बाजार) के मार्ग मे, धार्मिक जुलूसों, मंदिरो, उत्सवों, यज्ञों, पूत स्थलो, आपत्तियो में ग्राम या देश पर आक्रमण होने पर, बडे जलाशय के किनारे, महान पुरूषों की उपस्थिति में, अचानक अग्नि लग जाने पर या महान् विपत्ति पडने पर स्पर्शास्पर्श का ध्यान नही दिया जाता।[192] यहॉ तक कि इस ग्रंथ में अस्पृश्यों द्वारा मंदिर प्रवेश की बात भी लिखी गई है।

यदि तथाकथित अछूत लोग पूजा कर सकते थे। जबकि यह कहा जाता है कि प्रतिलोम लोग धर्महीन है।[193] तो इसका तात्पर्य यह है

कि वे उपनयन आदि वैदिक क्रिया सस्कार नही कर सकते, वास्तव मे वे देवताओ की पूजाकर सकते थे। निर्णय सिन्धु द्वारा उद्धृत देवी पुराण के एक श्लोक से ज्ञात होता है कि अन्त्यज लोग भैरव का मंदिर बना सकते थे। भागवतपुराण[194] मे आया है कि अन्त्यावसायी लोग हरि के नाम या स्तुतियो को सुनकर उनके नाम का कीर्तन कर, उनका ध्यान कर पवित्र हो सकते है; किन्तु जो उनकी मूर्तियो को देखे या स्पर्श करे वे अपेक्षाकृत अधिक पवित्र हो सकते है। दक्षिण भारत मे अलवार वैष्णव सतो मे तिरूवाण अलवार अछूत जाति के थे और नम्मालवार तो वेल्लाल थे। मिताक्षरा[195] मे लिखा है कि प्रतिलोम जातियॉ (जिनमे चण्डाल भी सम्मिलित है) व्रत कर सकती है।

नारी (स्त्री) दशा:

"स्त्री दशा'' किसी भी समाज के सभ्य होने का मापदण्ड रहा है । उत्तर वैदिक काल से लेकर अद्यतन कालतक सामान्यत. कन्या जन्म खेद का विषय रहा है। किन्तु परिवर्तित युगो के साथ-साथ उनकी स्थिति मे भी परिवर्तन होता रहा। जहॉ ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों को पूज्यनीय समझा जाता था, उन्हें शिक्षा का पूरा अवसर दिया जाता था, उनका विवाह परिपक्व आयु मे उनकी सहमति से किया जाता था।[196] वही उत्तरवैदिक काल मे स्त्रियो की स्थिति अवनति की ओर अग्रसरित होने लगी। उसके सामाजिक और धार्मिक अधिकार तो अवश्य बने रहे किन्तु उसके व्यक्तिगत गुणों के प्रति सदेह व्यक्त किया गया। उसके लिए निन्दनीय शब्दों का प्रयोग होने लगा, उसे असत्यभाषी और अनृत कहा गया।[197] किन्तु अभी भी उसपर सामाजिक और धार्मिक नियन्त्रण और स्वच्छन्दता में कोई विशेष प्रतिबन्ध नही लगा था। सामाजिक उत्सवो और धार्मिक पर्वो पर स्त्रियॉ उन्युक्त होकर सम्मिलित हुआ करती थी। धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के युग में स्त्री की दशा पूर्णत पतनोन्मुख हो गई। स्त्री के साथ भोजन करने वाले पुरूष को गर्हित आचरण करने वाला व्यक्ति घोषित किया गया।[198] तथा उस स्त्री की प्रशसा की गई जो 'अप्रतिवादिनी' (प्रतिवाद न करने वाली) थी। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया तथा उसके शरीर पर उसके पति का स्वत्व माना गया।[199] मनु जैसे स्मृतिकारो ने उसे स्वतन्त्र न रहने के लिए निर्देशित किया तथा यह विचार प्रकट किया कि स्त्री कभी भी स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है। जब

तक वह कन्या रहे, उस पर पिता का सरक्षण रहे, जब विवाह हो जाए तब उस पर भर्त्ता (पति) का सरक्षण रहे और जब वह वृद्ध हो तब उस पर पुत्र का सरक्षण रहे।[200] पूर्वमध्य युग तक आकर उसके सारे अधिकार सीमित कर दिये गये और वह बधन मे कर दी गई। उसकी स्वतत्रता पर नियन्त्रण लगा दिये गये। विज्ञानेश्वर ने शेख का उद्धरण देकर, मेधातिथि[201] एव कुल्लूकभट्ट[203] ने मनु पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि वह घर से बिना किसी से कहे और बिना चादर ओढे बाहर न जाय, शीघ्रतापूर्वक न चले, बनिये, सन्यासी, वृद्ध, वैद्य के अतिरिक्त किसी परपुरूष से बात न करे, अपनी नाभि खुली न रखे, एडी तक वस्त्र पहने अपने स्तनो पर से कपडा न हटाये, मुह ढके बिना न हॅसे, पति या सबधियो से घृणा न करे। वह धूर्त, वेश्या अभिसारिणी, सन्यासिनी, भाग्य बताने वाली, जादू टोना या गुप्त विधियॉ करने वाली दु:शील स्त्रियो के साथ न रहे। इनकी सगति से कुलगत स्त्रियो का चरित्र भ्रष्ट होता है। इस प्रकार सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दृष्टियों से उसे प्रतिबन्धित कर दिया गया।

स्त्रियों का शिक्षा

यह एक विचित्र तथ्य है कि मध्य एवं वर्तमान काल की अपेक्षा प्राचीन काल मे स्त्रियो की शिक्षा-संबंधी व्यवस्था कही उच्चतर थी। वैदिक युग मे स्त्रियो की शिक्षा अपनी उच्चतम सीमा पर थी। इस युग मे पुत्र की तरह पुत्री का भी विद्यारम्भ से पूर्व उपनयन संस्कार सम्पन्न किया जाता था। तथा वह भी ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई विभिन्न विषयो की शिक्षा ग्रहण करती थीं। ऋग्वेद में उल्लिलिखित है कि कतिपय बिदुषी स्त्रियो ने ऋग्वेद की अनेक ऋचाओ के प्रणयन में योगदान प्रदान किया था। उस युग में बौद्धिक योगदान करनेवाली ऐसी बीस कवियित्रियॉ थी रामेशा, अपाला, उर्वशी, विश्ववारा, सिकता, निबावरी, घोषा, लोपामुद्रा आदि पडिता स्त्रियॉ इनमें अधिक प्रसिद्ध है। पति के साथ समान रूप से वे यज्ञ मे सहयोग करती थी।[204] सूत्र काल तक भी स्त्रियाँ यज्ञ सम्पादित किया करती थीं। कन्या के लिए उपनयन संस्कार का विधान मनु ने भी किया है।[205] इसके साथ ही मनु ने यह भी कहा है कि पति की सेवा ही उसका आश्रम निवास और गृहस्थी के कार्य ही दैनिक धार्मिक अनुष्ठान है।[206] कालान्तर मे

शूद्रो की ही तरह वेदो के पठन पाठन और यज्ञो मे सम्मिलित होने के अधिकार से भी वह वचित कर दी गई। शिक्षा के अवसर भी उसके लिए कम होने लगे। वह केवल माता पिता, भाई बन्धु आदि से अपने घर पर ही शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। पूर्वमध्य युगीन भाष्यकारो मेधातिथि विश्वरूप और अपरार्क भी यही व्यवस्था है । मेधातिथि ने मनु पर टीका करते हुए एक मनोरजक प्रश्न उठाया है कि ब्रह्मचारी लोग भिक्षा मांगते समय स्त्रियो से 'भवति भिक्षा देहि' वाला सवाद क्यो बोलते है, जब कि वे यह भाषा नही जानती? इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि पूर्व मध्य काल मे स्त्रियो की शिक्षा किस स्तर तक जा चुकी थी। शिक्षा का यह अवरोध मध्यम वर्गीय समाज मे ही था, अभिजात्य वर्ग मे सुसस्कृत एव सुबोध स्त्रियो की कमी नही थी। काव्यमीमासा से पता चलता है कि वे प्राकृत और सस्कृत मे दक्ष होती थी।[207] राज्यश्री के लिए बाण ने 'हर्षचरित[208] में लिखा है कि वह 'नृत्यगीत' आदि मे विदग्ध सखियो के बीच सकल कलाओ का प्रतिदिन अधिकाधिक परिचय प्राप्त करती हुई शनै शनै बढ रही थी। गाथासप्तशती[209] से भी अनेक विदुषी स्त्रियो का पता चलता हैं रेखा, रोहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, पाहई, बद्धवही, शशिप्रभा जैसी कवयित्रियॉ अपनी प्रतिभा और कल्पना शक्ति के लिए विख्यात थी। कविवर राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी उत्कृष्ट कवयित्री और टीकाकार थी।[210] मंडनमिश्र और शंकर के बीच हुए शास्त्रार्थ की निर्णयिका मंडन मिश्र की विदुषी पत्नी थी, जो तर्क, मीमासा, वेदांत और साहित्य मे पूर्ण पारगत थी।[211] ऐसी भी अनेक स्त्रियॉ हुई है जिन्होने अकेले पूरे शासन का भार अपने कन्धे पर उठाया था तथा कभी-कभी अल्प वयस्क पुत्र की सरक्षिका बनकर शासन प्रबध का कुशल सचालन किया। प्राचीन काल से ही ऐसी भारतीय स्त्रियो के उदाहरण मिलने लगते है। यूनानी आक्रमण के समय सिकन्दर का प्रतिरोध मत्सग की महारानी ने पति की मृत्यु के बाद स्वयं किया था। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में आन्ध्र-सातवाहन वंशीय राजमाता नयनिका ने अपने अल्पवयस्क पुत्र का सरक्षण करते हुए स्वंय शासन का भार संभाला था। इसी प्रकार वाकाटक वंश की रानी और गुप्तवंशीय सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता (चौथीसदी) ने अपने पति की मृत्यु

के पश्चात् पुत्र की अल्पवयस्कतावश स्वय शासन किया था। पूर्वमध्यकालीन न्त्रियो के भी कुछ उदाहरण इस सदर्भ मे प्राप्त होते है। राजतरगिणी से ज्ञात होता है कि कश्मीर मे सुगध और दिद्दा नामक रानियॉ अपने राज्यकार्य एव प्रशासन के लिए विख्यात थी।[217] गुजरात की चालुक्य वशीय रानियॉ अक्का देवी ओर मैला देवी ने भी निष्ठापूर्वक शासनभार सभाला। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि समय-समय पर जब भी आवश्यकता पडी स्त्रियो ने शासन कार्य सुचारू रूप से किया।

विवाह.

स्त्रियो की स्थिति के सदर्भ मे उनके विवाह के बारे मे जानकारी आवश्यक थी क्योंकि विवाह से दो तथ्यों का पता चलता है। प्रथम तो विवाह की आयु इससे ज्ञात हो जाता था कि समाज मे स्त्रियो की शिक्षा का स्तर क्या है अल्पआयु मे विवाह होने से स्त्रियों के शिक्षा के अवसर कम हो जाते थे। द्वितीय विवाह का प्रकार - इससे स्पष्ट होता है कि समाज में स्त्रियों को कितनी स्वतन्त्रता प्राप्त थी, उनकी इच्छाओं का कितना आदर किया जाता था। यद्यपि सभी कालों मे, भिन्न-भिन्न प्रातों एवं भिन्न-भिन्न जातियों मे विवाह-अवस्था पृथक-पृथक मानी जाती रही है।

ऋग्वैदिक काल में विवाहावस्था के विषय में स्पष्ट निर्देश नही प्राप्त उद्धरणों से पता चलता है कि कन्याओं का विवाह अपेक्षाकृत बडी अवस्था मे होता था। एक स्थल[213] पर आया है कि जब कन्या सुन्दर है और आभूषित है तो वह स्वय पुरूषों के झुण्ड में से अपना मित्र ढूढ लेती है। इससे स्पष्ट है कि लडकियॉ इतनी प्रौढ होने पर विवाह करती थीं जब कि वे स्वंय अपना पति चुन सके। गृहसूत्रों एवं धर्मसूत्रो के अनुशीलन से पता चलता है- कि लडकियॉ युवावस्था के बिल्कुल पास पहुँच जाने या उसके उपरान्त ही विवाहित होती थी। अधिकांश गृहसूत्रों में एक क्रिया का वर्णन है जिसे चतुर्थीकर्म कहते है। यह क्रिया विवाह के चार दिनो बाद सम्पादित होती है।[214] यह पश्चात्कालीन गर्भाधान का द्योतक है। विवाह के चार दिनों के उपरान्त के संभोग से स्पष्ट प्रकट होता है कि उन दिनों भी युवती कन्याओ का विवाह सम्पादित होता था। गौतम[215] के अनुसार युवती होने के पूर्व

ही कन्या का विवाह कर देना चाहिए। ऐसा न करने पर पाप लगता है। इसके साथ यह भी कहा है कि युवती हो जाने पर यदि पिता कन्या का विवाह करने मे अशक्त हो तो स्वय कन्या अपना विवाह रच सकती है। मनु[216] के मत से 30 वर्ष का पुरूष 12 वर्ष की लडकी से या 24 वर्ष का पुरूष 8 वर्ष की लडकी से विवाह कर सकता है। लगभग दूसरी शती आते कन्या का विवाह युवती होने से पूर्व कर देना आवश्यक हो गया था पराशर[217] के मत से 8 वर्ष की लडकी गौरी, 9 वर्ष की रोहिणी, 10 वर्ष की कन्या तथा इसके ऊपर रजस्वला कही जाती है। यदि कोई 12 वर्ष के उपरान्त अपनी कन्या को न ब्याहे तो उसके पूर्वज प्रति मास उस कन्या का ऋतुप्रवाह पीते है। माता-पिता तथा ज्येष्ठ भाई रजस्वला कन्या को देखने से नरक के भागी होते है। यदि कोई ब्राह्मण उस कन्या से विवाह करे तो उससे सम्भाषण नही करना चाहिए। उसके साथ पक्ति मे बैठकर भोजन नही करना चाहिए और वह वृषली का पति हो जाता है।[218] पूर्वमध्यकाल में भी कमोवेश यही स्थिति थी। कथासरित्सागर[219] में सोमदेव कहते है कि उस पाप से कैसे बचा जा सकता है जो पुत्री का विवाह न करने से प्राप्त हो रहा है। क्योंकि कन्या के पिता का घर उसके केवल बाल्यावस्था मे ही रहने के लिए उचित स्थान है; यदि कन्या अविवाहित ही रजस्वला हो जाती है तो उसके संबधी नरक के भागीदार होते है और वह जातिच्युत समझी जाती है।

संभवत इस काल मे अविवाहित कन्याओं का क्रय-विक्रय होने लगा था तभी इस युग मे कन्याओ के विक्रय को बहुत बुरी दृष्टि से देखा गया।[220] अग्निपुराण[221] मे ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक व्यक्ति तो उसकी जाति से च्युतकर दिया गया क्योंकि वह एक अन्य व्यक्ति से उसकी पुत्री का सौदा कर रहा था।

समाज मे कुवॉरी कन्याओ को भी उच्च स्थान प्राप्त था जो आजीवन कुवॉरी रहती थी। यदि कोई उनको बदनाम करना चाहे तो उसके ऊपर दण्ड लगाया जाता था। मनु[222] ने इसके लिए एक सौपण का विधान किया है। जबकि मेधातिथि[223] का कथन है कि मनु द्वारा लगाया गया दण्ड काफी कम है, यदि बदनाम करने का प्रयास गहरा है यदि उसके कुवरत्व की पवित्रता पर चोट की जाती है तब अपराधी को कठोर

दण्ड मिलना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि मनु और 9वी शती के उसके टीकाकार आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत रखने वाली स्त्रियो के सम्मान के लिए कितने सजग थे।

पत्नी के रूप मे:

समाज मे स्त्रियों को पत्नी के रूप मे क्या स्थान प्राप्त थी? इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है। अनेक स्थलो[224] पर पत्नी पति की अर्द्धांगिनी कही गई है। वैदिक काल मे स्त्रियो ने ऋग्वेद की ऋचाये बनायी, वेद पढे तथा पतियो के साथ धार्मिक कृत्य किये । कामसूत्र[225] ने स्त्रियो को पुरूषो के समान माना है। एक-दो अपवादो को छोडकर स्त्रियो को किसी भी दशा मे मारना वर्जित था। हिन्दू समाज मे विवाहित स्त्री का दूसरे पुरूष के साथ गमन घोर पाप समझा गया है तथा ऐसी त्रुटि के लिए व्यवस्थाकारो ने उदारवादी दृष्टिकोण अपनाकर प्रायश्चित करने का निर्देश दिया है। गौतम[226] एव मनु[227] ने व्यवस्था दी है कि यदि स्त्री अपने से नीच जाति के पुरूष से अवैध रूप से सभोग करे तो उसे कुत्तो द्वारा नुचवा कर मार डालना चाहिए। आगे चलकर इस दण्ड को और सरल कर दिया गया और केवल परित्याग का दण्ड दिया जाने लगा।[228] बौधायन के विचार से दुश्चिरिता स्त्री की शुद्धि प्रति मास होने वाले उसके रजस्राव से हो जाती है जिससे उसका पाप और मल दूर हो जाता है।[229] अत्रि[230] एव देवल[231] जैसे स्मृतिकारों ने यह कहकर अति उदारता का परिचय दिया कि यदि कोई स्त्री परजाति के पुरूष से संभोग कर ले और उसे गर्भ रह जाय तो वह जातिच्युत नही होती केवल बच्चा जनने या मासिक धर्म प्रकार होने तक अपवित्र रहती है। पूर्वमध्य काल आते-आते उदारवादी विचारो के साथ कुछ कठोरता भी दृष्टिगत होने लगी क्योंकि याज्ञवल्क्य पर टीका करते हुए विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा[232] मे कहा है कि यदि स्त्री अपनी दुश्चरित्रता दुहराये तब उसका परित्याग कर देना चाहिए। किन्तु शूद्र के साथ भेदभाव वैसा ही था। शूद्र के साथ व्यमिचार करने वाली ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की स्त्रियों को यौन सबंध से संतान न हो तो प्रायश्चित से वे शुद्ध की जा सकती है किन्तु दूसरे प्रकार से नहीं।[233] अब पत्नी के त्याग से यह अर्थ नहीं कि उसका परित्याग कर देना चाहिए बल्कि धार्मिक और दाम्पत्य कृत्यों से उसे अलग कर देना था। व्यास के विचार से तत्कालीन उदारवादी तथ्य

प्रकट होते है जिनके अनुसार दुश्चरित्रा आगामी ऋतुकाल के पश्चात् पवित्र हो जाती है। तदनतर उसके साथ पूर्ववत् व्यवहार करना चाहिए।[234]

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे जहाँ व्यभिचारिणी स्त्री के लिए कुत्ते से नुचवा कर मरवा डालने का विधान था। वही पूर्वमध्य काल मे इस विचारधारा मे काफी ढील आ गई। अब कैसी भी व्यभिचारिणी स्त्री के लिए मृत्युदण्ड नही था, केवल परित्याग था वह भी अगामी ऋतुकाल तक के लिए यहाँ तक शूद्र से सभोग होने पर भी व्यभिचारिणी स्त्री क्षम्य थी यदि उसे इस सभोग से गर्भ न ठहर गया हो। इसे एव उपपातक के रूप मे लिया गया और पत्नी द्वारा उपयुक्त प्रायश्चित करने पर क्षम्य हो सकता है।

स्त्रियों का सम्पत्ति में अधिकार

पुत्री रूप में:

प्राचीन काल से आज तक कभी भी स्त्रियाँ पूर्ण रूप से आर्थिक तौर पर आत्मनिर्भर नही हुई। इसलिए प्राचीन व्यवस्थाकारो ने सम्पत्ति मे उनका हिस्सा माना है। स्त्री का सम्पत्ति मे अधिकार तीन रूपों मे सभव था पुत्री का पिता की सम्पत्ति मे, पत्नी का पति की सम्पत्ति मे एवं विधवा का परिवारिक सम्पत्ति मे हिस्सा। ऋग्वैदिक काल से ही सम्पत्ति में उनका हिस्सा रहता था बौधायन धर्मसूत्र[235] के अनुसार परिवार मे वह पुत्र से किसी प्रकार कम नही समझी जाती रही। ऋग्वेद[236] मे उल्लिखित है कि पुत्री दत्तक पुत्र से श्रेष्ठ समझी जाती थी ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थल पर दिया है कि अपने भाई के न रहने पर वह अपने पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी मानी जाती थी। इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग मे पिता की सम्पत्ति में विशेष परिस्थितियों मे पुत्री का हिस्सा माना जाता था। दूसरी सदी ई0पू0 में आकर स्त्री शिक्षा पर अनेक प्रतिबन्ध लग गए, जिनके कारण स्त्री का सम्पत्ति विषयक अधिकार भी कम हो गया। इस समय के धर्मशास्त्रकारों ने पिता की सम्पत्ति में पुत्री के अधिकार को, भाई के न रहने पर अस्वीकार कर दिया । आपस्तम्ब[238] ने पुत्री के अधिकार से ज्यादा सपिण्ड या गुरू या शिष्य के अधिकार को महत्व दिया। उन्होने यह व्यवस्था दी कि

उत्तराधिकारी के अभाव मे जब गुरू – शिष्य या सपिण्ड न हो तब ही पुत्री उत्तराधिकारी हो सकती है, यद्यपि उसने पुत्री को उत्तराधिकारी न स्वीकार करके सारी सम्पत्ति धर्मकार्य मे लगा देने के लिए निर्देश दिया है। वसिष्ठ[239], गौतम[240] एव मनु[241] ने भी उत्तराधिकारिणी के रूप मे पुत्री के अधिकार और उसके उत्तराधिकारी के अधिकार को नहीं स्वीकार किया है, जबकि दूसरे शास्त्रकारो के एक वर्ग ने स्त्री के अधिकार को उदारतापूर्वक स्वीकार किया है। कौटिल्य[242] ने पुत्री के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते हुए कहा है कि अभ्रातृ कन्या को उत्तराधिकार मिलना चाहिए, चाहे उसे कम ही हिस्सा क्यो न मिले। याज्ञवल्क्य[243] पुत्री के अधिकार के मत का समर्थन करते हुए दृढ हुए कि पुत्र और विधवा के अभाव मे पुत्री ही उत्तराधिकारिणी है। बृहस्पति[244] एव नारद[245] ने भी पुत्री के अधिकार पर ही बल देते हुए कहा कि क्या पुत्री अपने पिता की पुत्र के समान सतान नही है? फिर पुत्र के न होने पर उसके उत्तराधिकार को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है इस आधार पर कात्यायन[246] जैसे व्यवस्थाकारो ने अपने विचारो का विकास किया तथा पुत्र के अभाव में पुत्री के उत्तराधिकारी होनेका मत प्रतिपादित किया।

अलबरूनी[247] ने भी पूत्र के अभाव मे पिता की सम्पत्ति मे पुत्री के उत्तराधिकारिणी होने के नियम की पुष्टि की है । जीमूतवाहन ने दायभाग[248] एव विज्ञानेश्वर[249] ने मिताक्षरा मे कन्या को पुत्र के हिस्से का चौथाई पाने की संस्तुति की है। मनुस्मृति पर टीका करते हुए कुल्लूकभट्ट[250] भी कहते है कि अविवाहित कन्या एक चौथाई, आधा या अपने भाई के बराबर हिस्सा प्राप्त करती है। किन्तु इसके लिए यह आवश्यक था कि कन्या जीवनपर्यन्त अविवाहित रहे। इसी प्रकार विष्णु[251] और नारद[252] ने कन्या के हिस्से का समर्थन तो किया है; किन्तु उसके द्वारा अपने हिस्से को ले जाने का अनुमोदन नही किया है।

विधवा रूप में:

विधवा का सम्पत्ति मे क्या अधिकार होता है ? इसपर व्यवस्थाकारों के भिन्न-भिन्न मत है। यद्यपि वैदिक साक्ष्य इसके विरूद्ध है। संहिताओ[253] और ब्राह्मण ग्रथों[254] में पति की सम्पत्ति पर विधवा के अधिकार को स्वीकार नहीं किया गया है। दूसरी सदी ई0पू0 तक विधवा के सम्पत्ति पर अधिकार को मान्यता नहीं मिली थी। आपस्तम्ब[255] ने यह

मत व्यक्त किया है कि व्यक्ति की मृत्यु के बाद पुत्र के अभाव मे उसका उत्तराधिकारी सपिण्ड व्यक्ति होता है, इसके न रहने पर मृत व्यक्ति के आचार्य या उसके न रहने पर उसका अन्तेवासी सम्पत्ति का अधिकारी होता है। मनु[256] के अनुसार पुत्र के अभाव मे पुरूष के धन का भागी पिता या भाई था। मनु इसमे आगे कहते है कि अगर ऐसा कोई उत्तराधिकारी नही था तो सपिण्डो मे निकट सबधी मृतक के धन का भागी था तथा इसके अभाव मे क्रमश समानोदक (सजातीय), आचार्य तथा शिष्य मृत व्यक्ति के धन का भागीदार था।[257] मनु के पर भास्य करते हुए मेधातिथि[258] ने लिखा है कि सम्पत्ति मे विधवा कही भागीदार नही होती। इसके साथ ही एक उदारवादी विचारधारा भी चल रही थी जिसके अनुसार पति की मृत्यु के बाद विधवा के भरण-पोषण के लिए कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य करना चाहिए। इसी विचारधारा के समर्थक कौटिल्य[259] का मत है कि सम्पत्ति मे विधवा का भी भाग होता है। गौतम[260] ने भी सपिण्डो गोत्रियो और सबंधियों के साथ विधवा के समान भाग को माना है। पूर्वमध्यकाल के व्यवस्थाकार दायभाग के रचयिता जीमूतवाहन[261] एव मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर[262] के अनुसार मृत पति के सम्पूर्ण धन को पुत्र के अभाव में विधवा प्राप्त करती है। इससे स्पष्ट है कि पूर्व मध्यकाल में निश्चय ही स्त्री के प्रति सहानुभूति और स्नेह का वातावरण निर्मित था। विशेषकर उसके आर्थिक जीवन को अधिक सुगम और स्थिर बनाने के विचार से शास्त्रकारो ने सम्पत्ति मे उसके अधिकार को स्वीकार किया।

पत्नी का सम्पत्ति विषय अधिकार

स्त्रीधन:

प्राचीन काल से लेकर वर्णित काल तक के अध्ययनो से ज्ञात होता है कि पत्नी को स्वतन्त्ररूप से सम्पत्ति पर कोई कानूनी अधिकार नही था। मेधातिथि[263] ने मनु पर टीका करते हुए यहाँ तक लिखा है कि पत्नी, गुलाम और पुत्र के पास अपना कुछ नही होता है जो कुछ वे प्राप्त करते हैं वह अपने स्वामी से प्राप्त करते है। एक पत्नी केवल 'स्त्रीधन' नाम की सम्पत्ति पर ही पूर्ण रूप से दावा कर सकती है।[264] स्त्रीधन को दो वर्गों में बांटा गया है- सौदायिक और असौदायिक। प्रथम सौदायिक में सभी उपहार सम्मिलित हैं जो कन्या अपने मात-पिता,

सबधियो एव पति से स्नेहवश प्राप्त करती है। इन उपहारो पर उस स्त्री का सम्पूर्ण अधिकार रहता है जो इसे प्राप्त करती है।[265] असौदायिक मे वह बडी चल-अचल सम्पत्ति शामिल होती है जो उसे उसके पति द्वारा प्राप्त होती है। स्त्री इसका अपने जीवनपर्यन्त आनन्द उठा सकती है किन्तु इसे क्रय-विक्रय या फेकने का उसे अधिकार नही होता है।[266] विचारकों में 'स्त्रीधन' के अन्तर्गत कया सम्मिलित होता है? इस पर किसका अधिकार है ? इस मत पर मतभेद है। कुछ विचारको का मत है कि इसे व्यापक दृष्टिकोण से देखना चाहिए कि इस पर स्त्री का उस सीमा तक अधिकार होना चाहिए कि उसके पति को उस पर हाथ लगाने का कोई अधिकार न रहे।[267] कात्यायन[268] इस सदर्भ मे कहते है कि कोई स्त्री शादी के पहले या शादी के बाद, चाहे पति या पिता को केवल ज्ञात हो, अपने स्वामी या अपने माता-पिता से स्नेहवश प्राप्त करती है, उपहार कहलाता है (सौदायिक) और ऐसा उपहार जो वह अपने स्वभाववश प्राप्त करती है वह उसके साथ ही रहता है और कानून द्वारा भी स्त्री की सम्पत्ति घोषित है। ऐसे सम्पूर्ण स्वत्व वाली सम्पत्ति का स्वागत होना चाहिए जिसको स्त्री पूर्ण रूप से अपनी इच्छानुसार खरीद-बेच सकती है; इसमे भूमि या मकान भी सम्मिलित हो सकते है। इस सम्पत्ति के प्रयोग पर न तो पिता का, न पति का और न ही भाई का कोई कानूनी अधिकार होता है। श्रीमूतवाहन[269] ने अपने दायभाग मे कहा है कि स्त्रीधन को बढाना अनैतिक है और उन्होने स्त्रियो के अचल सम्पत्ति के खरीद-फरोख्त के अधिकार को कम कर दिया, जिसकी कात्यायन ने अनुमति दी थी। यह भी घोषित किया गया कि पति को कोई अधिकार नहीं है कि वह पत्नी की सम्पत्ति पर हाथ लगाये जब तक कि पति उसे उसके लिए प्रयोग करने के लिए दबाव न डाले किन्तु पति को यह ब्याज सहित लौटाना पडता था। पति अपने पुत्र को कठिनाई से निकालने मे ही पत्नी की सम्पत्ति का प्रयोग कर सकता है।[270] याज्ञवल्क्य, कात्यायन एवं देवल द्वारा जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये है वह एक आदर्श एव कानून के रूप मे बाद के युगो तक स्वीकारे गये है। मिताक्षरा, दायभाग, स्मृतिचन्द्रिका एवं व्यवहारमयूख मे उनका समर्थन किया गया है।[271]

इस तरह हम मान सकते है कि पति, पत्नी का स्त्रीधन (सौदायिक) प्रयोग कर सकता है केवल पत्नी की सहमति से । जहाँ तक

अधिकार का प्रश्न है यह केवल कठिन परिस्थिति तक ही सीमित था। इस प्रकार स्त्री को विवाह की पवित्रता के कारण यह अधिकार प्राप्त था कि एक सीमा तक पति की सब सम्पत्ति पर उसका स्वत्व हो किन्तु पति को पत्नी की सम्पत्ति पर ऐसा कोई अधिकार नही था।[272]

शास्त्रकारो ने स्त्रीधन की अधिकारिणी पुत्री को ही बताया है। इस सदर्भ मे विज्ञानेश्वर[273] का कथन है कि 'यह उचित है कि पुत्री को ही माता का स्त्रीधन प्राप्त हो, क्योकि पुरूष का शुक्र अधिक होने से पुमान् (पुरूष) उत्पन्न होता है, स्त्री का रज अधिक होने से पुत्री, अत. कन्या मे स्त्री के अवयव अधिक होने के कारण मातृधन उनको प्राप्त होता है पुत्र में पुरूष का अवयव अधिक होने से पितृधन पुत्र को मिलना है।[274] पराशर[275] ने भी लिखा है कि अप्रदत्ता (अविवाहित) कन्याओ को ही स्त्री धन मिलना चाहिए, पुत्र को नही। यदि कन्याएं विवाहित हो तो उनको समान भाग मिलना चाहिए। किन्तु मिताक्षरा के अनुसार दोषपूर्ण और अवगुण युक्त कन्याओ को स्त्रीधन न देने का विधान शास्त्रकारो ने किया है।

हिन्दू समाज मे स्त्रीधन समाज मे स्त्रियो की स्थिति की ओर संकेत करता है। स्त्री के अधिकार को लेकर दो वर्ग बन गये थे । एक उदार दूसरा अनुदार। विपत्तिकाल मे, पति की मृत्यु या विछोह में जब कोई संबंधी स्त्री का साथ नही देता था तब यह स्त्रीधन ही उसके भरण-पोषण मे सहायक होता था। अत· उदार व्यवस्थाकारो ने नारी को पुरूष के समान अधिकार प्रदान करते हुए उसके अधिकारो को स्वीकार किया है।

पत्नी के कर्त्तव्य.

याज्ञवल्क्य[276] के अनुसार पत्नी का प्रथम और सबसे जरूरी कर्त्तव्य हमेशा पति की सेवा मे रहना, आज्ञा मानना और उसे सम्मान देना है। कथा सरित्सागर[277] में सोमदेव भी ऐसे ही विचार प्रस्तुत करते है। सोमदेव आगे कहते है कि कुलीन परिवार की औरतें अपने पति की पूजा करती है, पत्नियों के लिए पति ही सर्वोच्च है। एक स्त्री अपने प्रिय पति को देखभाल एवं स्नेह देकर सर्वाधिक आनद प्राप्त करती है, और प्रश्न किये बिना पति की सभी आज्ञाओं का पालन करती हैं, यहाँ तक कि स्वंय के आराम की परवाह भी नहीं करती।[279] महिपाल-I के बांगध कांस्य

पत्र अभिलेख[280] से पता चलता है कि एक आर्दश पत्नी अपने पति का हृदय (पति की अन्य पत्नियो को अप्रसन्न किये बिना) अपनी की जादुई शक्ति से जीतना चाहती है । यह बहुत प्रचलित[281] था कि अपनी सच्ची सेवा से ईश्वर से अद्वितीय शक्तियो का उपहार प्राप्त करती है।

भारतीय धर्मशास्त्र मे नारी सर्व शक्ति सम्पन्ना मानी गई तथा विद्या, शील, ममता, यश और सम्पत्ति का प्रतीक समझी गई है। अर्थववेद[282] के अनुसार उसे गृह की साम्राज्ञी के रूप मे प्रतिष्ठापित किया गया तथा घर के अन्य सदस्यो को उसके शासन मे रहने के लिए निर्देशित किया गया। शतपथ ब्राह्मण[283] एव मनुस्मृति[284] के काल तक उसका महत्व इतना बढ गया कि उसके बिना अकेला पुरूष अपूर्ण और अधूरा समझा गया। 'पुरूष' शब्द की निर्मिति स्त्री, सतान और व्यक्ति की समष्टि से मानी गई। शास्त्रकारो का कथन है कि केवल पुरूष कोई वम्तु नहीं, अर्थात् वह अपूर्ण ही रहता है, किन्तु स्त्री, स्नेह तथा संतान, ये तीनों मिलकर ही पुरूष (पूर्ण) होता है और जो पति है, वही स्त्री है, अतएव उस स्त्री से उत्पन्न सतान उस स्त्री के पति की होती है।[285] इस प्रकार स्त्री पुरूष की 'शरीरार्द्ध' और 'अर्द्धांगिनी' मानी गई तथा 'श्री' और 'लक्ष्मी' के रूप मे वह मनुष्य के जीवन को सुख और समृद्धि से दीप्ति और पुजित करने वाली कही गई।[286] पुरूषो की तुलना मे वह किसी प्रकार निम्न और अनुन्नत नही थी। नववधू श्वसुर गृह की साम्राज्ञी होती थी।[287] वह पति के साथ प्रत्येक कार्य मे सहयोग करती थी। वह पति के साथ मिलकर गृह के याज्ञिक कार्य सम्पन्न करती थी।[288] तैत्तिरीय ब्राह्मण[289] के अनुसार वस्तुत स्त्री और पुरूष दोनो यज्ञ-रूपी रथ के जुडे हुए दो बैल है। शतपथ ब्राह्मण[290] के अनुसार यज्ञ मे उसकी उपस्थिति की अनिर्वायता उसकी 'पत्नी' सज्ञा चरितार्थ करती है। तथा उसके दाम्पत्य का 'जाया' स्वरूप मूर्त करती है। शिक्षित कन्या की प्राप्ति के लिए विशेष अनुष्ठान की आयोजना की जाती थी।[291] किन्तु इस युग में धीरे-धीरे वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता बढ़ती गई और याज्ञिक कार्यो में शुद्धता और पवित्रता के नाम पर आडम्बर बढता गया। फलस्वरूप कालान्तर में आकर स्त्रियो को याज्ञिक कार्यो से अलग रखने का उपक्रम किया जाने लगा तथा उन्हें वैदिक मंत्रों के उच्चारण के उपयुक्त नहीं माना गया। सूत्रों और स्मृतियो के

काल मे आकर उनकी स्थिति और दयनीय हो गई जिससे वे अधिकारहीन, परतन्त्र और बेसहारा हो गई। मनुस्मृति[292] के अनुसार जन्म से मृत्यु तक उन्हे पुरूष के नियन्त्रण मे रखने के लिए निर्देशित किया गया। कन्या, पत्नी और माता जैसी स्थितियो मे वे क्रमश पिता, पति और पुत्र द्वारा नियत्रित और सरक्षित मानी गई। इस सरक्षण का कारण सभवत. हर्षचरित[293] के इस उद्धरण मे मिल सकता है। कन्या किसी अनागत वर से नेय और उसकी धरोहर है, जिसको अक्षुण्ण प्रत्यर्पित करना है। यह स्मृति उसके उन्नयन काल मे पिता के मन पर सताप और बोझ की तरह रहती आई है। अत पिता अथवा अभिभावक के लिए वह यौवनारम्भ के समय से एक समस्या भी बनती गई। गुप्त युग मे पुन कन्या को शक्ति के रूप मे 'प्रतिष्ठित' किया गया, उसे गौरी और 'भवानी' का रूप प्रदान किया गया। किन्तु पिता पर उसके दायित्व का बोझ सदैव रहा पूर्वमध्यकाल तक आकर उस पर नियन्त्रण और कठोर हो गए तथा उस पर पुरूष का पूर्णत एकाधिकार मान लिया गया। धर्म और समाज के सरक्षण के बहाने स्त्रियों को सुरक्षित रखने के लिए अनेक ऐसी व्यवस्थाओ का नियमन हुआ जिनसे स्त्रियो की दशा निरन्तर दयनीय होती गई।

भारतीय इतिहास मे स्त्री को पत्नी के रूप में सर्वाधिक सम्मानजनक स्थान प्राप्त हुआ है जो प्रत्येक क्षेत्र मे पति के साथ रहती है। मेधातिथि[294] के अनुसार पत्नी बिना घर एक रेगिस्तान होता है और पत्नी के बिना, पति चाहे वह कितना ही धनी और सम्पन्न हो एक निर्धन के समान शक्तिहीन होता है। और इस कारण धन की देवी और अपने घर मे पत्नी मे कोई अन्तर नही है इस काल के अभिलेखो में उनकी तुलना देवियों से की गई है। पालवश के राजा गोपाल- I की रानी की तुलना रोहिणी (चन्द्रमा की देवी), स्वाहा (अग्नि की देवी), सर्वाणि (शिव की पत्नी) एवं भद्रा (कुबेर की पत्नी) से की गई है।[295] मेधातिथि[296] के अनुसार कोई भी धार्मिक कृत्य तब तक पूर्ण नही हो सकता जब तक व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ न हो। इन सब से ऊपर स्त्री एक पत्नी की क्षमता मे विश्व के अस्तित्व का निर्माण करने में लगी होती है।[297] इस काल की स्मृतियो एव पुराणों मे स्त्रियों को मनुष्य के अच्छे आधे भाग के रूप मे सम्मान प्राप्त था।[298]

विधवा का जीवन·

ऋग्वेद[299] मे आया है कि मारूतो की अति शीघ्र गतियो से पृथ्वी पतिहीन स्त्री की भॉति कापती है। इस उद्धरण से विधवाओ की निर्बल स्थिति का पता चलता है किस तरह विधवाये समाज मे डर-डर कर जीवन व्यतीत करती थी। प्राचीन काल से लेकर पूर्व मध्यकाल के शास्त्रकारो ने विधवाओ के लिए कठोर जीवन आदर्श प्रस्तुत किये। बौधायन[300] के अनुसार विधवा को सालभर तक मधु, मॉस, मदिरा एव नमक छोड देना चाहिए तथा भूमि पर शयन करना चाहिए। मनु[301] की बताई हुई व्यवस्था अधिकाश स्मृतियो मे पाई जाती है, 'पति के मर जाने पर स्त्री, यदि वह चाहे तो, केवल पुष्पो. फलो एवं मूलो को ही खाकर अपना शरीर गला दे, (दुर्बल बना दे), किन्तु उसे अन्य व्यक्ति का नाम भी नही लेना चाहिए मृत्यु-पर्यन्त उसे सयम रखना चाहिए, व्रत रखने चाहिए, सतीत्व की रक्षा करनी चाहिए और पतिव्रता के सदाचरण एव गुणो की प्राप्ति की आकांक्षा करनी चाहिए। पति की मृत्यु के उपरान्त यदि साध्वी नारी अविवाह के नियम के अनुसार चले अर्थात् सतीत्व की रक्षा मे लगी रहे, तो वह पुत्रहीन रहने पर भी स्वर्गारोहण करती है, जैसा कि प्राचीन नैष्ठिक ब्रह्मचारियो (यथा सनक) ने किया था।'' पराशर[302] कात्यायन[303] ने भी मनु के समान विचार व्यक्त किया है । बृहस्पति के अनुसार "पति के मरने पर जो पतिव्रता साध्वी निष्ठा (ब्रह्मचर्य) का पालन करती है वह सब पापों को छोडकर पतिलोक को प्राप्त होती है। नित्य व्रत उपवास में निरत, ब्रह्मचर्य में व्यवस्थित दम और दान में रत स्त्री अपुत्रा होते हुए भी स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती है।[304] धर्मशास्त्रकारों ने उसके लिए अनेक नियम बताये और यह व्यवस्था दी कि वह न बाल सज्जित करे, न पान खाए, न सुगन्धित द्रव्य, फूल, अलकार का व्यवहार करे और न दिन मे दो बार खाए।[305]. बाण ने हर्षचरित[306] में लिखा है कि विधवाएँ अपनी ऑखो मे अंजन नहीं लगाती थी और न मुख पर पीला लेप ही करती थी, वे अपने बालों को यो ही बांध लेती थीं। प्रचेता[307] ने सयासियों एव विधवाओं को पान खाना, तेल बगैरह लगाकर स्नान करना एवं धातु के पात्रो मे भोजन करना मना किया है। पूर्व मध्यकाल में भी विधवाओं को अमंगल का प्रतीक माना जाता था। स्कन्दपुराण[308] में विधवाधर्म का लम्बा विवेचन है। यथा-अमगलों

मे विधवा सबसे अमगल है, विधवा-दर्शन से सिद्धि नही प्राप्त होती (हाथ मे लिया हुआ कार्य सिद्ध नही होता), विधवा माता को छोडकर सभी विधवाएँ अमगल की सूचक है, विधवा की आर्शीवादोक्ति को विज्ञजन ग्रहण नही करते, मानो वह सर्पविष हो।[308] पूर्व मध्यकाल मे विधवाओ के लिए जो कठोर नियम बने उनकी पृष्ठभूमि मे उनको प्राप्त आर्थिक अधिकार क्रियाशील थे ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक विधवाओ की स्थित अत्यन्त दयनीय थी, वह अमगल की सूचक थी और किसी भी उत्सव मे, यथा विवाह मे किसी प्रकार का भाग नही ले सकता थी। उसे पूर्ण रूप से साध्वी रहना पडता था चाहे वह बचपन मे ही विधवा क्यो न हुई हो। सम्पत्ति मे भी उसका पूरा-पूरा अधिकार नही था। यदि उसका पति पुत्रहीन मर गया तो उसे मौलिक रूप से उत्तराधिकार नही मिलता था। कालान्तर मे उत्तराधिकार के विषय मे उसकी स्थिति मे सुधार हुआ, किन्तु तब भी उसे केवल सम्पत्ति की आय मात्र मिलती थी, जिसे वह घर की वैधानिक आवश्यकताओं तथा पति के आध्यात्मिक लाभ के लिए ही हस्तान्तरित कर सकती थी। हिन्दू संयुक्त परिवार मे विधवा को केवल भरण-पोषण का अधिकार था। किन्तु वर्तमान काल मे विधवाओ की स्थिति मे अत्यन्त सुधार हुआ है। उनके कठोर जीवनचर्या के लिए कोई बाध्यता नही है और विधवा-पुनर्विवाह भी समाज मे होने लगे, सम्पत्ति पर भी उनके जीवित रहते पुत्रों का कोई अधिकार नही रहता, इस प्रकार अब विधवा किसी भी तरह अमगल का प्रतीक नही मानी जाती थी।

सती प्रथा

1829 विलियम बेंटिक के प्रयासो के बाद स्त्रियो के सती होने पर कानूनी रोक लगाई, उससे पहले विधवाओ का सती होना एक आम बात थी। सती होने की प्रथा प्राचीन यूनानियो, जर्मनो, स्लावो एवं अन्य जातियों में भी पायी जाती है।[310]

सती का शाब्दिक अर्थ 'अमर' अथवा 'सत्य' पर स्थिर रहने वाली है, जो पति-पत्नी का अटूट और अविच्छेद संबंध भी व्यक्त करता है। सती शब्द की अभिव्यक्ति के लिए प्राचीन साहित्य में अन्वारोहण (मृत पति के साथ चिता पर चढ़ना), सहगम (मृत पति का अनुगमन करना)

और अनुमरण (यदि पति की मृत्यु विदेश प्रवास काल मे हो गई हो तो उसका समाचार जानने के बाद, उसके पीछे मरना) आदि अनेक शब्द प्रचलित थे।

वैदिक साहित्य मे सती होने के विषय मे न तो कोई निर्देश मिलता है और न कोई मत्र ही प्राप्त होते है। गृहसूत्रो ने भी इसके विषय मे कोई विधि प्रस्तुत नही की है। ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की कुछ शताब्दियों पहले यह प्रथा ब्राह्मणवादी भारत मे प्रचलित हुई। विष्णु धर्मसूत्र[311] को छोडकर किसी अन्य धर्मसूत्र ने भी सती होने के विषय मे कोई निर्देश नही किया है। इस धर्मसूत्र मे लिखा है कि- "अपने पति की मृत्यु पर विधवा ब्रह्मचर्य रखती थी या उसकी चिता पर चढ जाती थी (अर्थात् जल जाती थी।") ग्रीक इतिहासकारो[312] ने भी सती प्रथा का सकेत दिया है। स्ट्रैबा[313] ने तक्षशिला की स्त्रियो के लिए लिखा है कि वे मृत पति के साथ चिता मे जल मरती थी। पंजाब की कठ जाति का मे सती प्रथा प्रचलन था।[314] अत स्पष्ट है कि सती प्रथा के ऐतिहासिक उदाहरण चौथी सदी ई0 पू0 से ही मिलते है, जिसका उल्लेख यूनानी लेखको ने किया है कालिदास ने इस प्रथा का सकेत 'पतिवर्त्मगा' पद द्वारा किया है।[315] और कहा है कि सती धर्म प्राणिमात्र ओर चेतनाहीनो के लिए भी स्वाभाविक था।[316] वात्स्यायनकृत कामसूत्र में उल्लिखित है कि नर्तकियाँ अपने प्रेमियो को सती होने का झूठा आश्वासन दिया करती थी।[317] बृहस्पति की दृष्टि में वैधव्य के ब्रह्मचर्य की स्थिति से सती होना अच्छा था।[318] व्यास और दक्ष ने सती धर्म को विधवा के जीवन का सर्वोत्तम विकल्प स्वीकार किया है।[319] वराहमिहिर ने बृहत्संहिता[320] में उन विधवाओ के साहस की प्रशसा की है जो पति के मरने पर अग्नि-प्रवेश कर जाती है। सती होने का प्रथम अभिलेखीय प्रमाण गुप्तकाल का है । एरण स्तम्भ्स अभिलेख[321] 510 ई0, जिसमें हूणो के विरूद्ध युद्ध में मृत सेनापति गोपराज की पत्नी अग्निराशि में प्रविष्ट होकर सती हो गयी थी । हर्षचरित से विदित होता है कि प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु के पहले ही उसकी पत्नी यशोमती अग्नि में प्रवेश कर चुकी थी। परवर्ती व्यवस्थाकारो ने भी सती प्रथा की प्रशंसा की है। कृत्यकल्पतरू[322] मे ब्रह्मपुराण का उद्धरण दिया गया है जिसके अनुसार "पति के मरने पर सती-स्त्रियो की दूसरी गति नहीं। भर्तृ-वियोग से उत्पन्न दाह का दूसरा कोई शमन नही। यदि

पति देशान्तर मे मरे तो साध्वी स्त्री उसकी पादुकाएँ अपने हृदय से लगाकर तथा पवित्र होकर अग्नि मे प्रवेश करे। विज्ञानेश्वर[323] ने मेधातिथि का विरोध करते हुए यह निर्देश दिया है कि सती प्रथा सभी वर्णो मे प्रचलित होनी चाहिए। राजतरगिणी[324] मे सती प्रथा के कई साक्ष्य मिलते है। उसके अनुसार शकर वर्मन के मर जाने पर उसकी सुरेन्द्रवती नामक प्रधान रानी के साथ तीन रानियो ने अन्वारोहण किया था कन्दर्प सिह के मृत होने पर उसकी भार्या सती हुई थी।[325] कथासरित्सागर[326] मे भी पति के मरने पर सती होने की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। नेपाली अभिलेख[327] से ज्ञात होता है कि राजा धर्मदेव के मरने पर उसकी पत्नी राज्यवती ने अन्वारोहण किया था। घटियाला (जोधपुर) अभिलेख[328] 810 ई0 राजपूत सामत राणक का उल्लेख करता है जिसके साथ उसकी पत्नी सम्पलदेवी ने सहगमन किया था। बेलरूत अभिलेख[329] (979 शक सवत्), जिसमें देकब्बे नामक शूद्र स्त्री अपने पति की मृत्यु पर माता-पिता के मना करने पर भी भस्म हो जाती है और उसमे माता-पिता उसकी समृति मे स्तम्भ खडा करते है। जहॉ पर मनुस्मृति इसके विषय में सर्वथा मौन है। महाभारत मे, यद्यपि रक्तरंजित युद्ध गाथाओं से भरा पडा है, फिर भी सती होने के बहुत कम उदाहरण दिये गये है- "पाण्डु की प्यारी रानी माद्री ने पति के शव के साथ अपने को जला दिया।[330] विष्णुपुराण[331] मे लिखा है कि कृष्ण की मृत्यु पर उनकी आठ रानियों ने अग्नि मे प्रवेश कर लिया। शांतिपर्व[332] में आया है कि एक कपोती अपने पति (कपोत) की मृत्यु पर अग्नि मे प्रवेश कर गयी। स्त्रीपर्व में मृत कौरवो की अन्त्येष्टि-क्रिया का वर्णन हुआ है; जिसमे कौरवों के रथो, परिधानो, आयधो के जला देने की बात आयी है, किन्तु पत्नियों के सती होने की बात पर महाभारत मौन है।

सिन्ध महामण्डलेश्वर राजमल्ल ने अपने सरदार बेचिराज की दो विधवाओ के, जो कि सती हो गयीं, कहने पर शक सवत् 1103 में एक मंदिर बनवाया।

जहॉ समाज मे सती प्रथा का समर्थन करने वाले धर्मशास्त्रकारो का एक विशाल वर्ग था वहीं प्रारम्भ से ही स्त्रियो के जीवित जलाने की इस अमानवीय प्रथा का विरोध करने वाले व्यवस्थाकार भी समय-समय पर उपस्थित हुए। मनुस्मृति सती के विषय में सर्वथा मौन

है, वही मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि[333] ने इस प्रथा का प्रबल विरोध करते हुए अपने मत के समर्थन मे वेदवाक्य उद्धत किया है, जिसके अनुसार, 'यद्यपि अंगिरा ने सती प्रथा के अनुसरण की अनुमति दी है, तथापि सही अर्थो मे यह आत्महत्या है, जो स्त्रियो के लिए पूर्णत निषिद्ध है। वेद में 'श्येनेमाभिरन् यजते' पाया जाता है, फिर भी यह धर्म नही समझा जाता (यह अभिचार या जादू है), अपितु अधर्म। यद्यपि सती का उल्लेख हुआ है, तथापि वस्तुत: यह अधर्म है। जो स्त्री शीघ्रता से अपने तथा अपने पति के लिए स्वर्ग पाने को उत्सुक है, वह अंगिरा के वचन का पालन तो करती है, परन्तु उसका आचरण अशास्त्रीय है। अपने पूर्ण विहित जीवन मे कर्त्तव्य कर्म का पालन करने के पूर्ण इस ससार का (बलात्) त्याग नही करना चाहिए। देवण भट्ट ने भी इस प्रथा की कटु आलोचना करते हुए अपना विचार व्यक्त किया है कि सती होना विधवा के ब्रह्मचारिणी रहने की अपेक्षा अधिक जघन्य है।[334] इन शास्त्रकारो और भाष्यकारो में पूर्व महाकवि बात ने भी सती प्रथा का कडा विरोध किया है और इस कार्य को जघन्य बताते हुए भर्त्सना की है। उसका मत है कि स्त्री सती होकर आत्महत्या करती है। इस पाप के कारण वह नरक मे गमन करती है।[335] मृच्छकटिक में भी सती प्रथा की भर्त्सना और निदा की गई है।[336] महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार मोह के वशीभूत होकर चितारोहण करने वाली नारी नरकगामिनी होती है।[337]

यात्रियो एव अन्य लोगों के लेखों से पता चलता है कि सती प्रथा बद होने के पूर्व की शताब्दियो मे देश के अन्य भागों की अपेक्षा बगाल की विधवाएँ अधिक सख्या में जला करती थी। इसके पर्याप्त कारण भी विद्यमान थे। बंगाल मे, दायभाग का प्रचलन था, जिसके अनुसार पुत्रहीन विधवा को सम्पत्ति में वही अधिकार प्राप्त थे जो उसके पति को प्राप्त थे। सम्पत्ति के लालच में अन्य परिवार जन विधवा को सती होने के लिए उत्तेजित कर देते थे। यह तथ्य दायभाग में भी उल्लिखित है[338] कि बहुधा सम्पत्ति में से स्त्री को हिस्सा न देने के उद्देश्य से लोभवश सती होने के लिए उसे विवश कर दिया जाता था।

विधवा पुनर्विवाह:

'पुनर्भू' शब्द उस विधवा के लिए प्रयुक्त होता है, जिसने पुनर्विवाह किया है। इसकी प्राचीनता के संदर्भ में मतभेद हैं, ऋग्वेद के

एक श्लोक[339] का अर्थ सायण ने मृत पति के भाई द्वारा उसकी पत्नी को विवाह के लिए निमन्त्रण देना समझा है किन्तु अन्य विद्वानो से इसे स्वीकार नही किया है। अर्थववेद मे एक स्थल पर-आया है- यदि कोई स्त्री पहले दस ब्राह्मण पति करे, किन्तु अन्त मे यदि वह ब्राह्मण से विवाह करे, तो वह उसका वास्तविक पति है। केवल ब्राह्मण ही (वास्तविक) पति है, न कि क्षत्रिय या वैश्य, यह बात सूर्य पच मानवो (पंच वर्गो या पच प्रकार के मनुष्य गणो मे) मे घोषित करता चलता है अर्थववेद[340] मे पुन. एक स्थल पर आया है कि यदि कोई स्त्री एक पति से विवाह करने के उपरान्त दूसरे से विवाहित होती है, यदि वे (दोनों) एक बकरी और भात की पाच थालियॉ देते है, तो दोनो एक-दूसरे से अलग नही होगे। दूसरा पति अपनी पुनर्विवाह पत्नी के साथ वही लोक प्राप्त करता है, यदि वह पाच भात की थालियो के साथ एक बकरी देता है तथा दक्षिणा जयोति (शुल्क का दीपप्रकाश) प्रदान करता है। "यहॉ पर भी पुनर्भू शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन सकेतों से भी विधवा विवाह का पता चलता है। साथ ही यह भी स्पष्ट लक्षित होता है कि इस प्रकार का विवाह तब तक अच्छा नही गिना जाता था जब तक कि कन्या का पाप या लोकापवाद यज्ञ से दूर न कर दिया जाए। किन्तु यह एकदम स्पष्ट दृष्टिगत होता है कि अर्थववेद के मत मे विधवा का पुन. विवाह निषिद्ध एव वर्जित नही माना जाता था। तैत्तिरीय सहिता[341] में दैधिषव्य (विधवा पुत्र) शब्द आया है। गृहसूत्र विधवा विवाह के विषय मे मौन है। लगता है तब तक विधवा विवाह का प्रचलन खत्म हो चुका रहा होगा।

नारद[342] मे सात प्रकार की पत्नियों में एक पत्नी वह भी बताई है जो पहले किसी व्यक्ति से विवाहित (परपूर्वा) हो चुकी है। उनमे पूनर्भू के तीन प्रकार होते है। (1) वह जिसका विवाह मे पाणिग्रहण हो चुका है, किन्तु समागम न हुआ हो; इसके विषय मे विवाह एक बार पुन. होता है; (2) वह स्त्री, जो अपने पति के साथ रहकर उसे छोड दे ओर अन्य भर्ताकर ले किन्तु पुन अपने मौलिक पति के यहॉ चली आये, (3) वह स्त्री, जो अपने पति की मृत्यु के उपरान्त उसके सबंधियों द्वारा देवर के न रहने पर किसी सपिण्ड को या उसी जाति वाले किसी को दे दी जाए। याज्ञवल्क्य[343] ने पुनर्भू को दो वर्गो में बांटा है- (1) वह, जिसका पति से अभी समागम न हुआ हो। (2) वह, जो समागम कर चुकी हो,

इन दोनो का विवाह पुन होता है (पुनर्भू वह है, जो पुन सस्कृता हो)। द्वितीय पति या द्वितीय विवाह से उत्पन्न पुत्र को 'पौनर्भव' (क्रम से पति या पुत्र, यथा पौनर्भव पति, या पौनर्भव पुत्र) की सज्ञा दी जाती है।[344] काश्यप[345] के अनुसार पुनर्भू के सात प्रकार है- (1) वह कन्या, जो विवाह के लिए प्रतिश्रुत हो (2) वह, जो मन से दी जा चुकी हो (3) वह, जिसकी कलाई मे वर द्वारा कगन बाध दिया गया हो, (4) वह, जिसका जल के साथ (पिता द्वारा) दान हो चुका हो, (5) वह, जिसका वर द्वारा पाणिग्रहण हो चुका हो, (6) वह, जिसने अग्नि-प्रदक्षिणा कर ली हो तथा (7) जिसे विवाहोपरान्त बच्चा हो चुका हो। इनमे प्रथम पॉच प्रकारो से यह समझाना चाहिए कि वर या तो मर गया या उसने आगे की वैवाहिक क्रिया नही की और लौट गया। इन लडकियो को भी, इनका पुनर्विवाह हो जाने पर, पुनर्भू कहा जाता है, यद्यपि इनका प्रथम विवाह नही था, क्योंकि सपृपदी सम्पन्न नहीं हुई थी। बौधायन[346] द्वारा उपस्थापित प्रकारों मे थोडी सी विभिन्नता है। प्रथम दो कश्यप के प्रकार जैसे है- अन्य प्रकार है- (3) वह जो (वर के साथ) अग्नि की प्रदक्षिणा कर चुकी हो, (4) वह, जिसने सप्तपदी समाप्त कर ली है, (5) वह जिसने सम्भोग कर लिया हो, चाहे विवाहोपरान्त या बिना विवाह के ही; (6) वह, जो गर्भवती हो चुकी हो तथा (7) वह जिसे बच्चा उत्पन्न हो गया हो। मनु[347] ने नियोग के नियमो को केवल उस कन्या तक सीमित माना है जो केवल वाग्दत्ता मात्र थी। वशिष्ठ धर्मसूत्र[348] ने वागदत्ता एव उदकस्पर्शिता (जो मन से जलस्पर्श करके दी जा चुकी हो) को वेदमन्त्रोच्चारण के पूर्व अभी कुमारी ही माना है। वशिष्ठ धर्मसूत्र[349] मे पौनर्भव को उस स्त्री का पुत्र कहा गया है जो या अपने नपुंसक, जातिच्युत या पागल पति को त्याग कर या अपने पति की मृत्यु पर दूसरा पति कर लेती है । धर्मसूत्र[350] ने पौनर्भव पुत्र को उस स्त्री का पुत्र माना है जो अपने नपुसक, या जातिच्युत पति को छोडकर अन्य पति करती है नारद[351], पराशर[352] एव अग्निपुराण[353] में एक ही श्लोक आया है, यथा, "नष्टे मृते प्रव्रजिते-क्लीबे च पतिते: पतों। पंजचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।।'' नारद में इसका अर्थ है- पाच विपत्तियों मे स्त्रियो के लिए द्वितीय पति आज्ञापित है; जब पति नष्ट हो जाए, (उसके विषय मे कुछ सुनाई न दे) मर जाए, सन्यासी हो जाए, नपुंसक हो या पतित हो।'' पराशर[354] ने इसके साथ

यह भी कहा कि यह बात या स्थिति किसी अन्य युग के समाज की है, इसका कलियुग मे कोई उपयोग नही है। मेधातिथि[355] ने लिखा है कि पति शब्द का अर्थ केवल 'पालक' है। एक अन्य स्थल[356] से पता चलता है कि मेधातिथि नियोग के विरोधी नही है, किन्तु विधवा के पुनर्विवाह के कट्टर विरोधी है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र[357] ने पुनर्विवाह की भर्त्सना की है- यदि कोई पुरूष, उस स्त्री से, जिसका कोई पति रह चुका हो, या जिसका विवाह सस्कार न हुआ हो, या जो दूसरे वर्ण की हो, सम्भोग करता है तो पाप का भागी होता है, और उसका पुत्र भी पाप का भागी कहा जायेगा। हरदत्त[358] ने मनु की व्याख्या मे लिखा है कि दूसरे की पत्नी से, जिसका पति जीवित हो, उत्पन्न किया हुआ पुत्र 'कुण्ड' तथा उससे जिसका पति मर गया हो, उत्पन्न किया हुआ पुत्र 'गोलक' कहलाता है। मनु[359] पुनर्विवाह का विरोध किया है - सदाचारी नारियो के लिए दूसरे पति की घोषणा कही नही हुई है । यही बात विभिन्न[360] स्थलो पर मनुस्मृति मे कही गई है। सस्कार प्रकाश ने कात्यायन का मत प्रकाशित किया है कि उन्होने सगोत्र में विवाहित विधवा के पुनर्विवाह की बात चलायी है, किन्तु अब यह मत कलियुग मे अमान्य है। मनु[361] ने उस कन्या के पुन विवाह के सस्कार की बात उठायी है, जिसका अभी समागम न हुआ हो, या जो अपनी युवावस्था का पति छोडकर अन्य के साथ रहकर पुन: अपने वास्तविक पति के यहॉ आ गई हो। काणे[362] के अनुसार मनु जी विधवा के पुनर्विवाह के कट्टर विरोधी है। स्पष्ट है, मनु ने पुनर्विवाह मे मत्रो के प्रयोग का विरोध नहीं किया है, प्रत्युत मत्रों से अभिषिक्त पुनर्विवाह को अधर्म माना है। बौधायन धर्मसूत्र[363] बशिष्ठ धर्मसूत्र[364], याज्ञवल्क्य[365] ने पुनर्विवाह के सस्कार की बात कही है। किन्तु फिर भी पुनर्विवाह को अच्छी दृष्टि से नही देखा जाता था, तभी मनु[366] एवं याज्ञवल्क्य[367] ने श्राद्ध मे न बुलाये जाने वाले ब्राह्मणों मे पौनर्भव (पुनर्भू के पुत्र) को भी गिना है। अपरार्क द्वारा उद्धत ब्रह्मपुराण[368] मे यह आया है कि बाल विधवा, या जो बलवश त्याग दी गयी हो, या किसी के द्वारा अपहृत हो चुकी हो, उसके विवाह का संस्कार हो सकता है।

इस प्रकार विश्लेषण से स्पष्ट है कि पुनर्विवाह वैदिक काल से हो रहे थे, समर्थन के साथ ही साथ विरोध के स्वर भी समय-समय

पर मिलते रहे। किन्तु पूर्वमध्यकाल मे विधवा विवाह की काफी निदा की गई है इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विवाह होते अवश्य थे तभी निदनीय माने जाते थे किन्तु समाज मे सम्मानित नही थे।

नियोग:

नियोग का अर्थ है- किसी नियुक्त पुरूष के सम्भोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति के लिए पत्नी या विधवा की नियुक्ति। ऋग्वेद[369] से उद्धत है कि तुम्हे, हे आश्विनो, यज्ञ करने वाला अपने घर मे वैसे ही पुकार रहा है, जिस प्रकार विधवा अपने देवल को पुकारती है या युवती अपने प्रेमी का आह्वान करती है। किन्तु इससे यह नही स्पष्ट हो पाता कि यह उक्ति विधवा तथा उसके देवर के विवाह की और या नियोग की ओर सकेत करती है। निरूक्त[370] की कुछ प्रतियो मे ऋग्वेद की इस ऋचा मे 'देवर' का अर्थ 'द्वितीय वर' लगाया गया है। जबकि मेधातिथि[371] ने इसकी व्याख्या नियोग के अर्थ मे की है। इस प्रकार कुछ विद्वान नियोग प्रथा की प्राचीनता ऋग्वैदिक काल से जोडते है। गौतम[372] ने इसकी चर्चा की है; पतिविहिन नारी यदि पुत्र की अभिलाषा रखे तो अपने देवर द्वारा प्राप्त कर सकती है, किन्तु उसे गुरूजनों से आज्ञा ले लेनी चाहिए और सम्भोग केवल ऋतुकाल मे (प्रथम चार दिनो को छोडकर) ही करना चाहिए। वह सपिण्ड, सगोत्र या सप्रवर या अपनी जाति वाले से ही (जब देवर न हो तो) पुत्र प्राप्त कर सकती है। पुन गौतम[373] का कहना है कि जीवित पति द्वारा प्रार्थित स्त्री जब नियोग से पुत्र उत्पन्न करती है तो वह उसी (पुरूष) का पुत्र होता है। वसिष्ठ धर्मसूत्र[374] न लिखा है विधवा का पति या भाई (या मृत पति का भाई) गुरूओं को (जिन्होंने पढाया हो या मृतात्मा के लिए यज्ञ कराया हो) तथा सम्बन्धियो को एकत्र करे और उसे (विधवा को) मृत के लिए पुत्रोत्पत्ति के लिए नियोजित करे। धन सम्पत्ति (रिक्थ) की प्राप्ति की अभिलाषा से नियोग नही करना चाहिए। बौधायन धर्मसूत्र[375] के अनुसार क्षेत्रज पुत्र नही है, जो निश्चित आज्ञा के साथ विधवा से या नपुसक या रूग्ण पति की पत्नी से उत्पन्न किया जाये। मनुस्मृति[376] में भी नियोग प्रथा के साक्ष्य मिलते है। इसके अनुसार पुत्रहीन विधवा अपने देवर या पति के सपिण्ड से पुत्र उत्पन्न कर सकती है, नियुक्त पुरूष को अधेरे में ही विधवा के पास जाना चाहिए, उसके शरीर पर घृत का लेप होना चाहिए ओर उसे एक ही (दो नहीं) पुत्र उत्पन्न

करना चाहिए। किन्तु कुछ लोगो के मत से दो पुत्र उत्पन्न करने चाहिए। यही बात बौधायन धर्मसूत्र[377] याज्ञवल्क्य एव नारद[378] मे भी पायी जाती है।- कौटिल्य[380] ने लिखा है कि बूढे एव न अच्छे किये जाने वाले रोग से पीडित राजा को चाहिए कि वह अपनी रानी को नियुक्त कर किसी मातृबन्धु या अपने ही समान गुण वाले रोग से पीडित राजा को चाहिए कि वह अपनी रानी को नियुक्त कर किसी मातृबन्धु या अपने ही समान गुण वाले सामन्त द्वारा पुत्र उत्पन्न कराये।

जहाँ गौतम जैसे धर्मसूत्रधारो ने नियोग को वैध ठहराया है, वही कतिपय अन्य धर्मसूत्रकारो ने इसे घृणास्पद मानकर वर्जित कर दिया था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[381], बौधायन धर्मसूत्र[382] आदि ने नियोग की भर्त्सना की है। मनु[383] ने नियोग का वर्णन करने के उपरान्त इसकी बुरी तरह से भर्त्सना की है। मनु ने इसे नियमविरूद्ध एव अनैतिक ठहराया है। उन्होंने राजा वेन को इस प्रथम प्रचालक माना है और उसे वर्ण वर्णसकरता करता था जनक मानकर निदा की है, किन्तु कुछ लोग अज्ञानवश इसे अपनाते है। मनु[384] ने नियोग का अर्थ यह कहकर समझाया है कि नियोग के विषय मे नियम केवल उसी कन्या के लिए है, जो वधूरूप मे प्रतिश्रुत हो चुकी थी किन्तु भावी पति मर गया, ऐसी स्थिति में मृत पति के भाई को उस कन्या से विवाह करके केवल ऋतुकाल मे एक बार सभोग तब तक करना पडता था जब तक कि एक पुत्र न उत्पन्न हो जाय; और वह पुत्र मृत व्यक्ति का पुत्र माना जाता था। एक तरफ मनु जहाँ नियोग की निदा करते है वहीं दूसरी तरफ उत्तराधिकार एव रिक्थ के विभाजन मे क्षेत्रज पुत्र के लिए व्यवस्था रखी है।[385]

बृहस्पति[386] ने मनु के विधान को इस रूप मे लिया और लिखा है- मनु से प्रथम नियोग का वर्णन करके इसे निषिद्ध किया है, इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल मे लोगों मे तपोबल एवं ज्ञान था, अत: वे नियमों का पालन तदैव कर सकते थे, किन्तु द्वापर एवं कलियुग मे लोगो में शक्ति एव बल का ह्रास हो गया है अत: वे नियोग के नियमों के पालन में असमर्थ है मनुस्मृति पर टीका करते हुए कुल्लूकभट्ट[387] ने भी लगभग यही तथ्य दोहराया है कि नियोग प्राचीनकाल के तपस्वियों एवं ज्ञानियो के लिए तो उचित था किन्तु कलियुग मे जब

शक्ति एव नैतिकता दोनो का ह्रास हो गया है, वे नियोग के नियमो का पालन नही कर पायेगे अत नियोग को अमान्य करार दिया गया।

स्मृतियो मे नियोग सबधी नियमो के विषय मे बहुत से मत मतान्तर है, अत विश्वरूप, मेधातिथि जैसे टीकाकारो ने अपने मत प्रकाशन मे पर्याप्त ढील दे रखी है। याज्ञवल्क्य पर टीका करते हुए विश्वरूप[388] का कथन है कि (1) आज के युग मे नियोग निकृष्ट है ओर स्मृति विरूद्ध, (2) यह विकल्प से किया जाता है (नियोग वर्जित एव आज्ञापित दोनो है), (3) नियोग के विषय मे स्मृतियो की उक्तियॉ शूद्रो के लिए (मनु[389] ने द्विजाति शब्द प्रयुक्त किया है) है, यह राजाओ के लिए आज्ञापित था जबकि उत्तराधिकार के लिए कोई पुत्र नही होता था। बृहस्पति के साथ बहुत से ग्रथकारो ने इसे कलियुग मे निषिद्ध कर्मो मे गिना है।

पश्चिमी इतिहासकारो ने भी नियोग प्रथा का उल्लेख किया है। वेस्टरमार्क[391] की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ हयूमन मैरेज' मे पति के भाई से विधवा का विवाह तथा उससे पुत्रोत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। मैक्लेन्नान के अनुसार नियोग की प्रथा के मूल मे बहु भर्तृकता पायी जाती है, किन्तु वेस्टरमार्क ने इस मत का खण्डन किया है जो कि उचित प्रतीत होता है क्योकि जब सूत्रकाल मे नियोग की प्रथा मान्य थी, तब बहु-भर्तृकता या तो विस्मृत हो चुकी थी या वर्जित थी। नियोग की प्रथा प्राचीन थी और उसके कई कारण थे किन्तु वे सभी अज्ञात एव रहस्यात्मक है, केवल एक ही सत्यता स्पष्ट है - वैदिककाल से ही पुत्रोत्पत्ति पर बहुत ध्यान दिया गया है। वशिष्ठ धर्मसूत्र[392] ने यह मत माना है और वैदिक उक्तियो के आधार पर पितृऋण से मुक्त होने के लिए पुत्रोत्पत्ति की एव स्वर्गिक लोकों की प्राप्ति की महत्ता प्रकट होती है। किसी भी व्यवस्थाकार ने इसके पीछे आर्थिक कारण नही रखा है। विन्टरनित्श[393] ने नियोग के कारणो से दरिद्रता, स्त्रियों का अभाव एवं सयुक्त परिवार माना है। किन्तु ऐतिहासिक काल में भारत मे स्त्रियो के अभाव का कोई प्रमाण नहीं मिलता युद्धों के कारण पुरूषो का अभाव अवश्य रहा होगा। इसके अतिरिक्त यथा दारिद्रय तथा संयुक्त परिवार भी विश्लेषण करने पर सत्य नहीं प्रतीत होते है। निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि नियोग एक अति अतीत प्राचीन प्रथा का अवशेष मात्र

था, जिसमे सभवत अपने वश परम्परा का कायम रखने का विचार ही प्रमुख रहा होगा।

परदा प्रथा

परदा प्रथा का प्रारम्भ कहॉ से प्रारम्भ हुआ, इस प्रश्न को लेकर इतिहासकारो मे आज भी मतभेद है। ऋग्वैदिक साक्ष्यों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि तत्कालीन समाज मे परदा प्रथा नही थी। एक स्थल पर[394] पर आया है कि लोगो को विवाह के समय कन्या की ओर देखने को कहा है - यह कन्या मगलमय है, एकत्र होओ और इसे देखो, इसे आशीष देकर ही तुम लोग अपने घर जा सकते हो इस युग मे स्त्रियो विदथ (सभा और समिति) तथा समन (उत्सव) मे स्वच्छन्दतापूर्वक सम्मिलित होती थी।[395] उत्तरवैदिक कालीन ऐतरेय ब्राह्मण के उल्लेख से ज्ञात होता है कि पुत्रबधुऍ (श्नुषा) प्राय. अपने श्वसुर से लजाती हुई दूर खिसक जाती थी।[396] अत स्पष्ट है कि परदा जैसा व्यवहार का स्पष्ट सकेत वैदिक युग मे नही मिलता। पाणिनी की अष्टाध्यायी[397] ने असूर्यम्पश्या (जो सूर्य को भी नही देखती) थी, जो रानियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, व्युत्पत्ति बतायी है। इससे केवल इतना प्रकट होता है कि रानियॉ राजप्रासादों की सीमा के बाहर जनसाधारण के समक्ष नही आती थी। महाकाव्यों के युग मे इसका अवश्य प्रारम्भ हो गया था। रामायण के अयोध्याकाण्ड[398] मे आया है कि आज सडक पर चलते हुए लोग उस सीता को देख रहे है जिसे पहले आकाशगामी जीव भी न देख सके थे। महाभारत के सभापर्व[399] मे द्रौपदी कहती है - हमने सुना है, प्राचीन काल मे लोग विवाहित स्त्रियो को जनसाधारण की सभा समूह मे नही ले जाते थे, चिर काल से चली आयी हुई प्राचीनप्रथा को कौरवों ने तोड दिया है। द्रौपदी का दर्शन राजाओ ने स्वयवर के समय किया था, उसके उपरान्त युधिष्ठिर द्वारा जुए मे हार जाने पर ही लोगो ने उसे देखा।[400] हर्षचरित[401] में आया है कि राजकुमारी राज्यश्री, जिसे उसका भावी पति ग्रहवर्मन विवाह के पूर्व देखने आया था, अपने मुख पर सुन्दर लाल रग का परिधान डाले हुए थी। शाकुन्तल[402] मे दुष्यन्त की राजसभा मे लायी जाती हुई शकुन्तला को अवगुण्डन डाले चित्रित किया गया है। इससे प्रकट होता है कि उच्च कुल की नारियॉ बिना परदे के बाहर नही आती थी किन्तु साधारण जनता मे परदे का कोई प्रचलन नहीं था।

ह्वेनसाग और इत्सिग जैसे पूर्वमध्ययुगीन चीनी लेखको ने अपनी ऑखो देखे वर्णन मे कही भी स्त्री के परदे का उल्लेख नही किया है। बृहतकथामजरी और कथासरित्सागर जैसे ग्याहरवी सदी के कथा-साहित्य मे स्त्री के परदा प्रथा का कही भी स्पष्ट सकेत नही है, बल्कि कथासरित्सागर[403] मे उल्लिखित रत्नप्रभा नामक नारी ने परदे का विरोध किया है। ‘‘स्त्रियो का कडा परदा और नियन्त्रण ईर्ष्या से उत्पन्न मूर्खता है। इसका कोई उपयोग नही। सच्चरित्र स्त्रियॉ अपने सदाचार से ही सुरक्षित रहती है और किसी पदार्थ से नही।'' कल्हण की राजतरगिणी मे भी परदा प्रथा का कही कोई सदर्भ नही मिलता। दसवी सदी के अरब लेखक अबुजैद ने लिख है कि उसके समय में भारतीय रानियॉ परदे के बिना ही राजसभा मे उपस्थित होती थी।[404] पूर्वमध्ययुग तक परदा प्रथा चाहे उच्च समुदाय और राजपरिवार मे भले ही रही हो, मगर साधारण जनता में इसका प्रचलन नही था। स्त्रियॉ प्राय बिना किसी प्रतिबन्ध के उन्मुक्त ओर परदाविहीन घूमती थी।

सम्भवत. ऐसा प्रतीत होता है कि परदा प्रथा का प्रचलन बारहवी सदी के बाद ही हुआ होगा, जब देश पर गैर सस्कृति का आक्राकमण हुआ, जिससे स्त्रियो को बचाना बहुत कठिन हो रहा था, परिणामस्वरूप व्यवस्थाकारो ने हिन्दू समाज में अपनी स्त्रियों की रक्षा के लिए परदा जैसा प्रतिबन्ध लगाया जिससे आक्रामको की लोलुप दृष्टि से उन्हे बचाकर रखा जा सके सुन्दर स्त्रियो को वे न देख सकें, इसलिए आवरण की व्यवस्था की गई। बाद मे आकर परदा हिन्दू-समाज का प्रधान अग बन गया। इस सबंध में यह उल्लेखनीय है कि परदे का अधिक प्रचलन उत्तर भारत मे ही हुआ, दक्षिण भारत इस प्रथा से एकदम अछूता है।

आश्रम·

आश्रम शब्द संस्कृत के श्रम धातु से बना हुआ है। इसके अन्तर्गत मनुष्य जीवन में श्रमपूर्वक विभिन्न आश्रमो के कार्य सम्पन्न करता था तथा प्रत्येक आश्रम के पश्चात आगामी आश्रम के लिए सन्नद्ध होता था। जीवन यात्रा का यह मार्ग चार आश्रमो के माध्यम से था। यह सम्पूर्ण योजना श्रमयुक्त थी जो मनुष्य के जीवन को परिश्रम के आधार पर विकसित करती थी। अत. आश्रम का अर्थ उद्योग, प्रयास

अथवा प्रयत्न है। परम पद तक पहुँचने मे ये आश्रम विश्राम स्थल के रूप मे कार्य करते है। पी0 एन0 प्रभु के अनुसार ऐसी स्थिति मे आश्रमो को जीवन के अतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए मनुष्य द्वारा की जाने वाली जीवनयात्रा के मध्य का विश्राम स्थल मानना चाहिए।[405]

आश्रम व्यवस्था के पीछे मनुष्य के जीवन को सुसस्कृत, सुगठित और सुव्यवस्थित बनाने की दार्शनिक भावना काम कर रही थी। हिन्दू विचारको ने मानव जीवन को समग्रतापूर्वक व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए उसे आश्रमो के अन्तर्गत विभाजित किया था। हिन्दू विचारको ने अत्यन्त मनोनिवेशपूर्वक मानव की कार्य पद्धतियो का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके जीवन के मूलभूत कर्त्तव्यों का विभाजन किया था। उन्होने यह स्वीकार किया। कि जीवन का लक्ष्य केवल भोग ओर जीना नही है बल्कि योगमय आर्दशात्मक, मार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष की ओर प्रवृत्त होना भी है। इस प्रकार जीवन की वास्तविकता को ध्यान मे रखते हुए ज्ञान कर्त्तव्य त्याग और आध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास नामक चार आश्रमों मे विभाजित किया है, जिसका अंतिम लक्ष्य था मोक्ष की प्राप्ति। जीवन को सही क्रमबद्धता, सुविचारित व्यवस्था तथा सुनिश्चित धार्मिकता प्रदान करना ही भारतीय जीवन दर्शन का मूल प्रेरक तत्व रहा है। इसी दार्शनिक प्रेरणा से मनुष्य का जीवन एक आश्रम से होता हुआ क्रमानुसार अंतिम आश्रम तक पहुँचता था तथा अपनी कर्मनिष्ठता और सात्विकता से चरम गति प्राप्त करता था।

अत्यन्त प्राचीन धर्मसूत्रो के समय मे भी चारों आश्रमो की चर्चा हुई है यद्यपि नामों एवं अनुक्रम मे थोडा हेर-फेर अवश्य पाया जाता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[406] के अनुसार आश्रम चार है, ग्रार्हस्थ, गुरूगेह (आचार्य कुल) मे रहना, मुनि रूप मे रहना तथा वानप्रस्थ (वन मे रहना)। ग्रार्हस्थ को प्रथम स्थान देने का कारण संभवत इसकी प्रभूत महत्ता है। गौतम[407] ने भी चारो आश्रमों के नाम लिये हैं, यथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु एवं वैश्वानस। वसिष्ठ धर्मसूत्र[408] ने चार आश्रम गिनाये हैं- ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं परिव्राजक। बौधायन धम्रसूत्र[409] ने भी

वसिष्ठ की भाँति चार नाम दिये है। मनु[410] ने चार आश्रमो के नाम दिये है और अंतिम को उन्होने यति तथा सयास कहा है।[411]

आश्रमो के विषय मे मनु का सिद्धान्त इस प्रकार है – मानव जीवन एक सौ वर्ष का होता है (शतायुर्वे पुरूष) अत प्रत्येक आश्रम के लिये 25 वर्ष निर्धारित कर दिए गये थे । मनु के अनुसार मनुष्य जीवन का प्रथम भाग ब्रह्मचर्य है जिसमे व्यक्ति गुरूगेह मे रहकर विद्याध्ययन करता है, दूसरे भाग मे वह विवाह करके गृहस्थ हो जाता है और सन्तानोत्पत्ति द्वारा पूर्वजो के ऋण से तथा यज्ञ आदि करके देवो के ऋण से मुक्ति पाता है।[412] जब व्यक्ति अपने सिर पर उजले बाल देखता है तथा शरीर पर झुर्रियॉ देखता है तब वह वानप्रस्थ हो जाता है।[413] इस प्रकार वन में जीवन का तृतीचांश बिताकर शेष भाग को सन्यासी के रूप मे व्यतीत करता है।[414]

मानव जीवन के अस्तित्व के चार लक्ष्य माने गये है–धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। ब्रह्मचर्य में व्यक्ति को अनुशासन एवं सकल्प के अनुसार रहना पडता था, उसे अतीत काल के साहित्यिक भडार का ज्ञान प्राप्त करना पडता था, उसे आज्ञाकारिता, आदर, सादे जीवन एव उच्च विचार के सद्गुण सीखने पडते थे। ब्रह्मचर्य के उपरान्त व्यक्ति विवाह करता था, अपनी संतानो, मित्रो, सबंधियो, पडोसियों के प्रति अपने कर्त्तव्य पूर्ण करता था, उपयोगी, परिश्रमी एवं योग्य नागरिक बनता था तथा एक कुल का सस्थापक होता था। ऐसा कहा है कि 50 वर्ष के लगभग की अवस्था हो जाने पर वह ससार के सुख एवं वासनाओं से ऊब जाता था तथा वन की राह ले लेता था, जहॉ वह आत्मनिग्रही, तपस्वी एंव निरपराध जीवन बिताता था, इसके उपरान्त सयास का आश्रम आता था वह इसी जीवन में अंतिम लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है, या इसी प्रकार के कई जीवनो तक यह चक्र चलता जायेगा, जब तक कि उसे मुक्ति प्राप्त न हो जाय।

ब्रह्मचर्य आश्रम:

ब्रह्मचर्य दो शब्दों 'ब्रह्म' और 'चर्य' से बना है। 'ब्रह्म' का अर्थ है वेद अथवा महान् और 'चर्य' का विचरण करना अथवा अनुसरण करना। इन दोनो का सम्मिलित अर्थ है-ब्रह्म के मार्ग पर चलना। दोनो एक दूसरे के समानार्थी है। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इन्द्रियनिग्रह ही

नही बल्कि इसके साथ ही वेदाध्ययन भी है। ऋग्वेद[415] मे ब्रह्मचारी शब्द आया है। महाभारत[416] के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम मे रहने वाले ब्रह्मचारी को अन्तर-बाह्य की शुद्धि, वैदिक सस्कार और व्रत-नियमो का पालन करते हुए अपने मन को वश मे करना चाहिए।

उपनयन (यज्ञोपवीत) सस्कार सम्पन्न होने के बाद ही ब्रह्मचर्य आश्रम प्रारम्भ होता था। 'उपनयन' शब्द 'उप' (समीप) और नयन (ले जाना) से बना है। जिसका अर्थ है समीप ले जाना, अर्थात वह सस्कार जिसके द्वारा ब्रह्मचारी को गुरू के निकट ले जाया जाता था।[417] उपनयन सस्कार द्विज अर्थात तीन वर्णों के लिए था, शूद्र के लिए नही था। द्विज का अर्थ दुबारा जन्म लेने वाला। कोई व्यक्ति उपनयन संस्कार के बाद ही उस जाति का सदस्य माना जाता था, जिस मे वह जन्म लेता था। विद्या के निमिन्त किये जाने वाले उपनयन सस्कार की सम्पन्नता अनियमित और अनुत्तरदायी जीवन की समाप्ति से सम्बद्ध थी, जब नियमित, अनुशासित और गम्भीर जीवन का प्रारम्भ होता था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[418] मे ब्राह्मण का बसन्त ऋतु मे, क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु मे और वैश्य का शरद ऋतु मे उपनयन करने का निर्देश दिया गया था। तीनो वर्णों के उपनयन - सस्कार मे मंत्रो के सम्पादन का अलग-अलग विधान था । ब्राह्मण के लिए गायत्री मन्त्र, क्षत्रिय के लिए त्रिष्टुभमत्र और वैश्य के लिए जगती मत्र का आधार ग्रहण करना था।[419] द्विज वर्ग के सभी लोग उपनयन के अधिकारी थे।[420] उपनयन के पश्चात ही ब्रह्मचर्य जीवन प्रारम्भ होता था।[421]

प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए यज्ञोपवीत धारण करना अत्यन्त आवश्यक और पवित्र समझा जाता था।[422] उसे मेखला और दण्ड धारण करने के लिए भी निर्देशित किया गया था। ब्राह्मण ब्रह्मचारी की मेखला मूंज की होती थी, क्षत्रिय की अयस के खण्ड से युक्त मूंज की तथा वैश्य की ऊन की[423] । उत्तरीय (उर्ध्ववस्त्र) और वास (अधोवस्त्र) नामक दो वस्त्र ब्रह्मचारी धारण करता था। विभिन्न वर्णों के ब्रह्मचारी के विभिन्न प्रकार के वस्त्र होते थे। ब्राह्मण का उत्तरीय आजिन का, क्षत्रिय का रीदव और वैश्य का गोचर्म अथवा अजाचर्म का होता था।[424]

धर्मशास्त्रो में उपनयन-सस्कार के लिए आयु का निर्धारण किया गया था। पृथक-पृथक वर्ण के लिए भिन्न-भिन्न उपनयन-आयु का

विधान था। ब्राह्मण बालक के लिए उपनयन सस्कार की आयु आठ वर्ष निर्धारित की गई थी।[425] ग्रहसूत्रो के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन के लिए क्रमश आठ, ग्यारह, और बारह वर्ष की नियोजना थी।[426] स्मृतियो मे भी इसी प्रकार की व्यवस्था की गई है। मनु के अनुसार ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवे वर्ष, क्षत्रिये बालक का गर्भ से ग्यारहवे वर्ष और वैश्य बालक का गर्भ से बारहवे वर्ष उपवीत करना चाहिए।[427]

सभी व्यवस्थाकारो ने गुरू के सान्निध्य मे रहकर विद्यार्जन करने की व्यवस्था छात्रो के लिए की है। गुरूकुल में रहकर छात्र विभिन्न विषयो का अध्ययन करता था।[428] ब्रह्म विद्या के लिए व्रत का पालन करता था जो ब्रह्म (वेद) था। उसका यह कर्त्तव्य था कि वह नियमित रूप से भिक्षायाचन करे और जो कुछ भी उसे मिले उसे गुरू की सेवा मे अर्पित कर दे। मनु के कथनानुसार वह सूर्योपासना के बाद भिक्षा मागता था[429] उसके लिए भिक्षा वृत्ति का निर्देश इसलिए किया गया था कि वह निराभिमान होकर सयम और नियम का पालन कर सके। उसका जीवन अत्यन्त व्यवस्थित, सयमित और नियमबद्ध होता था। शील, साधना और अनुशासन का वह मन से अनुसरण करता था। उसके भिक्षार्जन, भोजन, शयन, गुरू शुश्रूषा, समिधादान, निवास आदि पर अनेक नियमों की व्यवस्था की गई थी।[430] वह आचार्य की अधीनता स्वीकार करते हुए गुरू की सेवा करता था और ऐसा करने वाला जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी स्वर्ग को प्राप्त करता था।[431] अपनी इच्छा और वासना को अपने वश में रखना तथा अपनी क्रियाओं को धर्म समन्वित करना उसका श्रेष्ठ आचारण था। वह अपनी विचरणशील इन्द्रियो को संयमित रखता था जिससे उसे सिद्धि की प्राप्ति होती थी।[432] अलबरूनी के विवरण से भी ज्ञात होता है कि ग्यारहवी सदी के भारत में भी ब्रह्मचारी का जीवन कुछ इसी प्रकार का था। अलबरूनी लिखता है- वह दिन में तीन बार स्नान करता था। सुबह और शाम होम करता है। इसके पश्चात वह गुरू की पूजा करता है। गुरू गृह मे ही वह निवास करता है। भिक्षा-याचना के लिए जाते समय ही वह गुरू ग्रह छोड़ता है। उसे जो भिक्षा मिलती है, उसे गुरू के सम्मुख अर्पित कर देता है। तब गुरू शेष भाग को उसे देकर खाने के लिए आज्ञा देता है। फिर यज्ञ के लिए दो तरह के वृक्षों पलास और दर्म

की लकडी लाता है इसीलिए हिन्दू यज्ञ होम की अधिक करते और फूल चढाते है।

विद्यार्थी के ब्रह्मचार्य आश्रम की अवधि प्राय बारह वर्ष की होती थी तब तक उसकी आयु पच्चीस वर्ष के लगभग हो जाती थी। ब्रह्मचार्याश्रम की अवधि के सबध मे मनु[434] ने लिखा है कि ब्रह्मचारी गुरू के समीप 36 वर्ष तक (तीन वेदो का अध्ययन) या उसका आधा 18 वर्ष तक अथवा उसका चतुर्थाश 9 वर्ष तक या वेदो के ग्रहण करने की अवधि तक अध्ययनरत रहे। प्राचीन काल से ही अध्ययन का साहित्य बहुत विशाल रहा है। तैतिरीय ब्राह्मण[435] ने कहा है कि वेद अनन्त है। शतपथ ब्राह्मण[436] ने स्वाध्याय के अर्न्तगत ऋचाओ, यजुओ, सामो अथर्वागिरसो (अर्थववेद), इतिहासपुराण, गाथाओ को गिना है। छान्दोग्य उपनिषदा मे नारद सनत्कुमार से कहते है कि उन्होने (नारद ने) चारो वेदो, पाचवे वेद के रूप में इतिहास पुराण, वेदो के वेद (व्याकरण), पित्य (श्राद्ध पर प्रबन्ध), राशि (अकगणित), दैव (लक्षण-विद्या), निधि (गुप्त खनिज खोदने की विद्या), वाकोवाक्य (कथानोपकथन या हेतु विद्या), राजनीति, देवविद्या (निरूक्त), ब्रह्मविद्या (छन्द एव ध्वनि विद्या), भूत विधा (भूत प्रेतों को दूर करने की विद्या), क्षत्र विद्या (धनुर्वेद), नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या (नाच, गान, अभ्यजन आदि) सीख ली।

वेदाध्ययन के लिए पहले से ही कोई शुल्क निर्धारित नही था। गौतम[438]ने लिखा है कि विद्या के अंत मे शिष्य को गुरू से धन लेने या जो कुछ वह दे सके, लेने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, जब गुरू आज्ञार्पित कर दे या बिना कुछ लिये जाने को कह दे तब शिष्य को स्नान करना चाहिए (अर्थात घर लौटना चाहिए) । आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने लिखा है कि अपनी योग्यता के अनुसार शिष्य को विद्या के अंत मे गुरूदक्षिणा देनी चाहिए, यदि गुरू तगी मे हो तो उग्र या शूद्र से भी भिक्षा मांगकर उसकी सहायता करनी चाहिए।

मनु[439] शंखस्मृति,[440] एवं विष्णुधर्मसूत्र[441] के अनुसार जीविकार्थ वेद या वेदांग पढाने वाला गुरू उपाध्याय कहलाता है। किन्तु मेधातिथि[442], मिताक्षरा[443] ने लिखा है कि केवल शिषय से कुछ ले लेने पर ही कोई गुरू भृतकाध्यापक नहीं कहा जाता, प्रत्युत निर्दिष्ट धन लेने पर ही पढाने

की व्यवस्था करने वाला गुरू भर्त्सना का पात्र होता है। किन्तु आपत्काल में जीविका के लिए निर्दिष्ट धन लेने की व्यवस्था की गयी थी।[444]

इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य आश्रम मे व्यक्ति की मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक और अध्यात्मिक उन्नति होती थी। ज्ञान-प्राप्ति और शिक्षा प्राप्ति से उसका मस्तिष्क विकसित होता था। अनुशासन और सयम के अभ्यास से उसका भावी जीवन निर्धारित और सुनियोजित मार्ग पर अग्रसर होता था ।

गृहस्थ आश्रम:

भारतीय समाज मे गृहस्थ आश्रम का अत्यधिक मान रहा है। इसी आश्रम पर अन्य सभी आश्रम भी आश्रित थे[445]। ब्रह्मचारी के समावर्तन समारोह के पश्चात विवाह के साथ गृहस्थ जीवन प्रारम्भ होता था। मनु ने गृहस्थ आश्रम को अधिक प्रशसा की है, उसके अनुसार जिस प्रकार सभी नदी-नद सागर मे सस्थित हो जाते है उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ आश्रम मे।[446] गृहस्थाश्रम से ही अन्य आश्रमों का विस्तार और विकास होता था तथा उसी के अनुग्रह और आदर पर अन्य आश्रम पूर्णत. निर्भर करते थे। गृहस्थ आश्रम मे रहकर गृहपति अपने विभिन्न कर्त्तव्यो का निर्वाह करता था उदाहरणार्थ वह व्यक्तिगत, समाजिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक आदि विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों का पालन करता था। सत्य, अहिसा, सब भूतो के प्रति दया, शम, सामर्थ्यनुसार दान आदि गृहस्थ के उत्तम कर्म थे। मनु के अनुसार वह दस प्रकार के धर्मों का सेवन करता था- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य और क्रोध-त्याग।

गृहस्थ को अपने परिवार के सचालन के लिए धार्मिक आधार पर अर्थोपार्जन का निर्देश दिया गया है[447] यथासामर्थ्य दान देने की भी व्यवस्था उसके लिए की गई थी[448]। अर्थशास्त्र[449] के अनुसार स्वधर्म के अनुरूप जीविका चलाना, विधानानुसार विवाह करना, अपनी भार्या से ही सम्पर्क रखना, देवताओं, पितरों और भृत्यों को संतुष्ट करने के उपरान्त अवशिष्ट भोजन स्वंय ग्रहण करना गृहस्थ का प्रधान धर्म है।

जन्म के पहले से लेकर मृत्यु तक के समस्त सस्कार गृहस्थ आश्रम के माध्यम से ही सम्पन्न किये जाते थे। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन जातकर्म नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म,

कर्णछेदन, विद्यारम्भ, उपनयन विवाह, अन्त्येष्टि आदि विभिन्न सस्कार गृहस्थ आश्रम मे रहते हुए ही व्यक्ति सम्पन्न करता है। अत सस्कारो की निष्पन्नता मे गृहस्थ आश्रम का अभूतपूर्व योगदान रहा है।

ब्राह्मणग्रथो के अनुसार व्यक्ति पर चार प्रकार के ऋण थे-पैदा होते ही वह देवताओ, पितरो, ऋषियो और मनुष्यो का ऋणी हो जाता था।[450] प्राय सभी व्यवस्थाकारों ने तीन ऋणो की चर्चा की है- देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण। मनु ने यह व्यवस्था दी है कि उक्त तीनो ऋणो को पूरा करके मन को मोक्ष (सन्यास) में लगाये बिना मोक्ष (सन्यास) सेवी व्यक्ति नरक मे जाता है। इन ऋणो की व्याख्या करते हुए उसने आगे लिखा है कि विधिपूर्वक वेदों को पढकर, धर्मानुसार पुत्रो को उत्पन्न कर और शक्ति के अनुसार यज्ञो का अनुष्ठान कर (द्विज) मोक्ष में मन लगाये।

गृहस्थ के लिए यज्ञ करना आवश्यक समझा गया। अग्नि जलाने में, पीसने में, गृहसज्जा मे और कूटने आदि में होने वाले पापो के प्रायश्चित स्वरूप इन पंचमहायज्ञो को सम्पादित करना भारतीय दर्शन का प्रधान तत्व था। ये पाच महायज्ञ इस प्रकार थे ब्रहमयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ[452]। मनु ने भी पाच पापो (चुल्ली, पेषणी, उपस्कर, कण्डनी और जलकुम्भ) से मुक्ति पाने के लिए पाच यज्ञों का विधान किया है।[453] ब्रह्मयज्ञ द्वारा मनुष्य अपने प्राचीन विद्वान ऋष्यिो के प्रति श्रद्वा और आदर व्यक्त करता था और वेदाध्ययन अध्यापन करके ब्रह्म यज्ञ किया जाता है। पितृ यज्ञ के अर्न्तगत मनुष्य पितरो अर्थात पूर्वजो के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता था, क्योकि ऐसा विश्वास किया जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति पर पितरो के ऋण थे। यह ऋण पितृयज्ञ के सम्पादन के बाद ही समाप्त होता था। देव यज्ञ मे देवताओं का पूजन-अर्जन किया जाता था तथा बलि और अग्नि की आहुति देकर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाती थी। प्राय: यह विश्वास किया जाता रहा है कि गृहस्थ के पास जो भी सुख सुविधा का साधन है, सब ईश्वर प्रदत्त है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य था कि वह देवताओं के प्रति आभारी रहे। इसलिए दैव हवन, द्विज के लिए अनिवार्य कर्त्तव्य था। भूतयज्ञ के माध्यम से समस्त प्राणियो के प्रति बलि प्रदान की व्यवस्था की गई। विघ्नकारी और अनिष्टकारी प्रेतात्माओं की तुष्टि के लिए भूतयज्ञ सम्पन्न किया जाता

था। नृयज्ञ को अतिथियज्ञ भी कहते थे अतिथि सत्कार गृहस्थ का प्रधान कर्त्तव्य ही नही बल्कि धर्म भी माना गया है। अतिथि चाहे किसी भी जाति का क्यो न हो, वह सत्कार योग्य माना गया था, अतिथि को -देवता के रूप मे देखा जाता था।[456]

इस प्रकार पचमहायज्ञ के सिद्धान्त ने गृहस्थ को प्रत्येक दृष्टि से उन्नतिशील बनाने की चेष्टा की है। नैतिक और धार्मिक धरातल पर स्थित ये पचमहायज्ञ जीवन के सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक पक्ष को विकसित करने वाले थे। इस प्रकार गृहस्थाश्रम मे रहता हुआ व्यक्ति तीनो ऋणो से उऋण होता है साथ ही यज्ञ कर अपने कर्तव्यो की पूर्ति करता है। गृहस्थ चार प्रकार के निर्दिष्ट किये गए - कुसूलधान्य, कुभधान्य, अश्वस्तन और कपोती - माश्रित। महाभारत के अनुसार कुसुलधान्य गृहस्थ वे थे जो षटकर्मो यजन, याजन, पठन-पाठन दान ओर प्रतिग्रह को सम्पन्न करते थे। कुम्भधान्य उनको कहा जाता था जो यज्ञ, अध्ययन और दान मे निष्ठावान रहते थे । अश्वस्तन वे गृहस्थ थे जो अध्ययन और दान मे अधिक व्यस्त रहते थे तथा कपोतीमाश्रित उस गृहस्थ को कहा गया जिसकी रूचि केवल स्वाध्याय में ही थी।[457] सभवत. ये वर्गीकरण केवल ब्रह्मण के लिए ही थे। मनु का कथन है कि ब्राह्मण गृहस्थ कुसुलधान्यक अथवा कुभीधान्यक या त्रयाहिक अथवा ऐकारिक वा अश्वस्तानिक हो। किन्तु भाष्यकारो ने कुसुल एंव कुम्भी की व्याख्या विभिन्न ढंग से की है। कुल्लूकभट्ट[458] के मतानुसार वह ब्राह्मण जिसके पास तीन वर्षों के लिए अन्न है, कुसुलधान्य कहलाता है और कुम्भीधान्य वह है जिसके पास साल भर के लिए पर्याप्त अन्न है। मेधातिथि[459] का कहना है कि केवल अन्न पर ही रूकावट नहीं है, जिसके पास अन्न या धन तीन वर्षों के लिए है, वह कुसूलधान्य है। गोविन्दराज[460] के अनुसार 'कुसूलधान्य' एव 'कुम्भीधान्य' वे ब्राह्मण है जिसके पास क्रम से 12 और 6 दिन का अन्न है। मिताक्षरी[461] गोविन्दराज के विचार से सहमत है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल के गृहस्थों का विभाजन जहॉ अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह की प्राथमिकता के आधार पर होता है वहीं पूर्वमध्यकाल में आकर इसके अर्थों मे व्यापक परिवर्तन दृष्टिगत होता है। अब गृहस्थ ब्राह्मण का विभाजन उनके पास कितने दिनों के लिए अन्न का भडार है इस तथ्य

से होने लगा था। मात्रा मे अन्तर होने के बाद भी लगभग सभी भाष्यकार कुसुलधान्य एव कुम्भीधान्य को अपने पास सचित अर्थ के रूप मे ही ग्रहण किया है।

प्राचीनकाल मे गृहस्थ के लिए जो नियम और आचरण निर्दिष्ट किये गये थे, वे निश्चय ही उसके त्याग और आध्यात्मिक जीवन की ओर अधिक झुके थे। गृहस्थ के लिए भौतिक एव सासारिक सुखो को स्वीकार करते हुए भी उसको सीमाबद्ध कर दिया गया था। गृहस्थ आश्रम का मूल उद्देश्य था धर्म, संतान और काम की उपलब्धि। विभिन्न कर्त्तव्यो के निर्वाह के लिए गृहस्थ आश्रम अत्यन्त उपयुक्त और सर्वोत्तम आधार था। पुरूषार्थों की पूर्णता, ऋणो से मुक्ति, महायज्ञों का सम्पादन, सस्कारो की सम्पन्नता, पारिवारिक सौमनस्य आदि गृहस्थ आश्रम मे रहते हुए ही एक व्यक्ति कर सकता था।

वानप्रस्थ आश्रम :

वानप्रस्थ के लिए प्राचीन काल मे सभवत: 'वैखानस' शब्द प्रयुक्त होता था। बौधायन धर्मसूत्र [462] ने उसी को वानप्रस्थ कहा है जो वैखानस शास्त्र से अनुमोदित नियमो का पालन करता है। पराशरमाधवीय[463] ने वसिष्ट धर्मसूत्र[464] को उद्धत करके (श्रामण - के नाग्निमाधाय) लिखा है कि 'श्रामणक' वह वैखानस सूत्र है जिसने तपस्वियो के कर्त्तव्यों का वर्णन किया है। मनु[465] ने वानप्रस्थ को वैखानस के मत के अनुसार चलने को कहा है और मेधातिथि[466] ने वैखानस को ऐसा शास्त्र माना है जिसमे वन में रहने वाले मुनियो या यतियों (वानप्रस्थ) के कर्त्तव्यों का वर्णन हो। गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थ आश्रम का प्रारम्भ होता था जब मनुष्य अपने समस्त गृहस्थ कर्त्तव्यो और उत्तरदायित्वों को सम्पन्न कर लेता था और मुक्त हो जाता था तब वह सांसारिक मोहमाया को त्यागकर वानप्रस्थ जीवन की ओर मुडता था। मनु के अनुसार जब गृहस्थ अपने शरीर पर झुर्रियाँ देखे, उसके बाल पक जाये और जब उसके पुत्रों के पुत्र हो जायें तो उसे वन की राह लेनी चाहिए। इस विषय मे टीकाकारों के विभिन्न मत हैं। कोई तीनो दशाओं (झुर्रियों, केश पक जाना, पौत्र उत्पन्न हो जाना) को, कोई इनमें से एक के उत्पन्न हो जाने को तथा कोई 50 वर्ष की अवस्था प्राप्त हो जाने को वन जाने

का उपयुक्त समय बताता है। कुल्लूकभट्ट[468] ने एक स्मृति का उदाहरण देकर 50 वर्ष की अवस्था को वानप्रस्थ के लिए उपयुक्त ठहराया है।

गौतम[469] आपस्तम्ब धर्मसूत्र[470] बौधायनधर्मसूत्र[471] वसिष्ठधर्मसूत्र[472], मनु[473], याज्ञवल्क्य[474] विष्णुधर्म सूत्र[475] आदि ने वानप्रस्थ के कतिपय नियमो का ब्यौरा दिया है। मनु[476] एव याज्ञावल्क्य[477] के अनुसार वन मे अपनी पत्नी के साथ या उसे पुत्रो के आश्रम मे छोडकर जा सकता है। मेधातिथि[478] ने इस पर टीका करते हुए लिखा है कि यदि पत्नी युवती हो तो वह पुत्रो के साथ रह सकती है, किन्तु बूढी हो तो वह पति का अनुसरण कर सकती है।

वानप्रस्थ अपने साथ तीनो वैदिक अग्नियो, ग्रहाग्नि तथा यज्ञ मे काम मे आने वाले पात्र यथा स्रुक, स्रुव आदि ले लेता है। यज्ञ के लिए भोजन वन मे उत्पन्न होने वाले नीवार नामक अन्न से बनाता है। गौतम[479], आपस्तम्ब धर्मसूत्र[480] एव वसिष्ठधर्मसूत्र[481] का कहना है कि वानप्रस्थ को श्रौत एव गृहअग्नियो को त्यागकर श्रामणक (अर्थात् वैखानस सूत्र) के नियमो के अनुसार नवीन अग्नि प्रज्वलित करके यज्ञाहुतिया देनी चाहिए। जबकि मेधातिथि[482] के अनुसार 'श्रामणक' अग्नि उसी के द्वारा प्रज्वलित की जाती थी जिसकी पत्नी मर जाती थी अथवा जो छात्र जीवन के तुरन्त बाद ही वानप्रस्थ हो जाता था। इससे स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल आते-आते आश्रम के विधानो मे पर्याप्त अतर आ चुका था।

मनु[483] एव गौतम[484] के मत से वानप्रस्थ को अपने गांव वाले भोजन तथा गृहस्थी के सामान (गाय, अश्व, शयनासन आदि) का त्याग कर देना चाहिए और फूल, फल, कन्द-मूल पर तथा वन में या पानी मे उगने वाली वनस्पतियो या पत्तियों के योग्य नीवार, श्यामक आदि अनाजों पर निर्भर रहना चाहिए। मनु[485] के मत से वह अपने द्वारा बनाया हुआ नमक खा सकता है। उसे प्रतिदिन पाच महायज्ञ करने चाहिए अर्थात् देवों, ऋषियों, पितरो, मानवों (अतिथियों) एव भूतों (प्राणियों) की पूजा कर उन्हे यतियों के योग्य भोजन देना चाहिए। उसे तीन बार स्नान करना चाहिए, प्रात मध्याहन एव सायकाल[486]। उसे गृगचर्म, वृक्ष की छाल या कुश से शरीर ढकना चाहिए और सिर के बाल एव नख बढने देने चाहिए।[487] उसे वेदाध्ययन में श्रद्धा रखनी चाहिए और वेद का मौन पाठ करना चाहिए[488] । उसे संयमी, आत्मनिग्रही, हितैषी, सचेत तथा सदय (उदार)

होना चाहिए। कुल्लूक[489] का यह मत कि वानप्रस्थी को, पत्नी के साथ रहने पर, नियमित कालो मे मैथुन करना चाहिए, भ्रामक है क्योकि मनु[490], याज्ञवल्क्य[491] एव वसिष्ठ[492] ने इसे वर्जित माना है। उसे हल से जोते हुए खेत के अन्न का, चाहे वह कृषक द्वारा छोड ही क्यो न दिया गया हो, प्रयोग नही करना चाहिए और न गावो मे उत्पन्न फलो एव कद-मूलो का ही प्रयोग करना चाहिए[493]। वह वन मे उत्पन्न अन्न को पका सकता है या जो स्वय पक जाये (यथा फल) उसे खा सकता है। उसे पंचाग्नि (चारो दिशाओ मे चार अग्नि एव ऊपर सूर्य) के बीच बैठकर, वर्षा मे बाहर खडे होकर, जाडे मे भीगे वस्त्र धारण कर[494] कठिन तपस्या करनी चाहिए और अपने शरीर को भाति-भाति के कष्ट देकर अपने को सब कुछ सह सकने का अभ्यासी बना लेना चाहिए। राात्रि मे उसे खाली पृथ्वी पर शयन करना चाहिए। उसे आनन्द लेने वाली वस्तु के सेवन से दूर रहना चाहिए।[495] यदि वानप्रस्थ किसी असाध्यरोग से पीडित है, अपने कर्त्तव्य नहीं कर पाता और अपनी मृत्यु को पास मे आई हुई समझता है, तो उसे उत्तर पूर्व की ओर मुख करके महाप्रस्थान कर देना चाहिए और केवल जल एव वायु पर रहना चाहिए और तब तक चलते रहना चाहिए जब तक कि वह ऐसा गिरे कि पुन. न उठ सके।[496]

वानप्रस्थो के अनेक उदाहरण प्राप्त होते है। महाभारत ने बहुत से वानप्रस्थ राजाओ की चर्चा की है। राजा ययाति ने अपने पुत्र पुरू को राजा .बनाकर स्वयं वानप्रस्थ ग्रहण किया[497] और वन मे कठिन तप करके उपवास से शरीर त्याग दिया[498]। आश्वमेधिकपर्व[499] में आया है कि धृतराष्ट्र ने अपनी स्त्री गांधारी के साथ वानप्रस्थ ग्रहण करके वृक्ष की छालो एंव मृगचर्म को वस्त्र के रूप मे धारण किया। कोशलपर्व[500] मे आया है कि श्री कृष्ण के स्वर्ग गमन के उपरान्त उनकी सत्यभामा आदि पत्नियॉ वन मे चली गयीं और कठिन तपस्या में लीन हो गई।

इसके अतिरिक्त पूर्वमध्यकाल के कुछ अभिलेखीय साक्ष्य से भी वानप्रस्थ द्वारा अपने प्राण त्याग का उदाहरण मिलता है। यशकर्णदिव के रवैया दानपत्र[501] से पता चलता है कि कलचुरि राजा गांगेय ने अपनी एक सौ रानियों के साथ प्रयाग में मुक्ति प्राप्त की। 1076 ई0 के अभिलेख से पता चलता है चंदेल कुल के राजा धंगदेव[502] ने 100 वर्ष की अवस्था मे

रूद्र का ध्यान करते हुए प्रयाग में अपना शरीर छोड दिया। चालुक्य राजा सोमेश्वर के 1068 ई0 के एक अभिलेख से पता चलता है कि सोमेश्वर ने योग साधन करने के उपरान्त तुगभद्रा मे अपने को डुबो दिया।[503] पाल शासक विग्रहपाल ने अपने पुत्र नारायण को राज्य सौपकर साधू का जीवन अपनाया।[504] सेन शासक सामन्तसेन वानप्रस्थी होकर गगातरीय वन में चला गया था।[505]

इस प्रकार वानप्रस्थ आश्रम मोक्ष के मार्ग का दिग्दर्शन करता था, तथा मनुष्य को साधना और तपम्या की ओर उत्प्रेरित करता था, अनुशासन और संयम का जीवन उसे अत्यन्त तपशील बना देता था।

सन्यास आश्रम

जीवन का अतिम भाग पछत्तर वर्ष की अवस्था से सौ वर्ष अथवा इसके बाद तक सन्यास आश्रम के अर्न्तगत रखा गया था, जो चतुर्थ आश्रम भी कहा जाता था। पुरूषार्थ के अन्तिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति सन्यास आश्रम के माध्यम से ही सभव थी। सन्यासी को 'भिक्षु' भी कहा गया है और यति भी।[506] सन्यासी को 'परिवार'[507] और 'परिवाजक'[508] की सज्ञा दी गई है। वैदिक ग्रंथो[509] सन्यासी के लिये 'यति' का प्रयोग हुआ है। सूत्रकाल से 'सन्यास' और 'भिक्षु' शब्द का प्रचलन अधिक होने लगा।[510] सन्यास का अर्थ पूर्ण त्याग से है[511], भिक्षु का भिक्षुवृत्ति से तथा यति का तपस्वी से।

डा0 रोमिला थापर[512] ने सन्यास अथवा योग के इतिहास को प्राक्-इतिहासकालीन माना है तथा हडप्पा संस्कृति से प्राप्त 'पशुपति' की मुहर को इसका प्रारम्भिक चरण दर्शित किया है, जो सभवत: व्यक्ति के समाज से वापस होने की क्रिया को व्यक्त करता है।

सन्यास आश्रम ग्रहण करने के लिए व्यक्ति को प्रजापति के लिए यज्ञ करना पडता है, अपनी सारी सम्पत्ति पुरोहितों, दरिद्रों एंव असाहायों मे बॉट देनी चाहिए।[513] मनु[514] ने सतर्कता से लिखा है कि वेदाध्ययन, संतानोत्पत्ति एव यज्ञों के उपरान्त (देव ऋण, ऋषि ऋण एंव पितृ ऋण चुकाने के उपरान्त) ही मोक्ष की चिंता करनी चाहिए। अनुतरदायी गृहस्थ सन्यास का अधिकारी नहीं था। घर, पत्नी, पुत्रों एव सम्पत्ति का त्याग करके सन्यासी को गांव के बाहर रहना चाहिए और

सदा एक स्थान स्थान से दूसरे स्थान तक चलते रहना चाहिए। जब सूर्यास्त हो जाये तो पेडो के नीचे या परित्यक्त घर मे रहना चाहिए और सदा एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलते रहना चाहिए। वह केवल वर्षा के मौसम मे एक स्थान पर ठहर सकता है।[515] सन्यासी को ब्रह्मचारी होना चाहिए और सदा ध्यान एव आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति भक्ति रखनी चाहिए एव इन्द्रिय-सुख, आनन्दप्रद वस्तुओ से दूर रहना चाहिए।[516] उसे श्रौताग्नियां, गृहयाग्नि एव लौकिक अग्नि (भोजन बनाने के लिए) नही जलानी चाहिए और केवल भिक्षा से प्राप्त भोजन करना चाहिए।[517] सन्यासी को भरपेट भोजन नही करना चाहिए, उसे केवल उतना ही खाना चाहिए जिससे वह अपने शरीर एव आत्मा को एक साथ रख सके, उसे अधिक पाने पर न तो सतोष या प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए और न कम मिलने पर निराशा।[518] सन्यासी को अपने पास कुछ भी एकत्र नही करना चाहिए, उसके पास केवल जीर्ण-शीर्ण परिधान, जलपात्र एव भिक्षापात्र होना चाहिए।[519] केवल वैदिक मत्रो के जप को छोडकर उसे साधारणत: मौनव्रत रखना चाहिए।[520] सत्यता, अप्रवचन, क्रोधहीनता, विनीतता, पवित्रता, भले एव बुरे का भेद, मन की स्थिरता, मन नियन्त्रण, इन्द्रिय निग्रह, आत्मज्ञान सभी वर्गों के धर्म है। सन्यासी को तो इन्हें प्राप्त करना ही है क्योकि केवल वेशभूषा, कमण्डलु आदि से कुछ होता जाता नही इन्हें तो बन्धक भी धारण कर सकता है।[521]

रोमिला थापर के अनुसार सन्यासी का जीवन समस्त रागद्वेष और मोह-माया से विलग, पूर्णतया एकाकी था। उसे अपनी स्पृहा, इन्द्रिय, आचरण आदि पर नियन्त्रण रखना अनिवार्य था।[522] वह अहिसानुयायी, निर्द्वन्द्व, क्रोधहीन, सत्यनिष्ठ और क्षमाशील होता था।[523] उसके लिए यह अनिवार्य था कि वह क्रोध-मोह का परित्याग कर अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच (पवित्रता), सतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान नियमो का पालन करें।[524]

पूर्वमध्यकाल मे भी सन्यास का प्रचलन था। कुट्टनीमतम[525] से विदित होता है कि सुन्दरसेन सन्यास ग्रहण कर तपस्वियों से नियमानुसार वन की ओर प्रस्थित हुआ था। उसमे कहा गया है कि सन्यास आश्रम अविद्या के नाश तथा मोक्ष (सिद्धि) प्राप्ति हेतु नियत है। शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर का ध्यान सन्यासी के श्रेष्ठ

नियम थे।[526] कुल्लूकभट्ट[527] ने भी मनु पर टीका करते हुए सन्यासी के इन्ही गुणो को दोहराया है। भारत आये अरब यात्रियो सुलेमान एव अलबरूनी ने सन्यास जीवन के विषय मे विस्तार से लिखा है। अलबरूनी[528] लिखता है कि 'चौथाकाल जीवन' के अन्त तक चलता है। मनुष्यलाल वस्त्र और हाथ मे एक दण्ड धारण करता है। सर्वदा ध्यानम्थ रहता है। वह अपने मस्तिष्क को शत्रुता और मित्रता से तथा काम, क्रोध, और लालसा से रहित कर लेता है। वह किसी से एकदम सभाषण नही करता। किसी स्वर्गीय पुरस्कार प्राप्ति के निमित्त जब वह विशेष गुणयुक्त स्थानो को भ्रमण करता है तब वह मार्ग के गाव मे एक दिन से अधिक और नगर मे पाच दिन से अधिक नही रूकता। अगर कोई उसे कुछ देता है तो वह दूसरे दिन के लिए उसमे से नही बचाता। मुक्तिमार्ग की चिंता करने और जहॉ से इस ससार मे लौटना नही होता, उस मोक्ष तक पहुॅचने के अतिरिक्त उसके पास दूसरा कोई कार्य नहीं।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि जीवन का विभाजन जिस तरह प्राचीन व्यवस्थाकारों ने प्रस्तुत किया था, वह व्यवस्था अपने मूल उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए थोडे बहुत परिवर्तन के साथ पूर्वमध्यकाल तक चलती आ रही थी। मनु के टीकाकारो ने आश्रम व्यवस्था पर यत्र-तत्र अपनी टिप्पणी की है जिससे इस तथ्य का पता चलता है कि पूर्व मध्यकाल में आश्रम व्यवस्था सूचारू रूप से चल रही थी।

संस्कार:

ऋग्वेद[529] में सस्कृत शब्द धर्म (बरतन) के लिए प्रयुक्त हुआ है यथा दोनों अश्विन् पवित्र हुए बरतन को हानि नही पहुॅचाते। ऋग्वेद मे संस्कृत[530] तथा खाय संस्कृत.[531] शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शतपथ ब्राह्मण में आया है- 'तस्मादु स्त्री पुमांस सस्कृते तिष्ठन्तमभ्येति अर्थात स्त्री किसी सस्कृत (सुगठित) घर में खडे पुरूष के पास पहुॅचती है। जैमिनि के सूत्रों में सस्कार शब्द अनेक बार आया है[533] और सभी स्थलों पर यह यज्ञ के पवित्र या निर्मल कार्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; ज्योतिष्टोम यज्ञ में सिर के केश मुंडाने, दांत स्वच्छ करने, नाखून काटने के अर्थ मे (3/8/3), या प्रोक्षण जल (छिडकने) के अर्थ में (913125) आदि। जैमिनी में संस्कार शब्द उपनयन के लिए प्रयुक्त हुआ है[534] शबर ने जैमिनी के 3/1/3 की व्याख्या में संस्कार शब्द का अर्थ

बताया है कि सस्कार वह है जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है।[535] तन्त्रवार्तिक के अनुसार सन्कार वे क्रियाए तथा रीतियॉ- है जो योग्यता प्रदान करती है। यह योग्यता दो प्रकार की होती है पाप मोचन से उत्पन्न योग्यता तथा नवीन गुणो से उत्पन्न योग्यता[536]। सस्कारो से नवीन गुणो की प्राप्ति तथा तप से पापो या दोषो का मार्जन होता है।

मनु[237] के अनुसार द्विजातियो मे माता-पिता के बीच एव गर्भाशय के दोषों को, गर्भाधान समय के होम तथा जातकर्म (जन्म के समय के संस्कार) से, चौल (मुण्डन सस्कार) से तथा मूज की मेखला पहनने (उपनयन) से दूर किया जाता है। वेदाध्ययन, व्रत, होम त्रैविद्य व्रत, पूजा, सन्तानोत्पत्ति, पच महायज्ञो तथा वैदिक यज्ञो से मानव शरीर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है। याज्ञवल्क्य[538] का मत है कि सस्कार करने से बीज-गर्भ से उत्पन्न दोष मिट जाते है। सस्कारतत्व[539] मे उद्धत हारीत के अनुसार जब कोई व्यक्ति गर्भाधान की विधि के अनुसार सभोग करता है, तो वह अपनी पत्नी मे वेदाध्ययन के योग्य भ्रूण स्थापित करता है। पुसवन संस्कार द्वारा वह गर्भ को पुरूष या नर बनाता है। सीमन्तोन्नयन सस्कार द्वारा माता पिता से उत्पन्न दोष दूर करता है। बीज, रक्त एव भ्रूण से उत्पन्न दोष जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण एव पवित्रता की उत्पत्ति होती है।

प्रत्येक संस्कार के उद्देश्य अलग-अलग है। गर्भाधान पुंसवन, सीमन्तोन्नयन ऐसे सस्कारो का महत्व रहस्यात्मक एंव प्रतीकात्मक था। नामकरण, अन्नप्राशन एंव निष्क्रमण ऐसे सस्कारो का केवल लौकिक महत्व था, उनसे केवल प्यार, स्नेह एव उत्सवो की प्रधानता मात्र झलकती है। उपनयन जैसे सस्कारों का सबध आध्यात्मिक एव सास्कृतिक उद्देश्यों से था, इससे गुण सम्पन्न व्यक्तियो से सम्पर्क स्थापित होता था, वेदाध्ययन का मार्ग खुलता था तथा अनेक प्रकार की सुविधाएं प्राप्त होती थी, उनका मनोवैज्ञानिक महत्व भी था, सस्कार करने वाला व्यक्ति एक नये जीवन का आरम्भ करता था जिसके लिए वह नियमो के पालन के लिए प्रतिश्रुत होता था।

क्या शूद्रों का भी कोई सस्कार होता है? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक मत मतान्तर हैं। व्यास[540] ने कहा है कि शूद्र लोग बिना

वैदिक मंत्रो के गर्भाधान, पुसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, कर्णवेध एव विवाह नामक सस्कार कर सकते है।- अपरार्क[541] के अनुसार गर्भाधान से चौल तक आठ सस्कार सभी वर्णो के लिए (शूद्रो के लिए भी) मान्य है। किन्तु मदनरत्न, रूपनारायण तथा निर्णयसिन्धु मे उद्धत हरिहर भाष्य के मत से शूद्र लोग केवल छ सस्कार यथा-जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण एव विवाह तथा पचाहग्निक (प्रतिदिन के पाच महायज्ञ) कर सकते है। रघुनन्दन के शूद्र कृत्यतत्व[542] में लिखा है कि शूद्र के लिए पुराणो के मत्र ब्राह्मण द्वारा उच्चरित हो सकते है शूद्र केवल नम· कह सकता है। ब्रह्मपुराण के अनुसार शूद्रों के लिए केवल विवाह का सस्कार मान्य है।[543]

हिन्दू समाज मे सस्कारो को प्रचलन वैदिक युग से हो रहा है किन्तु इनका विवरण वैदिक साहित्य मे नही मिलता सूत्रो एव स्मृतियो मे इनके विषय मे विस्तार से लिखा गया है। मनुष्य के जीवन मे कितने सस्कार होने चाहिए, इस पर धर्मशास्त्रकारो मे मतभेद है। गौतम[544] ने सस्कारों की सख्या चालीस दी है और वैखानस ने अठारह। प्राय सभी धर्मशास्त्र सस्कारो की सख्या सोलह मानते हैं- गर्भाधान, पुसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि। वस्तुतः संस्कारो की सख्या उनकी मान्यता पर निर्भर थी। जो संस्कार समाज द्वारा स्वीकृत किये गये और उनका पालन किया गया, वही ज्यादा प्रचलित हुए।

गर्भाधान अथवा निषेक:

अर्थववेद का 5/25 वां काण्ड गर्भाधान के क्रिया संस्कार से सबधित है। अर्थववेद के इस अंश के तीसरे एव पाचवें मत्र से, जो वृहदारण्यकोपनिषद[545] मे उद्धत है, गर्भाधान के कृत्य पर प्रकाश पडता है। इसे सम्पन्न करते समय उपयुक्त समय और वातावरण का ध्यान रखना अपेक्षित रहा है। स्त्री का ऋतुकाल मे रहना आवश्यक माना गया है। ऋतुस्नान के बाद चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक गर्भाधान के लिए उपयुक्त समय अवधि मानी गई है।[546, 547] रात्रि का समय ही गर्भाधान के लिए ठीक माना गया है वह भी अर्धरात्रि के बाद। रात्रि में पिछला प्रहर

श्रेयस्कर था, 8वी, 15वी और 30वी रात्रिया गर्भाधान के लिये पूर्णत वर्जित थी।[548, 549]

गर्भाधान गर्भ (भ्रूणास्थित बच्चे) का सस्कार है या स्त्री का? याज्ञवल्क्य[550] की व्याख्या मे विश्वरूप ने लिखा है कि सीमान्तोन्नयन सस्कार को छोडकर सभी सस्कार बार-बार सम्पादित होते है क्योकि ये गर्भ के सस्कार है, किन्तु सीमन्तोन्नयन सस्कार केवल एक बार सम्पादित होता है, क्योकि यह स्त्री से सबधित है। यही बात लघु आश्वलायन[551] मे भी पायी जाती है, किन्तु मनु[552] पर टीका करते हुए मेधातिथि ने लिखा है कि विवाहोपरान्त कुछ लोगो के मत से प्रथम सभोग के समय ही गर्भाधान सस्कार किया जाना चाहिए। मेधातिथि के उपरोक्त विचार से कुछ स्पष्ट निष्कर्ष निकालना सभव नही है कि गर्भाधान सस्कार केवल एक बार किया जाता था अथवा बार-बार किन्तु इतना अवश्य स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे भी गर्भाधान एक सस्कार के रूप मे सम्पादित होता था, समाज मे इसका प्रचलन था। कुल्लूकभट्ट[553] भी मनु के ऊपर टीका करते हुए कहते है कि गर्भाधान सस्कार होमके रूप मे नही सम्पादित होता है। स्मृतिचन्द्रिका[554] मे भी यही तथ्य है। अलबरूनी लिखता है कि अगर व्यक्ति संतान के निमित्त पत्नी से सम्भोग करता है तो यह उसका कर्त्तव्य है कि वह गर्भाधान नामक यज्ञ करे। इस सस्कार को लज्जावश कभी-कभी छोड दिया जाता था। निश्चय ही गर्भाधान सस्कार परवर्तीकाल में सबके लिए अनिवार्य नहीं रहा, मगर द्विजों के कट्टर धर्मानुयायी वर्ग मे इसकी अनिवार्यता अवश्य थी।[555]

पुंसवन

पुंसवन शब्द अर्थववेद[556] मे आया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है. लडके को जन्म देना। आश्वलायन गृह सूत्र[557] के अनुसार गर्भ के तीसरे महीने पुसवन संस्कार का आरोपण किया जाता था और एक अन्य स्थान[558] पर कहा है कि यह संस्कार पुत्र संतानोत्पत्ति के निमित्त निष्पन्न होता था। इस सस्कार के माध्यम से पुत्र उत्पन्न करने वाले देवताओं को प्रसन्न किया जाता था। कभी-कभी यह दो मास से लेकर आठ मास के बीच किसी भी समय सम्पन्न किया जाता था। वायु पुराण[559] एंव ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिए यह संस्कार सम्पादित

किया जाता था। पूर्वमध्यकालीन भाप्कारो ने इम सम्कार का कोई उल्लेख नही किया है।

सीमन्तोन्नयन ·

इस सस्कार का वर्णन आवश्लायन[559] शाखायन[560] हिरण्यकेशी[561], बौधायन[562] भारद्वाज[563], गोभिल[564], खादिर[565], पारस्कर[566], काठक[567], वैखानस[568] नामक गृहसूत्रों मे पाया जाता है। यज्ञवल्क्य[569] एव व्यास[570] ने इस सस्कार को केवल सीमन्त की संज्ञा दी है। पारस्कर गृहसूत्र[571], बौधायन गृहसूत्र[572] के अनुसार इस सस्कार को सीमन्तोन्नयन इसलिए कहा गया कि इसकी सम्पन्नता मे गर्भिणी स्त्री के केशो (सीमन्त) को ऊपर (उन्नयन) उठाया जाता था। ऐसा विश्वास था कि जब स्त्री गर्भिणी होती है तब उस पर अनेक बाधाएँ आती है जो उसे डराकर गर्भ का विनाश कर देती है अत. इन दुष्ट शक्तियों और बाधाओ से गर्भिणी स्त्री की रक्षा का उपाय सीमन्तोन्नयन संस्कार से किया गया। गृहसूत्रो मे यह उल्लिखित है कि स्त्री के गर्भ का भक्षण करने के लिए कुछ राक्षसियॉ आती है, जो उसे अनेक प्रकार की पीडा और कष्ट पहुचाती है। इसके निवारणार्थ पति को 'श्री' का आह्वान करना चाहिए. जिससे राक्षसियॉ भाग जाये[573]। इस सस्कार को सम्पन्न करते समय पुरूष मातृपूजन करता था और प्राजापत्य आहुति प्रदान करता था। पूजन विधि मे वह प्रतीक के रूप में तीन गुच्छों और सफेद चिन्ह वाले शाही के तीन काटे भी रखता था जिससे दुष्ट शक्तियॉ गर्भिणी स्त्री से दूर रह सके। कालान्तर मे यह सस्कार समाप्तप्राय हो गया, क्योंकि मनु ने इसका नाम तक नही लिया है। पूर्वमध्यकाल के भाष्यकारों ने भी इसका उल्लेख नही किया है।

जातकर्म ·

पुत्र जन्म के समय जातकर्म सस्कार सम्पादित किया जाता था। मनु के अनुसार नाभिच्छदन (नार काटने) के पहले जातकर्म संस्कार किया जाता था।[574] अनिष्टकारी शक्तियों का बच्चे पर कोई कुप्रभाव न पडे इसके लिए यह संसकार सम्पन्न होता था। सोना, घी तथा मधु से गृहोक्त मंत्रों के साथ नवोत्पन्न बच्चे का प्राशन कराया जाता था, पिता सविधि स्नानादि करके नान्दीमुख श्राद्ध और पूजन करता था।[575] मध्यकालीन लेखकों ने भी जातकर्म संस्कार पर प्रकाश डाला है।

स्मृतिचन्द्रिका[576] सस्काररत्नमाला[577], एव सस्कार प्रकाश[578] मे इसका उल्लेख मिलता है। अलबरूनी[579] लिखता है कि पत्नी द्वारा पुत्र प्रसव करने के बाद और मां द्वारा उसका पोषण प्रारम्भ करने के बीच जातकर्म नामक तीसरा यज्ञ किया जाता है। जातकर्म के अभिलेखीय प्रमाण भी मिलते है, गहडवाल नरेश जयचन्द्र ने अपने पुत्र हरिश्चन्द्र के 'जातकर्म' के शुभअवसर पर पुरोहित प्रहराज शर्मन को वदेसर ग्राम को दान मे दे दिया था।[580]

नामकरण:

हिन्दू समाज मे सतान को नाम प्रदान करना भी एक संस्कार माना गया है। अच्छे नाम को शुभकर्मों और भाग्य का आधार माना गया है। अपने व्यक्तिगत नाम से ही व्यक्ति समाज में जाना जाता है। अत. नामकरण के माध्यम से सतान का नाम निर्धारित होता है जिससे वह अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। ब्राह्मण ग्रथो[581] गृहसूत्रो[582] एव स्मृतियो[583] में नामकरण का विस्तार से वर्णन हुआ है। शिशु के नाम का चुनाव धार्मिक क्रियाओ के साथ निश्चित तिथि को सम्पन्न किया जाता था। नामकरण के लिए नामकरण का काल और नामार्थाक शब्दों का विचार भी इसका आवश्यक अग था। मनु के अनुसार दसवे या बारहवें दिन शुभ तिथि, नक्षत्र और मुहूर्त मे नामकरण का आयोजन करना चाहिए।[584] भाष्यकार विश्वरूप[585] और कुल्लूकभट्ट[586] के अनुसार इसे 11वें दिन सम्पन्न करना चाहिए। मेधातिथि[587] ने इसे 10वे दिन सम्पादित करने का निर्देश दिया है। बृहस्पति[588] ने यह व्यवस्था दी है कि शिशु का नामकरण जन्म से दसवें, बारहवे, तेरहवें, सोलहवे, उन्नीसवें, अथवा बत्तीसवे दिन सम्पन्न करना चाहिए। नामकरण के दिन के सबध मे विचार करने पर स्पष्ट होता है कि मनु के काल से लेकर मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट, विश्वकप के समय तक कुछ खास परिवर्तन नहीं आया था । जहॉ मनु ने नामकरण के लिए दसवें या बारहवे दिन का विधान किया था वहीं विश्वरूप और कुल्लूक ने ग्यारहवे तथा मेधातिथि ने 10वें दिन सम्पन्न करने को कहा है अर्थात इस संस्कार में निरन्तरता बनी हुई थी, इसे पूर्वमध्यकाल तक यथावत सम्पन्न किया जा रहा था।

सुन्दर, शोभन और कर्णप्रिय नाम अच्छे माने जाते रहे हैं। शिशु को प्राय: देवताओं, नक्षत्रों आदि के नाम प्रदान किये जाने का

निर्देश दिया गया है। देवता-नाम, मास नाम, नक्षत्र नाम और व्यवहारिक नाम, नाम के ये चार आधार हिन्दू धर्मशास्त्रकारो ने प्रस्तुत किये है। मनु[589] के अनुसार ब्राह्मण का नाम मगल सूचक, क्षत्रिय का बलसूचक वैश्य का धन सूचक और शूद्र का निदा सूचक शब्दो से युक्त होना चाहिए। शर्म, वर्म, गुप्त क्रमश ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के पुत्रो के नाम का अंत मे लगाने की व्यवस्था धर्मशास्त्रकारो ने की है।[590] शूद्र के नाम के साथ अत मे 'दास' शब्द लगाने का विधान किया गया है।[591] बाण ने कादम्बरी मे लिखा है कि तारापीड ने अपने पुत्र चन्द्रापीड का नामकरण पुण्य मुहूर्त मे जन्म के दस दिन बाद किया था।[592]

निष्क्रमण.

जन्म से एक निश्चित अवधि के बाद जब सतान को पहली बार घर के बाहर निकाला जाता था, तब यह सस्कार निष्क्रमण कहा जाता था। इस सस्कार से पहले माँ और शिशु को एक प्रकोष्ठ मे रखा जाता था वहाँ से कहीं और जाने की अनुमति नही होती थी। पारस्कर गृहसूत्र[593] में बहुत सक्षेप मे इसका वर्णन आया है। गोभिल[594], खादिर[595], बौधायन[596], मानव[597], काठक[598] में इसका वर्णन आया है। यह सस्कार प्राय जन्म के बारहवे दिन से चौथे मास तक सम्पन्न हो जाता था।[599] इसमे पिता सूर्य की पूजा करता है। मनु के अनुसार बालकों को जन्म से चौथे महीने गृह के बाहर लाना चाहिए।[600] वस्तुत इस सस्कार के मूल मे यह विचार था कि एक निश्चित और निर्धारित तिथि पर शिशु को सर्वप्रथम उन्मुक्त वातावरण और प्राकृतिक जीवन मे लाकर तथा सूर्य एव चन्द्र जैसे नक्षत्रो के प्रकाश में लाकर उसके स्वच्छन्द विकास पर बल दिया जाए।

अन्नप्राशन.

पांचवे महीने के बाद शिशु अन्न खाने लायक हो जाता है और वह धीरे-धीरे अन्न की ओर आकृष्ट होने लगता है। अत अन्नप्राशन संस्कार द्वारा बच्चे को सर्वप्रथम अन्न ग्रहण कराया जाता था।[601] शिशु के दांत निकलने पर प्रथम बार अन्न खिलाने को प्राशित्र कहा जाता था। इस संस्कार में दूध, मधु, दही और पका हुआ चावल (भात) बच्चे के मुख से स्पर्श कराया जाता था। शिशु की वाणी मे प्रवाह लाने के लिए भारद्वाज पक्षी का मांस और उसकी कोमलता के लिए मछली खिलाने का विधान किया गया था, किन्तु हिन्दू परिवारो में

मासभक्षण का प्रचलन बहुत कम था। पूर्वमध्यकाल के भाष्यकारों ने इस सस्कार पर कोई विशेष टिप्पणी नही की है।

चौल या चूडाकरण

चूडा का तात्पर्य बाल-गुच्छ, जो मुण्डित सिर पर रखा जाता है, इसे 'शिखा' भी कहते है। शिशु के बाल जब सर्वप्रथम काटने का आयोजन किया जाता था तब यह सस्कार 'चूडाकरण' या 'चूडाकर्म' कहा जाता था।[602] ऐसी मान्यता रही है कि चूडाकरण से दीर्घायु और कल्याण प्राप्त होती है[603] मनु के अनुसार बालको का चूडाकरण मुण्डन सस्कार वेद और धर्मसम्मत रूप मे पहले या तीसरे वर्ष मे कराया जाता था।[604] पारस्कर[605] एव वैखान स0[606] ने भी लिखा है कि इसे पहले या तीसरे वर्ष कर देना चाहिए। आश्वलायन[807] ने भी तीसरे वर्ष या कुटुम्ब की परम्परा के अनुसार करने को कहा है।

प्राय यह सस्कार देवालयों मे एक शुभ दिन पर सम्पन्न किया जाता था, जहाँ विधिपूर्वक हवन और पूजन के साथ मातृकाओ और देवो की स्तुति एव अर्चना सम्पन्न की जाती थी। देव-पूजन और हवन के पश्चात ब्राह्मणो को भोजन और निर्धनो को अन्न वस्त्र बाटकर यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। सिर से बाल उतर जाने के बाद मुडित सिर पर मक्खन या दही का लेपन किया जाता था। मध्यकालीन लेखकों ने भी चूडाकरण संस्कार पर विस्तार से लिखा है।[608] मनुस्मृति के भाष्यकारों ने भी चूडाकरण का उल्लेख किया है, कुल्लूकभट्ट के अनुसार भी वेद के नियमो के अनुसार बालकों का चूडाकरण प्रथम या तृतीय वर्ष में हो जाना चाहिए।[609] हिन्दू समाज मे आज भी मुंडन संस्कार बडे उल्लास से मनाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि यह संस्कार काफी प्राचीन समय से प्रचलित रहा है, पूर्वमध्यकाल एव मध्यकाल में भी इसके प्रचलित होने के प्रमाण मिलते है और आज भी इसकी निरन्तरता बनी हुई है।

कर्णछेदन या कर्णविध:

हिन्दू सस्कार में यह व्यवस्था वैदिककालीन है। अर्थववेद[610] में इसका उल्लेख मिलता है। यह सस्कार कब और किस समय किया जाये इस पर मत वैभिन्य हैं। निरूक्त[611] से पता चलता है कि प्राचीन काल में भी यह संस्कार किया जाता था। वहाँ आया है-जो (गुरू) कान को सत्य के साथ छेदता है बिना पीडा दिये, जो अमृत डालता है, वह अपने माता

और पिता के समान है। गर्ग के अनुसार कर्णवेध के लिए छठा, सातवा, या बारहवॉ मास उपयुक्त था।[612] अलबरूनी ने लिखा है कि सातवे या आठवे मास मे कर्णवेध सस्कार होता है।[613] उस का यह कथन बौधायन के इस कथन से मिलता है कि कर्णवेध सातवे या आठवे मास मे करना चाहिए।[614] बृहस्पति के उद्धरण के साथ सस्कार प्रकाश मे उल्लिखित है कि कर्णछेदन जन्म से दसवे, बारहवे या सोलहवे दिन या सातवे अथवा दसवे महीने मे करना चाहिए।[615] विभिन्न धार्मिक क्रियाओ के साथ यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। अब धीरे-धीरे कर्णछेदन सस्कार हिन्दू समाज से उठता जा रहा है।

विद्यारम्भ :

सतान की अवस्था जब पाच वर्ष की हो जाती थी तब उसे शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की जाती थी[616] । पहले-पहल बच्चे द्वारा वर्णाक्षर सीखा और पढा जाना विद्यारम्भ सस्कार कहा जाता था। यह संस्कार प्राय चौल सस्कार के बाद ही किया जाता था। शुभ मुहुर्त में शिक्षक द्वारा पट्टी पर 'ओम' और 'स्वास्तिक' के साथ वर्णमाला लिखकर बालक को अक्षर ज्ञान कराया जाता था। मार्कण्डेय पुराण को उद्धृत करते हुए अपरार्क[617] और स्मृतिचन्द्रिका[618] ने लिखा है कि सन्तान के विद्या आरम्भ करने की आयु पॉच वर्ष थी। चीनी यात्री श्वानच्वाग[619] ने बालको की विद्या का आरम्भ सिद्ध से माना है, जो सफलता का परिचालक था। अलबरूनी[620] लिखता है कि बच्चों के लिए विद्यालय मे काली तख्ती प्रयोग में लाते है। उस पर वे लम्बाई की ओर बाये से दायें सफेद वस्तु (खडिया) से लिखते है। मनुस्मृति एव उसके भाष्यकारो ने इस तथ्य पर कोई मत नहीं व्यक्त किये हैं।

उपनयन

उपनयन का अभिप्राय स्वाध्याय अथवा वेद के अध्ययन से है, जब बालक आचार्य के निकट अध्यानार्थ जाता था। उपनयन के लिए यज्ञोपवीत शब्द का भी प्रयोग होता है जिसका अर्थ है यज्ञ का उपवीत। इस संस्कार की सम्पन्नता से बालक वर्ण अथवा जाति का सदस्य बनता था और द्विज कहलाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिये यह अनिवार्य था तथा शूद्रों के लिए नहीं था। वस्तुत· उपनयन संसार का प्रधान उद्देश्य था वेदों का अध्ययन।

गौतम[621] एव मनु[622] के अनुसार ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवे वर्ष मे, क्षत्रिय बालक का गर्भ से ग्यारहवे वर्ष मे और वैश्य बालक का गर्भ से बारहवे वर्ष मे उपवीत करना चाहिए। आपस्तम्ब[623] शाखायन[624], बौधायन[625], भारद्वाज[626] एव गोभिल[627] गृहसूत्र तथा याज्ञवल्क्य[628], आपस्तम्बधर्मसूत्र[629] स्पष्ट कहते है कि वर्षों की गणना गर्भाधान से होनी चाहिए। पारस्कर गृहसूत्र के मत से उपनयन गर्भाधान या जन्म के आठवे वर्ष मे होना चाहिए। किन्तु इस विषय मे कुलधर्म का पालन भी करना चाहिए। याज्ञवल्क्य[631] ने भी कुलधर्म की बात स्वीकार की है। आपस्तम्ब गृहसूत्र[632] एंव आपस्तम्ब धर्मसूत्र[633], हिरण्यकेशी[634] एव वैखानस[635] के मत से तीन वर्णों के लिए क्रम से शुभ मुहूर्त पडते है बसन्त, ग्रीष्म एव शरद के दिन।

ब्रह्मचारी दो वस्त्र धारण करता था, जिसमे एक अधोभाग के लिए (वासस) और दूसरा ऊपरी भाग के लिए (उत्तरीय)। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[636] के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य ब्रह्मचारी के लिए वस्त्र क्रम से पटुआ के सूत का, सनके सूत का एव मृगचर्म का होता था। यह सस्कार सम्पन्न करते समय बालक को यज्ञोपवीत धारण करने के लिये दिया जाता था। मेधातिथि यने मनु पर भाष्य[637] मे लिखा है कि नव तन्तुओ से निर्मित तीन डोरी वाला यज्ञोपवीत ब्राह्मण बालक पहनता था। विभिन्न वर्णों के बालकों का यज्ञोपवीत विभिन्न प्रकार का होता था। मनु[638] के अनुसार ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास था, क्षत्रिय का सन का और वैश्य का ऊन का बना हुआ तीन लडी का बना हुआ था। उपनयन सस्कार वाले बालक को मूज की मेखला (कटिसूत्र) बाधने का विधान था।[639] दण्ड किस वृक्ष से का बनाया जाये, इस विषय मे भी बहुत मतभेद रहा है। आश्वलायन गृहसूत्र[640] के मत से ब्राह्मण, क्षत्रिय एंव वैश्य के लिए क्रम से पलाश, उदुम्बर एंव बिल्ब का दण्ड होना चाहिए या कोई भी वर्ण इनमें से किसी एक का दण्ड ले सकता है। बालक के वर्ण के अनुसार दण्ड की लम्बाई में अन्तर था। आश्वलायन गृहसूत्र[641], गौतम[642], वसिष्ठधर्मसूत्र[643], पारस्कर गृहसूत्र[644], मनु[645] के मतों से ब्राह्मण, क्षत्रिय एंव वैश्य का दण्ड क्रम से सिर तक, मस्तक तक एव नाक तक लम्बा होना चाहिए। मनु के अनुसार दण्ड सीधा, सुन्दर एंव अग्निस्पर्श से रहित होना चाहिए।

यज्ञोपवीत संस्कार की कार्य पद्धति के अन्तर्गत बालक को स्नान कराकर कौपीन (लगोटी) धारण करने के लिए दी जाती थी। आचार्य उसके कटि के चारो ओर मेखला बाधता है तथा उसे उपवीत धारण करने के लिए दिया जाता है। तत्पश्चात उसे मृगचर्म और दण्ड प्रदान किये जाते थे।[646] यह सारी क्रियाये धर्मशास्त्रीय आधार पर मत्रो से सम्पन्न की जाती थी। उसे सूर्य का दर्शन कराया जाता था, जो विद्यार्थी की कर्त्तव्यपरायणता और अविचलित स्वरूप का प्रतीक होता था। बाद मे गुरू और विद्यार्थी परस्पर हृदय का स्पर्श करके अपनत्व का परिचय देते थे। अश्मारोहण (प्रस्तर खण्ड पर आरूढ होना) और हस्तग्रहण (आचार्य द्वारा विद्यार्थी को अपना शिष्य स्वीकार किया जाना) के पश्चात आचार्य शिष्य को सावित्रीमत्र के साथ उपदेश देता था।[647] ये कार्य सम्पादित कर दिये जाने के बाद विद्यार्थी को भिक्षायाचना के लिए निर्देश दिया जाता था, जो उसकी नम्रता और सदाचारिता का प्रतीक था।

शतपथ ब्राह्मण[648] से पता चलता है कि उपनयन के एक वर्ष, छः मास, 24, 12 या 3 दिन केक उपरान्त गुरू (आचार्य) द्वारा पवित्र गायत्री मंत्र का उपदेश ब्रह्मचारी के लिए किया जाता था। मनु[649] का कहना है कि प्रतिदिन वेदाध्ययन के आरम्भ एव अंत मे प्रणव (ओम) दुहराना चाहिए, 'ओम के तीन अक्षर अर्थात् अ, उ तथा म तथा तीन व्याहृतिया प्रजापति द्वारा तीनो वेदो से साररूप खींच ली गई है। मेधातिथि[650] मनु पर भाष्य करते हुए कहते है कि विद्यार्थी को वेदाध्ययन के आरम्भ मे तथा गृहस्थ को ब्रह्मयज्ञ मे 'ओम' का उच्चारण अवश्य करना चाहिए, किन्तु जप मे यह आवश्यक नही है। उपरोक्त कथन से स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल तक उपनयन संस्कार प्रचलित था और उसकी क्रियाविधि पर उसी तरह ध्यान दिया जाता था जैसा मनुस्मृति के काल में था। 'ओम्' शब्द की महत्ता भी उसी तरह थी इसे वेदाध्ययन के प्रारम्भ एंव अंत में उच्चरित करना होता था, सम्भवत पूर्व मध्यकाल तक आते-आते इस गायत्री मत्र का विशेष महत्व माना जाना लगा था तभी मेधातिथि ने विद्यार्थियों के साथ-साथ गृहस्थ को भी ब्रह्मयज्ञ के साथ ओम का उच्चारण आवश्यक बताया। एक तरफ जहाँ ज्यादातर संस्कारो का उल्लेख पूर्वमध्यकालीन भाष्यकारो के समय बंद सा हो गया था, वहीं किसी भी संस्कार पर पहले से ज्यादा और एकदम विरोधाभास प्रस्तुत करता है।

एक अन्य स्थल से ज्ञात होता है कि मनु पर भाष्य करते हुए मेधातिथि[651] जप को गौण तथा मत्र एव आसन को प्रमुख स्थान देते है। इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि इस काल मे गायत्री मत्र के जप पर उतना जोर नही दिया जा रहा था जितना कि मत्र एव सध्योपासना को। जब दो कालो का मिश्रित समय होता है यथा उषाकाल एव प्रात काल तब तक सध्या करने का निर्देश दिया गया है।

वेदारम्भ :

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का प्रधान आधार शिक्षक था, जिसे आचार्य गुरू, उपाध्याय की सज्ञा दी गई है। अध्यापन अथवा शिक्षण मौखिक ही होता था। आरम्भ मे पिता ही पुत्र को शिक्षा देता है जैसा कि वृहदारण्यको उपनिषद[652] के श्वेतकेतु आरूणेय की गाथा से ज्ञात होता है। मनु[653] का कहना है कि आचार्य उपनयन करने के उपरान्त शिष्य को शौच (शारीरिक शुद्धता), आचार (प्रतिदिन के जीवन में आचार के नियम, अग्नि मे समिधा डालने एंव सन्ध्या-पूजा के नियम सिखाता है। यही याज्ञवल्क्य[654] का भी कहना है।

शिक्षण कार्य मौखिक था। सर्वप्रथम प्रणव, व्याहतियॉ एव गायत्री ही पढायी जाती थी, किन्तु द्विजातियो का प्रथम कर्त्तव्य वेदाध्ययन था। मनुस्मृति[655] एव शतपथ[656] मे वेदाध्ययन को अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। जीवन छोटा होता है, अत. गौतम[657], वसिष्ठधर्मसूत्र[658] मनुस्मृति[659], याज्ञवल्क्य[660] एंव अन्य लोगों ने केवल एक वेद के अध्ययन का आदेश दिया है। दक्ष[661] के अनुसार वेदाध्ययन मे पाच बातें पायी जाती है-वेद को कठस्थ करना, उसके अर्थ पर विचार करना, बार-बार दुहराकर सदा नवीन बनाये रखना, जपकरना (मन ही मन प्रार्थना के रूप मे दुहराना) एव दूसरे को पढाना। यही तथ्य मनुस्मृति[662] एव इसके भाष्यकार-मेधातिथि में भी देखने को मिलती है।[663] इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल तक यह सस्कार प्रचलित था एंव वेदो की महत्ता यथावत थी।

प्राचीन शिक्षण पद्धति की विशेषताओं में यह एक विचित्र विशेषता है कि वेदाध्ययन के लिए पहले से ही कोई शुल्क निर्धारित नहीं था। वृहदारण्यकोपनिषद[664] में आया है कि जब जनक ने याज्ञवल्क्य को एक सहस्त्र गौए, एक हाथी एंव एक बैल देना चाहा तो याज्ञवल्क्य ने कहा कि मेरे पिता का मत था कि बिना पूर्ण पढाये शिष्य से कोई

पुरस्कार नही लेना चाहिए।' आपस्तम्ब धर्मसूत्र[665] मे आया है कि अपनी योग्यता के अनुसार शिष्य को विद्या के अन्त मे गुरूदक्षिणा देनी चाहिए। किन्तु पहले से निर्धारित शुल्क को उचित दृष्टि से नही देखा गया है। याज्ञवल्क्य[666] एव विष्णुधर्मसूत्र[667] के अनुसार धन के लिए पढाने एव वेतनभोगी गुरू से पढने को उपपातको मे गिना है। भृतकाध्यापक एव उनके शिष्य श्राद्ध मे बुलाये जाने योग्य नही माने जाते थे।[668] किन्तु मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि[669], मिताक्षरा[670], स्मृतिचन्द्रिका[671] से ज्ञात होता है कि केवल शिष्य से कुछ लेने पर ही कोई गुरू भृतकाध्यापक नही कहा जाता, प्रत्युत निर्दिष्ट धन ले कर पढाने की व्यवस्था करने वाला गुरू भर्त्सना का पात्र होता है, किन्तु आपतकाल में जीविका के लिए निर्दिष्ट धन लेने की व्यवस्था की गयी थी[672]। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल तक भी शिक्षण कार्य मे नियमित शुल्क लेने की कोई प्रथा नही थी। शुल्क लेने वाला गुरू भर्त्सना का पात्र माना जाता था, किन्तु आपातकाल एव गुरू की तगी हालत मे गुरू को धन लेने की छूट दे दी गई थी। इस प्रकार शिक्षण सस्था लगभग पूर्ववत सी ही चली आ रही थी।

केशान्त:

विद्यार्थी के सोलहवे वर्ष में यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था, जब उसकी दाढी आदि का पहली बार क्षौरकर्म होता था[673] मनु स्मृति[674] के अनुसार गर्भ से सोलहवे वर्ष ब्राह्मण का, बाइसवे वर्ष क्षत्रिय का और चौबीसवें वर्ष वैश्य का केशात सस्कार सम्पन्न करना चाहिए। मिताक्षरा[675] तथा कुल्लूकभट्ट[675] ने ब्राह्मणो के लिए गर्भाधान से 16वे वर्ष तथा अपरार्क ने जन्म से 16वें वर्ष माना है। गोदान तथा केशान्त की विधि कुछ अन्तर के साथ चूडाकरण के समान ही है। दाढी, मूछो का उगना तरूणाई के लक्षण हैं, अत. इनकी क्षौर क्रिया के साथ युवा व्यक्ति को ब्रह्मचर्य और सदाचरण का स्मरण दिलाया जाता था। केशान्त को 'गोदान' भी कहा जाता था, क्योंकि इस सस्कार के मंगलमय अवसर पर ब्राह्मण आचार्य को गोदान दिया जाता था। कुल्लूकभट्ट के उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल तक यह संस्कार उसी स्वरूप में सम्पन्न किया जाता था और मनु के समान ही इस संस्कार को करने

का समय गर्भ से 16वे वर्ष माना गया था। आयु का अकन गर्भ से करने की परिपाटी अभी तक चली आ रही थी।

समावर्तन ·

वेदाध्ययन के उपरान्त का स्नान-कर्म तथा गुरू गृह से लौटते समय का सस्कार स्नान या समावर्तन कहा जाता है। इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए कोई निश्चित आयु निर्धारित नही थी। इसकी अवधि तभी मानी जाती थी जब ब्रह्मचारी वेद का अध्ययन पूर्ण कर लेता था। समावर्तन का शाब्दिक अर्थ है 'गुरूग्रह से अपने गृह को लौट आना। अर्थात् विद्यार्थी जीवन की परिसमाप्ति एव अब विद्यार्थी विवाह बधन मे बध सकता था। मेधातिथि[677] ने लिखा है कि समावर्तन विवाह का कोई आवश्यक अग नही है। अत जो पितृगृह में ही वेदाध्ययन करता है, वह बिना समावर्तन के ही विवाह बधन मे प्रवेश कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे भी यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था और साथ ही यह प्रश्न भी उठाया जाता रहा होगा कि समावर्तन विवाह का अंग है या शिक्षा सबधी संस्कार का अंग। इस प्रश्न पर भी मेधातिथि ने स्पष्ट कर दिया है कि यह विवाह संस्कार का अग नही है। यह गुरू से शिक्षा प्राप्त करके लौटने के प्रतीक स्वरूप यह सस्कार था।

यह सस्कार सम्पन्न करने के लिए कोई शुभ दिन चुना जाता था। मध्यान्ह के समय ब्रह्मचारी गुरू के चरणो में प्रणाम करता था और तत्पश्चात समिधा इकट्ठी कर हवन करता था। इस स्थान पर जलयुक्त आठ कलश रखे रहते थे, जो इस तथ्य के परिचालक थे कि ब्रह्मचारी के ज्ञान का यश समस्त दिशाओ मे वर्षा की तरह व्याप्त है। तत्पश्चात, ब्रह्मचारी उन कलशों के जल से स्नान करता था तथा अपनी पवित्रता, यश, ऐश्वर्य, आदि के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था। स्नान के पश्चात् ब्रह्मचारी दण्ड, मेखला, मृगचर्म आदि को त्याग कर नवीन कौपीन धारण करता था तथा अपने बाल और नाखून कटवाकर स्वच्छ हो जाता था। इस अवसर पर आचार्य विद्यार्थी को सुन्दर वस्त्राभूषण, दर्पण, जल, पुष्प आदि प्रदान करता है। इस प्रकार स्नातक आचार्य का आर्शीवाद और अनुमति प्राप्त कर गृह की ओर प्रत्यावर्तन करता था।

विवाह:

विवाह सस्कार को सर्वोकृष्ट महत्ता प्रदान की गई है। ऋग्वेद के अनुसार विवाह का उद्देश्य था गृहस्थ होकर देवो के लिए यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना[678]। शतपथ ब्राह्मण[679] का कहना है कि पत्नी पति की आधी (अर्द्धांगिनी) है, अत: जब तक व्यक्ति विवाह नही करता, सन्तानोत्पत्ति नही करता तब तक वह पूर्ण नही है। विवाह क्रिया की सम्पन्नता के समय वाग्दान, वर-वरण, कन्यादान, विवाह-होम, पाणिग्रहण, हृदयस्पर्श, सप्तपदी, अश्मारोहण, सूर्यावलोकन, ध्रुव दर्शन, त्रिरात्र-व्रत और चतुर्थी कर्म आदि का विधान था।[680] विवाह के पश्चात ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता है और यही रहकर व्यक्ति सामाजिक और धार्मिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करता था। समस्त ऋणों से व्यक्ति उऋण होता था। वस्तुत. विवाह पुरूषार्थ का मूल था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इसी पर निर्भर थे। विवाह के आठ प्रकार प्रचलन में थे। प्रथम चार ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य को समाज मे आदर प्राप्त था। द्वितीय चार गन्धर्व असुर राक्षस, पैशाच समाज में निन्दित दृष्टि से देखे जाते थे। मनु[681] एव याज्ञवल्क्य[682] ने प्रथम चार विवाहों को ही उपयुक्त माना है। इन विवाहों से उत्पन्न सन्ताने पूर्व तथा आगे की पीढियो के पापा छुटा देती है तथा इन्हीं विवाहो से ब्रह्म तेज वाले और सज्जन पुत्र उत्पन्न होते है। किन्तु पूर्व मध्य काल के टीकाकारो ने उपर्युक्त बाते ज्यो की त्यों नहीं मान ली है बल्कि वे केवल ब्रह्म विवाह को ही उच्च दृष्टि से देखते है। इससे स्पष्ट होता है कि इस काल में प्राचीनकाल की अपेक्षा और अधिक संकीर्णता आ गई थी। अभी तक के सूत्रो एव स्मृतियो से यह ज्ञात होता था कि प्रथम चार प्रकार के विवाह से उत्पन्न बच्चों से पवित्रता होती थी किन्तु अब केवल ब्रह्म विवाह ही उच्च दृष्टि से देखा जा रहा था। मानव जीवन मे विवाह संस्कार की महत्ता, एव सब सस्कारो का आधार होने के कारण इसका विस्तृत विश्लेषण भी किया जा रहा है।

अन्त्येष्टि:

मनुष्य के मरने पर जब उसके पार्थिव शरीर की दाह क्रिया की जाती थी तब उसे अन्त्येष्टि संस्कार कहा जाता था, जो उसके जीवन का अतिंम सस्कार होता था । बौधायन का कथन है कि जन्म के बाद

सस्कारो द्वारा मनुष्य इस लोक को विजित करता है, जबकि मृत्युपरान्त के सस्कारो द्वारा परलोक को विजित करता है।[683] दाहक्रिया करने से पहले अनेकं धार्मिक कृत्य किये जाते थे। शव ले जाने के लिए बास की अर्थी अथवा बैलगाडी प्रयोग मे लायी जाती थी।[684] ऋग्वेद मे उल्लिखित है कि दाह क्रिया की अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर मत्रो का पाठ किया जाता था कि हे अग्नि! इस शरीर का तू भस्मकर, इसे कष्ट न दे और न ही इसकी त्वचा और अवयवो को इधर-उधर कर तथा शरीर भस्म हो जाने के बाद इसकी आत्मा को चित्लोक में ले जा।[685] इसके पश्चात् कुछ काल तक मृतक के सबधी अशौच मे रहते थे। शुद्धि के बाद शांति और श्राद्ध क्रिया की जाती थी।[686] पिडदान, श्राद्धकार्य और ब्राह्मणभोजन के बाद मृतक का परिवार शुद्ध माना जाता था।[687] हिन्दू परिवारो मे आज भी अन्त्येष्टि संस्कार इसी विधि से सम्पन्न किया जाता है।

विवाह

हिन्दू सस्कृति मे विवाह का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसे एक धार्मिक संस्कार के रूप मे ग्रहण किया गया है, इसे संविदान न मानकर सस्कार माना गया जिसका उद्देश्य उन विभिन्न पुरूषार्थों को पूरा करना है, जिनकी प्राप्ति मे पति और पत्नी दोनो का सहयोग होता है। गृहस्थ जीवन का प्रारम्भ ही विवाह से माना गया है।[688] ऋग्वेद के मतानुसार विवाह का उद्देश्य था गृहस्थ होकर देवो के लिए यज्ञ करना तथा सतानोत्पत्ति करना।[689] ऐतरेय ब्राह्मण[690] के अनुसार स्त्री को 'जाया' कहा गया है, क्योंकि पति ने पत्नी के गर्भ से पुत्र के रूप मे ही जन्म लिया है। शतपथ ब्राह्मण[691] में कहा गया है कि पत्नी पति की अर्द्धांगिनी है, अत: जब तक व्यक्ति विवाह नही करता, जब तक सतानोत्पत्ति नहीं करता, तब तक वह पूर्ण नही है। मनु[692] के अनुसार पत्नी पर पुत्रोत्पत्ति धार्मिक कृत्य, सेवा, सर्वोत्तम आनन्द, अपने तथा अपने पूर्वजों के लिए स्वर्ग की प्राप्ति निर्भर रहती है, अत. स्पष्ट है कि धर्म सम्पत्ति, प्रजा (तथा इस के फलस्वरूप नरक मे गिरने से रक्षा) एव रति (यौनिक तथा अन्य स्वाभाविक आनन्दोत्पत्ति) ये तीन विवाह संबंधी प्रमुख उद्देश्य माने जाते हैं।

इसके विपरीत पाश्चात्य विद्वानो ने विवाह के उददेश्यों में यौन संबध को अन्य उद्देश्यो से ऊपर रखा है। राबर्ट ब्रिफाल्ट[693] हिन्दू

विवाह के लिए यौन सबध को अधिक महत्व दिया है, जोकि हिन्दू विवाह के मानदण्डो के विपरीत है। हिन्दू विवाह मे धार्मिक उद्देश्य ही सर्वप्रमुख है और विषय भोग अतिम स्थान पर आता है।

वेस्टरमार्क[694] के अनुसार विवाह एक या अधिक पुरूषो का एक या अधिक स्त्रियो के साथ जुडने वाला वह सबध है जो ऐसी प्रथा अथवा कानून द्वारा स्वीकार किया जाता है जिसमे दोनो पक्ष और उनसे उत्पन्न होने वाली सन्तान के अधिकार और कर्त्तव्य समाविष्ट होते है किन्तु यह परिभाषा भी हिन्दू विवाह पर ठीक नही बैठती क्योंकि इसमे हिन्दू विवाह की केवल दो विशेषताये बतायी गई है। (1) प्रथाओ का महत्व और (2) पति, पत्नी के अधिकार और कर्त्तव्य। हॉबेल[695] का यह मत है कि विवाह सामाजिक आदर्श नियमो की एक समग्रता है जो विवाहित व्यक्तियो के पारस्पारिक सबधो को उनके रक्त सबधियो और अन्य नातेदारों के प्रति परिभाषित करती है और उनपर नियन्त्रण रखती है। इस कथन में आदर्श नियम को अधिक महत्ता दी गई है तथा विवाह को नैतिक आधार प्रदान किया गया है। अत हिन्दू विवाह में सामाजिकता, धार्मिकता, यौन संबंध, आर्थिक संबध, सतान के प्रति दायित्व, प्रथा परम्परा के नियमो का पालन तथा नैतिकता समाविष्ट है।

विवाह संबंधी बहुत से शब्द विवाह सस्कार के तत्वों की ओर सकेत करते है, यथा उद्वाह (कन्या को उसके पितृग्रह से उच्चता के साथ ले जाना) विवाह (विशिष्ट ढग से कन्या को ले जाना या अपनी स्त्री बनाने को ले जाना), परिणय या परिणयन (अग्नि की प्रदक्षिणा करना), उपयम (सन्निकट ले जाना और अपना बना लेना), पाणिग्रहण (कन्या का हाथ पकडना)।

मनुस्मृति[696] के अनुसार विवाह के माध्यम से मनुष्य अपने समस्त अपेक्षित कर्त्तव्यो और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। धर्म का पालन, पुत्र की प्राप्ति एंव रति का सुख विवाह के प्रधान उद्देश्य माने गये है। "हिन्दू समाज में धर्म को अत्याधिक महत्व दिया गया है। वैदिक युग से यज्ञ की महत्ता और उसमें प्रत्येक व्यक्ति का सहयोग अपेक्षित था। बिना पत्नी के व्यक्ति का कोई भी धार्मिक कृत्य पूरा नहीं माना जाता। ऋग्वेद के अनुसार देवताओं के पूजन मे पति-पत्नी एक दूसरे के सहायक माने गये है। तैतिरीय[698] ब्राह्मण में उल्लिखित है कि पत्नी रहित व्यक्ति

यज्ञ सम्पन्न करने का अधिकारी नही है। शतपथ ब्राह्मण[699] मे कहा गया है कि पत्नी पति के आधे भाग की पूरक है। ऐसी स्थिति मे उन दोनो का संयोग ही पूर्णता है। याज्ञवल्क्य[700] ने पति के जीवन मे पत्नी की अनिवार्यता देखते हुए कहा गया है कि पत्नी के मरने के बाद धार्मिक कार्यो के निमिन्त दूसरा विवाह करना चाहिए।

विवाह का दूसरा उद्देश्य है पुत्र की प्राप्ति। ऋग्वेद[701] मे एक स्थल पर कहा गया है कि पाणिग्रहण उत्तम संतान के लिए है। विवाह सम्पन्न होने पर पुरोहित वर वधू को अनेक पुत्र पैदा करने का आर्शीवाद देता है।[702] ऐसी मान्यता है कि पुत्र उत्पन्न होने से पिता अमर बनता है। पितृ से ऋणमुक्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण[703] के अनुसार पिता के लिए पुत्र आलोक है तथा ससार सागर से पार करने की अतितारिणी (नौका) है। मनु[704] के अनुसार पिता पुत्र से स्वर्ग आदि उत्तम लोको को प्राप्त करता है। पौत्र से उन लोको मे अनन्त काल तक निवास करता है और प्रपौत्र से सूर्यलोक को प्राप्त करता है। पुत्र की सार्थकता इसी मे है कि वह पिता को 'पुत' नामक नरक मे जाने से रोकता है।

विवाह का एक प्रयोजन रति सुख अथवा यौन इच्छाओं की सतुष्टि भी थी, जिससे व्यक्ति का मानसिक और शारीरिक संतुलन बना रहता है तथा वह स्वस्थ और सच्चरित्र आधार पर समाज का निर्माण करता है। यद्यपि 'काम' अथवा यौन सबध विवाह का एक उद्देशय अवश्य है परन्तु इसे तीसरा स्थान प्रदान किया गया है। मनु[706] जैसे व्यवस्थाकारों ने भी रति को महत्ता स्वीकार की है तथा विवाह के उद्देश्यो में इसे प्रधान माना है। वात्स्यायन[706] ने रति के महत्व पर विस्तार से विचार किया है। अपने विचार विश्लेषण से उन्होने कामपरम सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावो का निवेशन किया है। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था और दर्शन में काम भावना का स्थान धर्म से कभी भी महत्वशाली नही रहा। कौटिल्य[707] का मत है कि धर्म और अर्थ से विरोध न रखने वाले काम का सेवन करना चाहिए। मनु[708] ने भी धर्म विरूद्व काम का परित्याग करने की सलाह दी है।

विवाह के ये विवेचित उद्देश्य व्यक्ति को अत्यन्त शालीन और सदाचारी बनाते है तथा उसे नियमित और नियंत्रित करते हैं। अच्छे वर के क्या लक्षण है? मनु[709] यम[710] आदि स्मृतिकारों के अनुसार

उत्कृष्ट (श्रेष्ठ), अभिरूप (सुन्दर) और योग्य वर मिल जाये तो कन्या की अवस्था विवाह योग्य न होने पर भी उसका विवाह कर देना चाहिए। धर्मसूत्रो[711] मे वर के लिए उसका अखण्ड ब्रह्मचारी होना भी एक गुण स्वीकार किया गया है, जो सभवत. उसके प्रधान गुण के रूप मे था। उसके चरित्रगत वैशिष्टय का प्रमाण उसका ब्रह्मचार्य माना गया है। मनु[712] ने दस प्रकार के कुलो से सबध जोडने को मना किया है यथा, जहॉ सस्कार न किये जाते है, जहॉ पुत्रोत्पत्ति न होती हो, जहॉ वेदाध्ययन न होता हो, जिसके सदस्यो के शरीर पर केश अधिक मात्रा मे हो, जिसमे लोग बवासीर या क्षयरोग या अर्जीण या मिर्गी या गलित या शुष्क कुष्ठ से पीडित हो। नारद[763] ने चौदह प्रकार के आयोग्य वरो का उल्लेख किया है- प्रव्रजित (सन्यस्त), लोक विद्विष्ठ, मित्रो तथा सबधियो से परित्यक्त विजातीय, क्षयरोगी, लिगस्थ (गुप्तवेशधारी), उदर प्रदत्त (पागल), पतित, कुष्ठी, सगोत्र, अध-बधिर, अपस्मार रोगी आदि। इस सबंध में मनु[714] ने उदारपूर्वक विचार व्यक्त किया है कि नपुसक और पतित विवाह कर सकते हैं तथा सतान के लिए नियोग भी अपना सकते है।

आश्वलायन गृहसूत्र[715] ने ऐसी कन्या के साथ विवाह करने को कहा है जो बुद्धिमति हो, सुन्दर हो, सच्चरित्र हो, शुभ लक्षणो वाली हो ओर स्वस्थ हो। शंखायन गृहसूत्र[716], मनु[717] एव याज्ञवल्क्य[718] ने कहा है कि कन्या को शुभ लक्षणों वाली होनी चाहिए और उनके अनुसार शुभ लक्षण दो प्रकार के है यथा बाह्य (शरीरिक लक्षण) एव अभ्यान्तर। मनु[719] एव विष्णुधर्मसूत्र[720] के अनुसार पिगल बालों वाली, अतिरिक्त अंगो वाली, हंस या गज की भांति चलने वाली से जिसके शरीर (सिर या अन्य अगों पर) बाल छोटे है, जिसके दात छोटे हो, जिसका शरीर कोमल हो उससे विवाह करना चाहिए। विष्णु पुराण[721] का कहना हे कि कन्या के अधर या चिबुक पर बाल नही होने चाहिए, हंसने पर उसके गालो में गड्ढे नही पडने चाहिए, उसका कद न तो बहुत छोटा हो और न बहुत लम्बा होना चाहिए।

भारद्वाज गृहसूत्र[722] के अनुसार कन्या से विवाह करते समय चार बाते देखनी चाहिए यथा धन, सौन्दर्य, बुद्धि तथा कुल, यदि चारो गुण न मिले तो धन की चिता नहीं करनी चाहिए और उसके उपरान्त सौन्दर्य की भी, किन्तु बुद्धि एंव कुल में किसको महत्व दी जाये इसमें

मतभेद है। मानवगृहसूत्र[723], मनु[724] एव याज्ञवल्क्य[725] ने लिखा है कि कन्या भ्रातहीन नही होनी चाहिए।

पुरूष एव स्त्री के विवाह की अवस्था के विषय मे धर्मशास्त्रकारो ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये है पुरूष के लिए कोई निश्चित अवधि नही रखी गई थी। मनु[726] के अनुसार 30 वर्ष का पुरूष 12 वर्ष की लडकी से या 24 वर्ष का पुरूष 8 वर्ष की लडकी से विवाह कर सकता है। इसी के आधार पर विष्णुपुराण[727] ने कन्या एव वर की विवाह अवस्थाओ का अनुपात 1.3 रखा है। अंगिरा[728] के मत से कन्यावर से 2, 3, 5 या अधिक वर्ष छोटी हो सकती है। महाभारत के अनुशासनपर्व[729] से ज्ञात होता है कि वर एव कन्या की विवाह अवस्थाए क्रम से 30 तथा 10 या 21 तथा 7 है। किन्तु उद्वाहतत्व[730] एंव श्रौत पदार्थ निर्वचन[731] मे महाभारत को उद्धधृत कर लिखा है कि 30 वर्ष का पुरूष 16 वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है।

ऋग्वेद में आया है कि जब कन्या सुन्दर है और आभूषित है तो वह स्वय पुरूषों के झुण्ड मे से अपना मित्र ढूढ लेती है। इससे स्पष्ट होता है कि लडकिया इतनी प्रौढ होने पर विवाहित होती थी कि अपने पति का चुनाव स्वय कर सके। इस प्रकार स्पष्ट है कि ऋग्वेदिक काल में कन्याओ का विवाह उनके युवती हो जाने पर होता था किन्तु ईस्वी शती तक आते-आते कन्या का विवाह अल्पायु में किया जाने लगा। पूर्वमध्यकाल मे भी कमोवेश ऐसी ही स्थिति बनी रही।

प्राचीनकाल से ही अनुलोम विवाह विहित माने जाते थे, किन्तु प्रतिलोम विवाह की भर्त्सना की जाती थी। इन्ही दो प्रकार के विवाहो से विभिन्न अपजातियो की उद्‌भावना हुई है।

वैदिक युग[732] मे चारो वर्ण अपने स्वीकृत रूप में विद्यमान थे, किन्तु उन दिनों अपनी जाति के बाहर विवाह करना अथवा भोजन करना उतना अमान्य नहीं था जितना कि मध्यकाल में पाया जाने लगा। शतपथ ब्राह्मण[733] के अनुसार जीर्ण एव शिथिल ऋषि च्यवन का विवाह सुकन्या से हुआ था। च्यवन भार्गव (भृगु के वंशज) या अंगिरस थे और सुकन्या मनु के वंशज राजा शर्यात की पुत्री थी।

आपस्तम्बधर्मसूत्र[734] ने अपने वर्ण की कन्या से विवाह करने को लिखा है। इस धर्मसूत्र में असवर्ण विवाह की भर्त्सना की गई है।

मानवग्रह सूत्र[735] एव गौतम[736] ने सवर्ण विवाह की चर्चा की है। किन्तु गौतम को असवर्ण विवाह विदित थे क्योकि ऐसे विवाहो से उत्पन्न उपजातियों की चर्चा उन्होने की है। शूद्रापति ब्राह्मण को श्राद्ध मे बुलाने को उन्होने मना किया है। मनु[737] शख एव नारद ने अपने ही वर्ण मे विवाह को सर्वोत्तम माना है। इसे पूर्वकल्प (सर्वोत्तम विधि) कहा गया है। कुछ लोगो ने अनुकल्प (कमसुन्दर विधि) विवाह की भी चर्चा की है, यथा ब्राह्मण किसी भी जाति की कन्या से, क्षत्रिय अपनी वैश्य या शूद्र जाति की कन्या से वैश्य अपनी व शूद्र जाति की कन्या से तथा शूद्र अपनी जाति की कन्या से विवाह कर सकता है। इस विषय मे बौधायन धर्मसूत्र[738], शख, मनु[739], विष्णुधर्म सूत्र[740] की सम्मति है। पारस्कर गृहसूत्र[741] तथा वसिष्ठधर्मसूत्र[742] ने लिखा है कि कुछ आचार्यों के कथनानुसार द्विजो को शूद्र नारियो से विवाह करना चाहिए किन्तु बिना मन्त्रोच्चारण के। याज्ञवल्क्य[743] ने ब्राह्मण या क्षत्रिय को अपने या अपने से नीचे के वर्ण से विवाह सबध करने को कहा है, किन्तु यह बात जोरदार शब्दो मे लिखी गई है कि द्विजातियो को शूद्र कन्या से विवाह कभी न करना चाहिए। मनुस्मृति[744] एंव याज्ञवल्क्य[745] ने घोषित किया है कि यदि ब्राह्मण को चारो वर्ण वाली पत्नियो से पुत्र होता ब्राह्मणी पुत्र को 10 मे से 4 भाग मिलते है, क्षत्राणी पुत्र को 3, वैश्या पुत्र को 2 तथा शूद्र पुत्र को 1 भाग मिलता है। मनु[746] एंव याज्ञवल्क्य[747] ने ब्राह्मण एव शूद्रो के विवाह को मान्यता दी है और उससे उत्पन्न सतान को पारशव कहा है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन स्मृतिकारों ने ब्राह्मण का क्षत्रिय या वैश्य कन्या से विवाह संबध बिना किसी सदेह अथवा अनुत्साह से मान लिया है। किन्तु ब्राह्मण एंव शूद्र कन्या के विवाह सबंध के विषय मे कोई मतैक्य नहीं है। ऐसे विवाह हुआ करते थे, किन्तु इनकी भर्त्सना होती थी।

अभिलेखो मे अन्तर्जातीय विवाहो के उदाहरण मिलते है। वाकाटक राजा लोग ब्राह्मण थे (उनका गोत्र विष्णुवद्ध था)। प्रभावती गुप्त के जूनागढ अभिलेख[748] से पता चलता है कि वह गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री थी। (5वी शती के प्रथम चरण में) और उसका विवाह वाकाटक कुल के राजा रूद्रसैन द्वितीय से सम्पन्न हुआ था। तालगवुण्ड स्तम्भलेख[749] से पता चलता है कि कदम्ब कुल का संस्थापक

मयूर शर्मा जो स्पष्टतया ब्राह्मण था। उसके वशजो के नाम के अत मे वर्मा आता है, जो मनु[750] के अनुसार क्षत्रियो की उपाधि है। मयूर शर्मा के उपरान्त चौथी पीढी के ककुस्थवर्मा ने अपनी कन्याए गुप्तो एव अन्य राजाओ को दी। यशोधर्मा एव विष्णुवर्धन के घटोत्कच अभिलेख[751] से पता चलता है कि वाकाटक राजा देवसेन के मत्री हस्तिभोज के वशज सोम नामक ब्राह्मण ने ब्राह्मण एव क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न कन्याओ से विवाह किया था। लोकनाथ नामक सरदार के तिप्पेरा ताम्रपत्र[752] से पता चलता है कि उसके पूर्वज भारद्वाज गोत्र के थे, उसके नाना केशव पारशव गोत्र के थे (ब्राह्मण पुरूष एव शूद्र नारी से उत्पन्न) और केशव के पिता वीर द्विज सत्तम (श्रेष्ठ ब्राहमण) थे।

संस्कृत साहित्य मे भी असवर्ण विवाह के उदाहरण मिलते है। कालीदास कृत मालविकाग्नि-मित्र नामक नाटक से पता चलता है कि सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने क्षत्रिय राजकुमारी मालविका से विवाह किया। ब्राह्मण वश मे उत्पन्न पुष्यमित्र ने शुग वश के राज्य की स्थापना की थी। हर्षचरित में स्वय बाण ने लिखा है कि उसकी भ्रमण यात्रा में मित्रों एव साथियो मे उसके दो पारशव भाई भी थे जिनके नाम थे चन्द्रसेन एव भातषेण (ये दोनों बाण के पिता की शूद्र पत्नी से उत्पन्न हुए थे।)

किन्तु पूर्वमध्यकाल तक आते-आते द्विजातियों के बीच होने वाले असवर्ण विवाह लगभग बन्द हो गये थे। याज्ञवल्क्य के टीकाकार विश्वरूप[753] (9वी शती) ने सकेत किया है कि उनके समय मे ब्राह्मण क्षत्रिय कन्या से विवाह कर सकता था। मनु के टीकाकार मेघातिथि[754] ने भी निर्देश किया है कि उनके समय में ब्राह्मण का विवाह क्षत्रिय तथा वैश्य कन्याओ से हो सकता था, किन्तु शूद्र कन्या से नहीं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल तक अन्तर्जातीय विवाह लगभग वर्जित हो गये थे। जहॉ एक ओर मनुस्मृति में ब्राह्मण का क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कन्या से विवाह को सराहा तो नही गया है लेकिन वैधानिक दर्जा दिया गया है क्योंकि मनु ने ब्राह्मणों की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र स्त्री से उत्पन्न संतान को सम्पत्ति में क्रमशः 4:3 2.1 भाग प्रदान किया है। शूद्र स्त्री से उत्पन्न संतान का सम्पत्ति में हिस्सा उसका वैधानिक दर्जा स्पष्ट करता है, वहीं दूसरी ओर मेधातिथि ने स्पष्टतया

असवर्ण विवाह के लिए मना कर दिया है वे विचार प्रकट करते है कि क्षत्रिय या वैश्य स्त्री से ब्राह्मण का विवाह फिर भी सभव था लेकिन शूद्र से किसी भी परिस्थिति मे सभव नही था। यह पूर्वमध्यकाल मे शूद्रो की गिरती हुई सामाजिक स्थिति की ओर भी सकेत करता है।

सपिण्डता का तीन बातो मे विशिष्ट महत्व है यथा-विवाह, वसीयत एव अशौच। याज्ञवल्क्य[755] की व्याख्या मे विज्ञानेश्वर 'असपिण्डा' उस नारी को कहते है जो सपिण्ड नही है। सपिण्ड अर्थात् उस व्यक्ति की वही पिण्ड (शरीर या शरीर का अवयव) है। दो व्यक्तियो के सपिण्ड सबध का तात्पर्य यह है कि दोनो मे समान शरीर के अवयव हैं। इस प्रकार पुत्र का पिता से सपिण्ड सबध है, क्योकि पिता के शरीर के कण (शरीराश) पुत्र मे आते है इसी प्रकार पितामह और पौत्र में सपिण्ड सबध हुआ। इसी प्रकार मौसी एव मामा से भी सपिण्डता का संबध होता है। चाचा एव फूफी से भी सपिण्ड सबध है। पत्नी का पति से सपिण्डय सबध है क्योंकि वह पति के साथ एक पिण्ड (पुत्र) का निर्माण करती है। याज्ञवल्क्य ने सपिण्डता की एक सीमा निर्धारित कर दी है पाचवी पीढी ने माता के कुल मे तथा सातवी पीढी में पिता के कुल मे सपिण्डता की अंतिम सीमा मानी जानी चाहिए।

मामा या फूफी को लडकी से विवाह के सबध मे मतभेद है, विशेषत: प्रथम से 1 आपस्तम्बधर्मसूत्र[756] ने अपने माता-पिता एव संतानों दर संबंधियो (माताओ एंव बहिनों से सभोग करने का पातकीय क्रियाओं (महापातको) मे गिना है। इस नियम के अनुसार अपने मामा एंव फूफी की लडकी से विवाह करना पाप है। बौधायन धर्मसूत्र[757] के अनुसार दक्षिण मे पाच प्रकार की विलक्षण रीतियॉ पायी जाती हैं-बिना उपनयन किये हुए लोगो के साथ बैठकर खाना, अपनी पत्नी के साथ बैठकर खाना, अच्छिष्ठ भोजन करना, मामा तथा फूफी की लडकी से विवाह करना। इससे स्पष्ट है कि बोधायन के बहुत पहले से दक्षिण में मामा तथा फुफी की लडकी से विवाह होता था। जिसे कट्टर धर्मसूत्रकार, यथा गौतम[757] एंव बोधायन निन्द्य मानते थे। मनु[758] ने मातुलकन्या मौसी की कन्या या पिता की बहिन की कन्या से सभोग सबंध पर चान्द्रायण व्रत के प्रायश्चित की बात कही है, क्योंकि ये कन्याएं सपिण्ड कही जाती हैं, इनसे विवाह करने पर नरक की प्राप्ति होती है। याज्ञवल्क्य[759] की व्याख्या में

विश्वरूप ने मनु[760] तथा सवर्त को उद्धृत कर मातुलकन्या से सभोग कर लेने पर पराक प्रायश्चित की व्यवस्था दी है। मनु की व्याख्या मे मेधातिथि[761] ने कुछ प्रदेशौं मे इस प्रथा की चर्चा की है पराशरमाधवीय[762] आदि ने मातुलकन्या से विवाह सबध वैध माना है।

दक्षिण मे (मद्रास प्रात में) कुछ जातिया भातुल कन्या से विवाह करना बहुत अच्छा समझती है। आन्ध्रप्रदेश मे आज भी उच्च ब्राह्मणों मे मामा भाजी का विवाह सर्वोत्तम माना जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जहॉ मनुस्मृति एव याज्ञवल्क्य स्मृति मे मातुलकन्या व फूफी की कन्या से विवाह की भर्त्सना की गई है वही पूर्वमध्यकाल में मेधातिथि ने भी इसे आमान्य ठहराया है लेकिन फिर भी इस प्रथा के कुछ प्रदेशो मे प्रचलित होने का उन्हे ज्ञान था। दक्षिण में माध्यन्दिनी शाखा के देशरथ ब्राहमण लोग उस कन्या से विवाह नही करते जिसके पिता का गोत्र लडके (होने वाले पति) के नाना के गोत्र के समान हो। मनु[763] ने लिखा है कि वह कन्या जो वर की माता से सपिण्ड सबध न रखने वाली है और न वर के पिता की सगोत्र है विवाहित की जा सकती है (किन्तु यह विवाह द्विजों में ही मान्य है।) मनु के इस श्लोक पर टीका करते हुए मेधातिथि[764] ने तो नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह करने पर चन्द्रायण व्रत का प्रायश्चित बताया है और कन्या को छोड देने को कहा है। कुल्लूक, मदनपारिजात, पीवकलिका, उद्वाहतत्व में भी नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह को मना किया है। एक अन्य स्थल पर मेधातिथि ने लिखा है कि गोत्रों एव प्रवरों की बाते मुख्यत· ब्राह्मणो से संबंधित है, क्षत्रिय एव वैश्यो से नही।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गोत्र एंव प्रवर, सपिण्डता का ध्यान देना, विवाह के समय जितना महत्वपूर्ण प्राचीनकाल में माना जाता था उतना ही महत्व .इसे पूर्वमध्यकाल में भी दिया जाता था। मनु ने नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह करने को मना किया है। पूर्वमध्यकाकल तक आते-आते कुल्लूकभट्ट एव मेधातिथि ने भी नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह करने को मना ही नही किया बल्कि मेधातिथि ने इसके लिए प्रायश्चित करने का विधान किया है और कन्या को छोड देने को भी कहा है। इस प्रकार ये मान्यताएं और गहरी होती हुई दृष्टिगत हो रही थी। मेधातिथि[765] ने मनु पर टीका करते हुए एक स्थल पर कहा है

कि गोत्रो एव प्रवरो की बाते मुख्यत ब्राह्मणो से सबधित है, क्षत्रिय एव वैश्यो से नही। यही तथ्य मिताक्षरा मे भी दोहराया गया है। उनके अनुसार क्षत्रियो एव वैश्यो के विवाह मे उसके लिए गोत्र एव प्रवर है ही नही। एक अन्यत्र स्थल पर मेधातिथि कहते है कि गोत्र ब्राह्मण जाति एंव वेद की भांति अनादि है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में गोत्रों पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा था और यह माना जाने लगा था कि गोत्र इत्यादि केवल ब्राह्मणो के ही ध्यान रखे जाते है।

गृहसूत्रो, धर्मसूत्रो एंव स्मृतियो के काल से ही विवाह आठ प्रकार के कहे गये है, यथा ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एव पैशाच। इस सबध मे आश्वलायन गृहसूत्र[766], गौतम[767], बौधायन धर्मसूत्र[768], मनु[769] आदिपर्व[770], विष्णुधर्म[771], याज्ञवल्क्य[772], नारद-स्त्रीपुंस[773], कौटिल्य[774], आदिपर्व[775] अवलोकनीय है।

मनुस्मृति[776] के आधार पर विभिन्न विवाहो के लक्षणो का वर्णन इस प्रकार है। जिस विवाह मे बहुमूल्य अंलकारो एव परिधानो से सुसज्जित, रत्नो से मंडित कन्या वेद-पंडित एव सुच्चरित्र व्यक्ति को निमंत्रित कर (पिता द्वारा) दी जाती है, उसे ब्राह्म विवाह कहते है। जब पिता अलकृत एव सुसज्जित कन्या किसी पुरोहित को (जो यज्ञ करता-कराता है) यज्ञ करते समय दे, तो उस विवाह को दैव विवाह कहा जाता है। यदि एक जोडा पशु (एक गाय, एक बैल) या दो जोडा पशु लेकर (केवल नियम के पालन हेतु न कि कन्या के विक्रय के रूप में) कन्या दी जाए तो इसे आर्ष विवाह कहते है। जब पिता वर और कन्या को 'तुम दोनों साथ ही साथ धार्मिक कृत्य करना' यह कहकर तथा वर को मधुपर्क आदि से सम्मानित कर कन्यादान करता है तो उसे प्रजापत्य कहा जाता है। जब वर अपनी शक्ति के अनुरूप कन्यापक्ष वालो तथा कन्या को धन देता है, तब इस प्रकार अपनी इच्छा के अनुकूल पिता द्वारा दत्त कन्या के विवाह को असुर विवाह कहते हैं। वर एंव कन्या की परस्पर सम्मति से जो प्रेम भावना के उद्रेक का प्रतिफल हो तथा संभोग जिसका उद्देश्य हो, उस विवाह को गाधर्व विवाह कहा जाता है। सबंधियो को मारकर, घायलकर, घर-द्वार तोड़-फोडकर जब रोती बिलखती हुई कन्या को बलवश छीन लिया जाता है तो इस प्रकार से प्राप्त कन्या से संबंध राक्षस विवाह कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति चुपके से किसी सोई

हुई, उन्मत्त या अचेत कन्या से सभोग करता है इसे निकृष्ट एव महापातकी कार्य कहा जाता है और इसे पैशाच विवाह कहते है। दैव विवाह के सबध मे विभिन्न धर्मशास्त्रकारो ने भिन्न मत दिये है बौधायन धर्मसूत्र[777] के अनुसार कन्या यज्ञ की दक्षिणा का एक भाग हो जाती है। किन्तु वेदों एव श्रौत सूत्रों में कन्या को कभी दक्षिणा नही कहा गया है। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[778] भी कन्या को यज्ञ कराने के शुल्क का भाग मानने को तैयार नही है। यही विश्वरूप का भी कहना है, किन्तु अपरार्क[779] के मत से कन्या शुल्क के रूप मे दी जाती है।

इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल मे भी विवाह के सभी प्रकार अपने सम्पूर्ण स्वरूप मे समाज मे विद्यमान थे और दैव विवाह के सबध में समाज के दो पक्ष हो गये थे। एक पक्ष दैव विवाह मे कन्या को यज्ञ कराने की दक्षिणा मानता था, दूसरा पक्ष दैव विवाह मे कन्या को दक्षिणा मानने से सहमत नही था। मेधातिथि दूसरे मत का समर्थन करते है।

प्रथम चार प्रकारो में पिता द्वारा या किसी अन्य अभिभावक द्वारा वर को कन्यादान किया जाता है। प्रथम चार प्रकार के विवाहों मे अलंकारो एव परिधानो से सुसज्जित कन्या का दान किया जाता है। प्रथम प्रकार के विवाह को संभवत ब्राह्म इसलिए कहा जाता था कि ब्राह्म का अर्थ है पवित्र वेद या धर्म, जिसे परमपूत कहा जाता है।[780] आर्ष प्रकार मे वर से एक जोडा पशु लिया जाता है, अत: यह ब्राह्म से निम्न है। दैव विवाह केवल ब्राह्मणो मे ही पाया जाता था, क्योंकि पौरोहित्य का कार्य ब्राह्मण ही करता था। यह विवाह ब्राह्म विवाह से निम्न इसलिए है कि पिता कन्यादान कर अपने मन में इस लाभ की भावना रखता है कि उसका यज्ञ भली-भाति सम्पादित हो, क्योंकि कन्या पाकर प्रसन्न हो पुराहित बडे मन से यज्ञ मे लगा रहेगा। प्रजापत्य विवाह में पत्नी के जीते जी पति को गृहस्थ रहने, सयासीन बनने, दूसरा विवाह न करने आदि का वचन देना पडता है। प्रजापत्य विवाह इसी कारण ब्राह्म से निम्न माना गया है, क्योंकि इसमें शर्त लगी रहती है किन्तु ब्राह्म मे स्वंय वर प्रतिवचन देता है कि धर्म, अर्थ, एंव काम नामक तीन पुरूषार्थों में वह सदैव अपनी पत्नी के साथ रहेगा। आसुर विवाह में धन तथा धन के मूल्य का सौदा रहता है, अत यह स्वीकृत नहीं माना जाता। गांधर्व में

पिता द्वारा दान की कोई बात नही होती है, प्रत्युत कन्या पिता को उसके अधिकार से वचित कर देती है। प्राचीनकाल से ही विवाह को एक सस्कार माना गया है जिसके उद्‌देश्यो मे धार्मिक कृत्य का प्रथम स्थान है गान्धर्व विवाह मे केवल काम-पिपासा की शाति की बात प्रमुख है, अत यह प्रथम चार प्रकारो से तुलना मे निकृष्ट है और अस्वीकृत माना गया है। किन्तु इस प्रकार के विवाह मे कन्या की सम्मति ली जाती है। राक्षस एव पैशाच मे कन्या की बात ही नही उठती क्योकि बलवश कन्या को उठा ले जाना राक्षस विवाह के मूल मे पाया जाता है। पिशाच लोग लुक-छुप कर दुष्कर्म करते है अत उस कार्य के सदृश कार्य को पैशाच विवाह की सज्ञा दी गयी है। ऋषियो ने पैशाच विवाह की बहुत भर्त्सना की है। वसिष्ठ के मत से अपहृत कन्या यदि मंत्रों से अभिषिक्त होकर विवाहित न हो सकी हो, तो उसका पुनर्विवाह किया जा सकता है। स्मृतियों में कन्या के भविष्य एव कल्याण के लिए अपहरणकर्ता एव बलात्कार करने वाले को होम एव सप्तपदी करने को कहा गया है, जिसमे कन्या को विवाहित होने की वैधता प्राप्त हो जाए। यदि अपह्‌रणकर्ता (असुर विवाह) एव बालत्कारकर्ता (पैशाच विवाह) ऐसा करने को तैयार न हो तो कन्या किसी दूसरे को दी जा सकती थी और अपहरणकर्ता एव बलात्कारकर्ता को भीषण दण्ड भुगतना पडता था।[781] मनुस्मृति[782] के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपनी जाति की किसी कन्या से उसकी सम्मति से संभोग करे तो उसे पिता को (यदि पिता चाहे तो) शुल्क देना पडता था और मेधातिथि[783] का कथन है कि यदि पिता धन नही चाहता तो प्रेमी को चाहिए कि वह राजा को धन-दण्ड दे, कन्या उसे दे दी जा सकती है किन्तु यदि उसका (कन्या का) प्यार न रह गया हो तो वह दूसरे से विवाहित हो सकती है किन्तु यदि प्रेमी स्वय उसे ग्रहण करना स्वीकार न करे तो उसके साथ बल प्रयोग करके उससे स्वीकृत कराया जाये इससे स्पष्ट होता है कि विवाह के सभी प्रकार मेधातिथि के समय मे भी यथावत थे और विवाहो के मामले राजाओं तक ले जाये जाते थे तभी मेधातिथि ने अपनी जाति की कन्या की सम्मति से संभोग करने वाले व्यक्ति के पिता को धन देने को कहा है और यदि पिता धन की इच्छा न करता हो तो प्रेमी को राजा को धनदण्ड देने का विधान किया है। इसमे कन्या की सम्मति को महत्व दिया गया है क्योंकि

मेधातिथि आगे कहते है कि यदि कन्या का प्यार न रह गया हो तो उसका विवाह दूसरे से करवाया जा सकता है किन्तु यदि प्रेमी स्वय उसे ग्रहण करना स्वीकार न करे तो उसके साथ बल प्रयोग करके उसे स्वीकृत कराया जाये। यह स्त्रियो की ह्रास होती स्थिति का एक अच्छा सकेत था। विश्वकप[784] एव मेधातिथि[785] केवल ब्राह्म विवाह को ही उच्च दृष्टि से देखते है।

स्मृतियो ने विविध वर्णों के लिए इन आठ प्रकारो की अपयुक्तता के विषय मे भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये है। सभी ने प्रथम चार अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष एव प्राजापत्य को स्वीकृत किया है।[786] सभी ने ब्राह्म को सर्वश्रेष्ठ एव क्रम से बाद वाले को उत्तमतर बताया है।[787] सभी ने पैशाच को निकृष्टतम कहा है। एक मत से प्रथम चार ब्राह्मणो के लिए उपयुक्त बताया है।[788] दूसरे मत से प्रथम छ. (आठ मे राक्षस एव पैशाच को छोडकर) ब्राह्मणो के लिए, अंतिम चार क्षत्रियो के लिए, आसुर, पैशाच वैश्यो एंव शूद्रों के लिए है।[789] तीसरे मत से प्रजापत्य, गांधर्व एंव आसुर सभी वर्णों के लिए तथा पैशाच एव आसुर किसी वर्ण के लिए नही है, किन्तु मनु[790] ने आगे चलकर आसुर को वैश्यो एव शूद्रो के लिए मान्य ठहराया है। मनु[791] ने एक मत प्रकाशित किया है कि गाधर्व एंव राक्षस क्षत्रियो के लिए उपयुक्त (धर्म) है, दोनो का मिश्रण (यथा-जहॉ कन्या वर से प्रेम करे, किन्तु उसे माता-पिता या अभिभावक न चाहे तथा अवरोध उपस्थित करे और (प्रेमी लडाई लडकर उठा ले जाए) भी क्षत्रियो के लिए ठीक है। नारद[792] के कथन के अनुसार गांधर्व सभी वर्णों मे पाया जाता है।

(1) हट्टन, कास्ट इन इण्डिया पृ0 120

(2) नेसफील्ड, ब्रीफ व्यू ऑफ द कास्ट सिस्टम पृ0 7

(3) राइसले, द पीपुल ऑफ इण्डिया पृ0 5,10,29

(4) होकार्ट, कास्ट, कम्परेटिव स्टडी पृ0 11-29

(5) इबस्टन, पंजाब कास्ट्स पृ0 97

(6) घुर्ये, कास्ट, क्लास एण्ड आकुपेशन पृ0 159-60

(7) केतकर, हिस्ट्री आफ कास्ट इन इण्डिया पृ0 30-31

(8) मजुमदार, रेसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया पृ0 285-86

(9) रामशरण शर्मा, शूद्राज इन एशिएट पृ0 125, 127, 130'75

(10) क्रोबर

(11) N.C.E.R.T.

(12) ऋग्वेद का 10 90

(13) तत्रैव

(14) सेनार्ट, कास्ट इन इण्डिया पृ0 153

(15) गौतम धर्मसूत्र 12, 43

(16) विशिष्ठ धर्मसूत्र 10, 31

(17) निरूक्त 12 13

(18) पाणिनी का अष्टाध्यायी 4 10

(19) काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग द्वितीय पृ0 55

(20) मनुस्मृति 1 2

(21) वैदिक इन्डैक्स भाग द्वितीय पृ0 260

(22) कल्हण, राजतरंगिणी, अनुवाद आर0एस0 पण्डित 1 512-17

(23) राजतरंगिणी, तत्रैव 528-29

(24) वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावी द्वितीय शती

(25) यशोधर्मय, मंदसौर प्रतर अभिलेख फ्लीट सी0आई0 आई0 भाग-3, स0 35, प्लेट सं0 22 1 17

(26) हर्षवर्धन, इपिग्राफिका इण्डिका भाग 21 पृ0 75

(27) हर्षचरित, अनुच्छेद तृतीय

(27)(A) इपि0 इण्डि भाग 21 पृ0 74

(28) सी0पी0एस0आई0 स0 5 पृ0 50

(29) इपि0 इण्डि भाग 23 1935-36 पृ0 150

(30) आर, बसाक, हिस्ट्री ऑफ नार्थ, ईर्स्टन इण्डिया (1939) पृष्ठ 514

(31) दशकुमार चरित काणे रा सस्करण पृ0 188

(32) धनपाल, तिलकमजरी पृ0 11

(33) राजतरगिणी 6 108

(34)(A) नैषधचरित 14 पृ0 45

(34) अलबरूनी, सचाउ भाग I पृ0 99

(35) कुमारिल का तन्त्रवार्तिक पृ0 128

(36) धर्मपरीक्षा, जिनसेन की महापुराण की प्रस्तावना भाग-1 पृ0 58

(37) गुर्जर प्रतिहार का अभिलेख, इपि0 इण्डि भाग 23 1935-36 पृ0 150

(38) शकराचार्य, शकरभाष्य एन0 एस0 पी0 पृ0 27 3

(39) धनपाल, तिलकमजारी पृ0 348-49

(40) क्षेमेन्द्र, दशावतार चरित पृ0 160

(41) वत्सराज, रूपक मे त्रिपुरराह पृ0 115

(42) मेधातिथि, मनुपर 5 88

(43) मनुस्मृति 10 25

(44) मनुस्मृति 10 64-65

(45) गौतम 4 18-19

(46) याज्ञवल्क्य 1/96

(47) मनुस्मृति

(48) मेधातिथि मनु 10/64

(49) याज्ञवल्क्य 1/96

(50) मेधातिथि 10.65

(51) अभिलेख, आर0एस0 त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ कन्नौज पृ0 356

(52) लक्ष्मीधर धनखण्ड, कृत्यकल्पतरू पृ0 30

(53) देवल, स्मृतिचन्द्रिका पृ0 830

(54) मिताक्षरा, सेक्रेड बुक ऑफ द हिन्दू पृ0 210

(55) अत्रिस्मृति आन्नदाश्रम सस्कृत सीरीज 373-384 काणे धर्मशास्त्र का इतिहास भाग II पृ0 131

(56) राष्ट्रकूट अभिलेख, इपि0 इण्डि भाग 32 स0 4 2 29

(57) सहयाद्रिखण्ड 10 पृ0 2-3

(58) सी0वी0 वैद्य, मैडीवल हिन्दू इण्डिया, अनुच्छेद- 4

(59) सी0वी0 वैद्य, मैडीवल हिन्दू इण्डिया, भाग II पृ0 3

(60) राजतरगिणी, अनुवाद आर0 एस0 त्रिपाठी VII 1617

(61) टौड, एनलस एण्ड एण्टिक्वीटीज आफ राजस्थान

(62) टौड सस्करण क्रुक भाग I, अनु0 2,3,6

(63) स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (तीसरा संस्करण) पृ0 407

(64) भण्डारकर, फॉरेन एलिमेन्टस इन हिन्दू पापुलेशन इण्डि0 एण्टि0 भाग XV (1911)

(65) सी0वी0 वैद्य, मैडीवल हिन्दू इण्डिया, भाग II अनु0 I पृ0 5

(66) जी0एच0 ओझा, राजपूताना का इतिहास भाग I पृ0 49

(67) जैन पुस्तक प्रशास्ति सग्रह पृ0 19

(68) इपि0 इण्डि0 XXXVI 1955 जनवरी में प्रकाशित पृ0 36

(69) तत्रैव

(70) ब्यूहलर लाइफ आफ हेमचन्द्र पृ0 6

(71) ए0के0 फोर्बसं रासमाला पृष्ठ 80

(72) कुमार पाल चरित, पृ0 45

(73) कुमार पाल चरित, II पृ0 50

(74) अभिधान चितामणि II मार्तेय खण्ड

(75) देसीनाममाला हेमचन्द्रकृत

(76) वैजयन्ती, यादव प्रकाश पृ0 136-47

(77) अमरकोश मे वर्णित है

(78) कारू कारिण, प्राकृतिक एव शिल्पिन अभिधान चितामणि मे वर्णित

(79) देसीनाममाला II पृ0 27

(80) कृत्यकल्पतरू का गृहस्थखण्ड मे कालकापुराण एव पराशरसे उद्धत पृ0 270

(81) वैजन्ती पृ0 136

(82) वाट्र्स, हवेनसाग पृ0 168

(83) शुक्रनीतिसार अनुवाद बी0 के0 सत्कार पृ0 150

(84) मेधातिथि मनु पर X 131

(85) मनुस्मृति XI 27

(86) मनुस्मृति XI 26

(87) कुल्लूकभट्ट मनु पर X 126

(88) मनुस्मृति X/4

(89) शकराचार्य (विदान्तसूत्र 2/3/43)

(90) मेधातिथि मनु पर X /48

(91) मनुस्मृति 10/48

(92) कुल्लूकभट्ट 10/48

(93) मेधातिथि मनुपर 10/4

(94) महाभारत सभापर्व /16-17, 51/23 नव पर्व 254/18

(95) मनुस्मृति X/48

(96) कुल्लूकभट्ट मनु पर X/48

(97) मनुस्मृति X 119

(98) बौधायन 119/13

(99) कौटिल्य 3/7

(100) मनुस्मृति 10/149

(101) कुल्लूकभट्ट मनु पर 4/215

(102) मनुस्मृति 1/31

(103) मनुस्मृति 10 4

(104) लक्ष्मीधर का धनखण्ड पृ0 26-30

(105) लक्ष्मीधर का गृहस्थखण्ड पृ0 415

(106) कल्हण कृत राजतरगिणी 7, पृ0 108-109

(107) डायनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दन इण्डिया, एच0सी0राय पृ0 516-18

(108) तत्रैव । पृ0 512

(109) बिबलियोथिका इण्डिका ||| 63-67

(110) अलबरूनी, सचाऊ भाग || पृ0 132

(111) पेहोआ अभिलेख, सचाऊ भाग || पृ0 132

(112) सियादोनी अभिलेख, इपि0 इण्डि0 भाग । पृ0 173

(113) वल्लासेन, पृ0 5

(114) कथाकोषप्रकरण, कत्यकल्पतरू प्रस्तावना पृ0 120

(115) क्षेमेन्द्र, दशावतारचरित पृ0 160

(116) ब्रह्मचारी खण्ड, कृत्यकल्पतरू पृ0 2 V 8 पृष्ठ 279 प्रस्तावना पृ0 41-42

(117) इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वाटर्ली (1988) भाग XVI पृ0 670

(118) द स्ट्रगल फार एम्पायर पृ0 334

(119) काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग || सस्करण । अनु0 |||

(120) 1230 ई0 का गुजरात से प्राप्त एक अभिलेख जिसमे सोमसिम्ह नाम के राजा ने ब्राह्मणो को कर मुक्त कर दिया, जबकि अल्तेकर के अनुसार यह सदेहास्पद है क्योंकि यह राजा की प्रशंसात्मक प्रशास्ति में उद्धत है लेकिन श्रोत्रिय ब्राह्मण करमुक्त थे (हिस्ट्री आफ राष्ट्रकुटाज पृ0 328)

(121) अलबरूनी सचारू पृ0 149

(122) मानसोल्लास भाग । पृ0 44

(123) अलबरूनी सचारू भाग || पृ0 162

(124) काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास पृ0 152

(125) अलबरूनी, सचारू भाग II पृ0 162 राजतरंगिणी IV 96

(126) राजतरगिणी कल्हण IV पृ0 103-104

(127) इपि0 इण्डि0 XXXI स0 36

(128) घोषाल, 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पालिटिकल आइडियाज' पृ0 433

(129) कुल्लूकभट्ट मनु पर VIII/350

(130) मेधातिथि VIII 350-351

(131) घुर्ये, कास्ट, क्लास एण्ड आकुपेशन पृ0 9

(132) शूद्रकमलाकर पृ0 294

(133) राजतरंगिणी VIII 3230- 3346-47

(134) इण्डियन एण्टीक्वैरी XVIII (1889) 136-147

(135) एन्वल सर्वे रिपोर्ट XXI 49

(136) इपि0 इण्डि पृ0 154

(137) गृहस्थखण्ड पृ0 253, अलबरूनी. सचाऊ II 136

(138) तत्रैव पृ0 191 मनु का उद्धरण X 83

(139) इपि0 इण्डि0 I 1154

(140) धनखण्ड पृ0 37

(141) शुक्रनीतिसार IV पृ0 332-34

(142) अलबरूनी, सचाऊ II 102

(143) स्ट्रगल फार एम्पायर पृ0 477

(144) राजतरंगिणी कल्हण VII 1917-18

(145) विष्णु पुराण VI 1 36 हाजरा पुरणिक रिकार्डस ऑन हिन्दू राइटस एण्ड कस्टमस पृ0 209

(146) स्कन्दपुराण, विष्णुपुराण स0 III पू0 39-291

(147) जिनसेन पृ0 288, 248

(148) बृहत्धर्म पुराण पृ0 189, 7-9

(149) देवी भागवत V 20 46 IX 8-62

(150) अलबरूनी, सचाऊ II 136

(151) मनुस्मृति III 112

(152) बौधायान धर्मसूत्र I II 4

(153) अल्तेकर घुर्ये कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया पृ0 57, 64, 86, 96

(154) गृहस्थखण्ड, कृत्यकल्पतरू पृ0 255

(155) तत्रैव पृ0 258

(156) मेधातिथि मनुपर X 95

(157) मेधातिथि मनुपर X 98

(158) कुल्लूकभट्ट मनुपर X 98

(159) मनुस्मृति IV 178

(160) मनुस्मृति VIII 20 21

(161) मनुस्मृति VIII 270

(162) मनुस्मृति VIII 271

(163) मनुस्मृति VIII 272

(164) मनुस्मृति VIII 417

(165) मनुस्मृति XI 131

(166) स्कन्द पुराण, हवेनसांग, वार्टस भाग XI पृ0 14

(167) हवेनसाग वाटर्स, भाग I पृ0 168

(168) इब्न खुदार्दबा, 12

(169) वैदिक इन्डैक्स, भाग I पृ0 159

(170) धर्मोत्तर पुराण III 10 3

(171) ब्रह्मपर्व 44 22

(172) वैजयन्ती पृ0 258 पंक्ति 45

(173) गृहस्थ खण्ड पृ0 427

(174) मेधातिथि मनुपर 238

(175) मेधातिथि मनुपर III 62, 121, 156, X 127 विश्वरूप याज्ञवल्क्य पर 1.13

(176) बृहत्धर्मपुराण

(177) गृहस्थ खण्ड पृ0 271-72

(178) नियतकलाकन्द पृ0 356 गृहस्थरत्नाकर पृ0 336

(179) मेधातिथि मनु पर पृ0 231

(180) मेधातिथि मनु पर VI 97

(181) मनुस्मृति IX 235, 239

(182) मनुस्मृति V 185

(183) गौतमधर्म सूत्र IV 15 एव 23

(184) आपस्तम्ब 2/1/2/8-91

(185) मनुस्मृति X 36 एव 51

(186) मेधातिथि मनु पर X 13

(187) हेमचन्द्र द्वयाश्रयकाव्य

(188) विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा III 30)

(189) विष्णुधर्म सूत्र (104)

(190) अत्रिस्मृति (267-69)

(191) अत्रिस्मृति 249

(192) स्मृत्यर्थसार पृ0 79

(193) याज्ञवल्क्य (1/193) गौतम 4, 10

(194) भागवत पुराण X 70

(195) मिताक्षरा (याज्ञ0 3, 162)

(196) ऋग्वेद 10/27/12

(197) मैत्रायणी संहिता 3 6 3 शतपथ ब्राह्मण 14.1.1 31

(198) बौधायन धर्मसूत्र 1 1.19

(199) शतपथ ब्राह्मण 4 1 2 13

(200) मनुस्मृति

(201) मिताक्षरा, याज्ञ0 2 14 व 8, 1 87

(202) मेधातिथि, मनुस्मृति पर V 147

(203) कुल्लूकभट्ट, मेधातिथि पर V 147

(204) ऋग्वेद 8 31 यादम्पति सुमनसा आ च श्रावत 1 देवो सोनित्या शिरा

(205) मनुस्मृति 2 66

(206) मनुस्मृति 2 67

(207) काव्य मीमासा पृष्ठ 53

(208) हर्षचरित 4230 अथ राजश्रीरपि नृत्यगीताद्विषु सरवीषु सकलासु कलासु च प्रतिदिननुपचीयमान परिच-या शनै शनै अवर्द्धत।

(209) गाथासप्तशती 1 87, 90, 2 2 63, 1, 91, 4, 3, 28, 74, 761

(210) कर्पूरमंजरी 1 11

(211) शकर दिग्विजय 8.51 विधाय मायाविदुषी सदस्य विधीयता बाद कथा सुधीन्द्र।

(212) राजतरंगिणी 7 905 9, 931, 8, 1137, 9

(213) ऋग्वेद 10/27/12

(214) गोभिल 2/5 शंखायन 1/18-19, खादिर 1/4/12-16, पारस्कर 1/11, आपतम्ब

(215) गौतम 18/20-23

(216) मनुस्मृति 9/94

(217) पराशरस्मृति 2-9-8

(218) स्मृतिचन्द्रिका पृ0 80

(219) कथासरित्सागर II 172

(220) तत्रैव

(221) अग्निपुराण CLVIII 28-38

(222) मनुस्मृति VIII 225

(223) मेधातिथि VIII 225

(224) शतपथ ब्राह्मण 5/2/1/10, 8/7/3, तैतिरीय संहिता /1/8/5 ऐतरेय ब्राह्मण 1/2/5, बृहस्पति, अपरार्क द्वारा उद्धृत पृ0 740

(225) कामसूत्र 3/2

(226) गौतम 23/14

(227) मनु 8/371

(228) वसिष्ठ 21/10 एवं याज्ञवल्क्य 1/72

(229) बौधायन धर्मसूत्र 2 2 57

(230) अत्रि 3, 191-3

(231) देवल, 50, 55

(232) मिताक्षरा याज्ञ0 1, 72

(233) मिताक्षरा याज्ञ0 1, 70, 72

(234) व्यास 2, 4, 9, 50

(235) बौधायन धर्म सूत्र 17, 15

(236) ऋग्वेद 7, 4, 8

(237) ऋग्वेद 2 17 7

(238) आपस्तम्ब 2/1412/4

(239) वसिष्ठ धर्म सूत्र 15/7

(240) गौतम धर्मसूत्र 28/21

(241) मनुस्मृति IX, 185

(242) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 3.5

(243) याज्ञवल्क्य 2 135

(244) बृहस्पति 15/35

(245) नारद 13 50

(246) कात्यायन याज्ञ 2.135 6

(247) ग्यारहवीं सदी का भारत पृष्ठ 155

(248) दायभाग 11 24

(249) विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा याज्ञ0 2 135

(250) कुल्लूकभट्ट 10, 192

(251) विष्णु 10, 34

(252) नारद 13.13

(253) तैतिरीय संहिता 6.5 4 2

(254) शतपथ ब्राह्मण 4. 4. 2. 13

(255) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2 14 2-4

(256) मनुस्मृति IX 185 पिता हरेद पुत्रस्य रिक्थ भ्रातर एवच।

(257) मनुस्मृति IX, 187

(258) मेधातिथि मनु पर IX 128-27

(259) कौटिल्य अर्थशाम्त्र 3 5

(260) गौतम धर्मसूत्र, पिण्ड गोत्रर्षिसम्बन्धा रिक्थ मजेन्स्त्री चानपत्यस्य ।

(261) दायभाग जीमूतवाहन खण्ड 13

(262) विज्ञानेश्वर मिताक्षरा 2, 136

(263) मेधातिथि मनुपर VIII 414

(264) मनुस्मृति IX 194 मिताक्षरा VIII 143 पृ0 272

(265) मिताक्षरा VIII 143

(266) नारद XIII 2 दायभाग IV 123 पृ0 86

(267) बनर्जी जी, द हिन्दू लाज ऑफ मैरिज और स्त्रीधन पृ0 332

(268) कात्यायन मिताक्षरा VIII 143 पृ0 272

(269) दायभाग IV 120 पृ0 85

(270) मिताक्षरा VIII 147 पृष्ठ 281

(271) मिताक्षरा II पृष्ठ 147 व्यवहारमयूख 10-11

(272) मिताक्षरा VIII पृ0 281

(273) तत्रैव IV 136

(274) मिताक्षरा याज्ञ0 2 117

(275) पराशरमाधवीय 3 552

(276) याज्ञवल्क्य I 77

(277) कथासारित्सागर III पृ0 234, इपि0 इण्डि0 I पृ0 313

(278) कथासरित्सागर I पृ0 159

(279) तत्रैव II पृष्ठ 20 IV 57

(280) इपिग्राफिका इण्डिका XXII पृ0 126, कथासारित्सागर IV पृ0 154

(281) बी0सी0 लॉ भाग II (1946) पक्ति 19-20 पृ0 257 (वुमेन इन अर्ली इन्स्क्रिपशनस ऑफ बगाल)

(282) अर्थववेद 14 14

(283) शतपथ ब्राह्मण 5 2 1 10

(284) मनुस्मृति IX 9 45

(285) महाभारत, आदिपर्व 74 40, बृहस्पति 25 11, अपरार्क 7, 40

(286) बृहत्सहिता 74 5, 5, 11, 15, 16, मनु IX, 16, वेदव्यास स्मृति 2 14

(287) ऋग्वेद 10 85 46

(288) ऋग्वेद 1 72 5, 5 32

(289) तैतिरीय ब्राह्मण 3, 75

(290) शतपथ ब्राह्मण 1.19 2, 14

(291) वृहदायण्यक उपनिषद 6 4 17

(292) मनुस्मृति IX 9 3

(293) हर्षचरित्र 4 (231) 5

(294) मेधातिथि IX 26

(295) इपिग्रा0 इण्डि0 IV पृ0 154

(296) मेधातिथि IX 27

(297) स्कन्दपुराण I II 23, 44, अवस्थी, ए0बी0एल0 - स्टडीज इन स्कन्दपुराण, I पृ0 306

(298) स्कन्दपुराण I II 14, 92, I II 29, 44

(299) ऋग्वेद 1/87/3

(300) बौधायन धर्मसूत्र 17/55/56

(301) मनुस्मृति V/157-160

(302) पराशर 4/31

(303) कात्यायन (वीरमित्रोदय् पृ0 626-27)

(304) बृहस्पति स्मृति 21 15

(305) वृद्ध हारीत 11, 205, 10

(306) हर्षचरित्र (6 अतिम वाक्य)

(307) प्रचेता स्मृतिचन्द्रिका 1 पृ0 222 तथा शुद्धितत्व पृ0 2324 स्मृतिमुक्ताफल वर्णाश्रम पृ0 161 से उद्धत

(308) स्कन्दपुराण (काशी खण्ड, 4/55/75 एव 3, ब्रह्मरण्य भाग 50/55)

(309) स्कन्दपुराण 4, 71, 44

(310) डाई फ्रौ पृ0 56, 82, 83 एव श्चैडर का ग्रथ प्रीहिस्टारिक एटीक्वीरिज ऑफ दि आर्य पीपल अग्रेजी अनुवाद 1890 पृ0 391 एव वेस्टरमार्क की पुस्तक "आरिजिन एण्ड डवलपमेण्ट ऑफ मॉरल आइडियास, 1906 जिल्द 1, पृ0 472-476

(311) विष्णुधर्म सूत्र 25/14, याज्ञवल्क्य के 1/86 की व्याख्या मे मिताक्षरा द्वारा उद्धत

(312) मैक्रिडंल पृ0 69-70

(313) मैक्रिडंल पृ0 69-70

(314) स्ट्रैबो

(315) कालिदास, अभिज्ञान शाकुतल:

(316) कुमारसंभव 4, 33, 35, 36, 45

(317) कामसूत्र 6 2.53

(318) वृहस्पति 483, 84

(319) व्यासस्मृति 2 53

(320) वराहमिहिर बृहत्सहिता 74/16

(321) गुप्त इंस्क्रिप्शनस, फ्लीट, पृष्ठ 91

(322) ब्रह्मपुराण का उद्धरण, कृत्यकल्पतरू, 634

(323) मिताक्षरा, याज्ञ0 1 86

(324) राजतरंगिणी 5.226

(325) राजतरंगिणी 7 103

(326) कथासारित्सागर 10.58

(327) इण्डियन एटीक्वेरी, जिल्द 9, पृष्ठ 164

(328) प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ दा आर्केयोलाजिकल सर्वे ऑफ इडिया, वेस्टर्न सर्किल 1906 7 पृ0 35

(329) इपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द 14 पृ0 265-67

(330) महाभारत आदि पर्व 95/64

(331) विष्णुपुराण 5/30/2

(332) महाभारत शाति पर्व 148

(333) मेधातिथि, मनु पर VIII 156-7

(334) स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाड, पृष्ठ 598

(335) कादम्बरी, पूर्वाद्ध पृ0 308

(336) मृच्छकटिक, अंक-10

(337) महानिर्वाण तन्त्र 10, 79

(338) दायभाग पृष्ठ 46-45

(339) ऋग्वेद 10/40/2

(340) ऋग्वेद 10/18/7-8

(341) अर्थववेद 5/17/8-9

(342) अर्थववेद 9/5/27-28

(343) नारद (स्त्रीपुंस, 45)

(344) याज्ञवल्क्य (1, 67)

(345) सस्कार प्रकाश पृ0 740-41

(346) कश्यप (स्मृतिचन्द्रिका 1, 75 मे उद्धत)

(347) बौधायन (स्मृतिचन्द्रिका पृष्ठ 75, तथा सस्कार प्रकाश पृ0 735)

(348) मनुस्मृति IX (69-70)

(349) वशिष्ठधर्मसूत्र (27/72)

(350) वशिष्ठधर्मसूत्र (17/19-20)

(351) बौधायन धर्मसूत्र 2/2/31

(352) नारद (स्त्रीपुंस, 97)

(353) पराशर माधवीय (4/30)

(354) अग्निपुराण (54/5-6)

(355) पराशर माधवीय (2, भाग-1, पृ0 53)

(356) मेधातिथि मनु पर V 157

(357) मेधातिथि मनु पर III/10 एव V/163

(358) आपस्तम्ब धर्मसूत्र - 2/6/13 13-4

(359) हरदत्त (मनु पर 3/174)

(360) मनुस्मृति IV/162

(361) मनु V/162, मनु IX/65, मनु IX/47, मनु VIII /226

(362) मनु IX/176

(363) काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ0 344, भाग-1

(364) बौधायन धर्मसूत्र (4/1/18)

(365) वशिष्ठ धर्मसूत्र (17/74)

(366) याज्ञवल्क्य (1/167)

(367) मनु III 155

(368) याज्ञवल्क्य 1/222

(369) ब्रह्मपुराण (अपरार्क पृ0 97 से उद्धत)

(370) निरूक्त 3/15

(371) मेधातिथि, मनु पर IX/66

(372) गौतम 18/4-8

(373) गौतम 18/11

(374) वसिष्ठ धर्मसूत्र 17/56-65

(375) बौधायन धर्मसूत्र 2/2/17

(376) मनुस्मृति IX/59/61

(377) बौधायन धर्मसूत्र 2/2/67-70

(378) याज्ञवल्क्य (1/68-69)

(379) नारद, स्त्रीपुंस 80-83

(380) कौटिल्य 1/17

(381) आपस्तम्ब धर्मसूत्र-2/10/27/5-7

(382) बौधायन धर्म सूत्र 2/21/38

(383) मनुस्मृति IX/64-68

(384) मनुस्मृति /69-70

(385) मनुस्मृति IX/120-21, 145

(386) बृहस्पति (याज्ञ0 1/68-69 की टीका मे अपरार्क द्वारा उद्धत।)

(387) कुल्लूकभट्ट मनु पर IX/68

(388) मनु IX/4 एव 68

(389) मनु IX/64

(390) याज्ञवल्क्य 2/117 की व्याख्या मे मिताक्षरा एव ब्रह्मपुराण, अपरार्क द्वारा उद्धत पृ0 97

(391) वेस्टरमार्क 'हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन मैरज, 1921, जिल्द 3 पृ0 206-220

(392) वशिष्ठ धर्मसूत्र 17/1/6

(393) विन्टरनित्श (जे0आर0ए0एस0, 897, पृष्ठ 758)

(394) ऋग्वेद 10, 85, 33

(395) ऋग्वेद 10.85

(396) ऐतरेय ब्राह्मण 12 11

(397) अष्टाध्यायी 3/2/26

(398) अयोध्याकाण्ड, रामायण 33/8

(399) सभापर्व, महाभारत 69/9

(400) अयोध्याकाण्ड 33/8, युद्धकाण्ड 116/28

(401) हर्षचरित्र-4

(402) शकुन्तला 5/13

(403) कथा-सरित्सागर 33 6-7

(404) इलियट, 1 पृ0 11

(405) पी0 एन0 प्रभु हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन पृ0 83

(406) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/9/21/1

(407) गौतम धर्मसूत्र 3/2

(408) वसिष्ठ धर्मसूत्र 7/1-2

(409) बौधायन धर्मसूत्र 2/6/17

(410) मनुस्मृति VI/87

(411) मनुस्मृति VI/96

(412) मनुस्मृति VI/1

(413) मनुस्मृति VI/169

(414) मनुस्मृति VI/1-2

(415) ऋग्वेद 10/109/5

(416) महाभारत, शांतिपर्व 191 8

(417) सस्कार प्रकाश पृ0 334

(418) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 4 10 4

(419) बौधायन धर्मसूत्र 1 2 18

(420) बौधायन धर्मसूत्र 1 2 12

(421) विष्णुपुराण 3 9 1

(422) बौ0 गृ0 सूत्र 25 7 8

(423) गो0 गृ0 सूत्र 1 15, आश्व 1 19 11, बौ0 गृ0 25 13, आ0 गृ0 सू0 1.33.36

(424) आश्व0 गृ0 सू0 1 19 8, बौ0 ध0 सू0 11 61 63, बौ0 गृ0 2 5 16, आश्व0 धर्मसूत्र 1 2 39 41

(425) महाभाष्य 3 57

(426) पा0 गृ0 सू0 2 2, आश्व गृ0 1 19 1 6, बौ0 गृ0 सू0 2 5, आ0 गृ0 सू0 1 2 39 41

(427) मनु II 0.36

(428) बौ0 गृ0 सू0 1 2 42; विष्णुपुराण 3.9 1

(429) मनुस्मृति II 0 48

(430) आश्वलायन गृ0 सू0 1 2. 22 2 8 का0 गृ0 सू0 41 17 गौ0 गृ0 सू0 3 108 76

(431) बौ0 ध0 सू0 7 4 17, गौ0 गृ0 1 3 4 5

(432) अर्थशास्त्र 2 88 92

(433) ग्यारवही सदी का भारत, जयशकर मिश्र पृ0 132 33

(434) मनुस्मृति III 1

(435) तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/10/11

(436) शतपथ ब्राह्मण 11/5/7/4/4-5

(437) छान्दोग्योपनिषद 7/1/2

(438) गौतम (2/54-55)

(439) मनु (2 141)

(440) शखस्मृति 3/2

(441) विष्णु धर्मसूत्र 29 2

(442) मेधातिथि (मनु II/112)

(443) मिताक्षरा (याज्ञ0 2/225)

(444) मनु 10 1/16, याज्ञवल्क्य 3/42

(445) मनु III 0 77

(446) मनु IV 0.90

(447) विष्णुपुराण 3 9 8

(448) बौ0 धर्मसूत्र 8 13

(449) अर्थशास्त्र 1.3

(450) शतपथ ब्राह्मण 1 7 2 10, महाभारत, अनुशासन पर्व 1 120 15

(451) मनुस्मृति VI 0 36

(452) मनुस्मृति VI 0.36

(453) मनुस्मृति

(454) शतपथ ब्राह्मण 11 5 6 1, तै0 आ0 2 10

(455) मनुस्मृति III 0.68-70

(456) तैतिरीय संहिता 2 11 2.2, अतिथि देवो भव्।

(457) महाभारत, शातिपर्व- 2443 2 4

(458) कुल्लूकभट्ट मनु पर VI

(459) मेधातिथि मनु पर VI/7

(460) गोविन्द राज मनु पर IV/7

(461) विज्ञानेश्वर मिताक्षरा याज्ञ पर 1/128

(462) बौधायन धर्मसूत्र 3/6/19

(463) पराशर माधवीय भाग-2 पृ0 139

(464) वसिष्ठ धर्मसूत्र 9/11

(465) मनुस्मृति VI/21

(466) मेधातिथि मनु पर VI/21

(467) मनुस्मृति VI/2

(468) कूल्लूक मनु पर III /50

(469) गौतम 30/25-34

(470) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/9/21/18 एव 2/9/23/2

(471) बौधायन धर्मसूत्र 3/3

(472) वसिष्ठ धर्मसूत्र 9

(473) मनु VI/1-32

(474) याज्ञवल्क्य 3/45-55

(475) विष्णुधर्म सूत्र 95

(476) मनुस्मृति VI/3

(477) याज्ञवल्क्य 3/45

(478) मेधातिथि मनु पर VI/3

(479) गौतम 3/36

(480) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/9/21/20

(481) वसिष्ठ धर्मसूत्र 9/10

(482) मेधातिथि (मनु पर VI/9)

(483) मनु VI/5

(484) गौतम 3/26-28

(485) मनु VI/2

(486) मनुस्मृति VI/22 एव 24 याज्ञ0 3/48, वसिष्ठ 9/9

(487) मनु VI/6, गौतम 3/34, वसिष्ठ 9/11

(488) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/9/22/9, मनु VI/8, याज्ञवल्क्य 3/48

(489) कुल्लूक (मनु पर VI/26)

(490) मनु VI/26

(491) याज्ञवल्क्य 3/45

(492) वसिष्ठ 9/5

(493) मनु VI/16 एव याज्ञवल्क्य 3/46

(494) मनु VI/23, 34, याज्ञवल्क्य 3/52 विष्णु धर्मसूत्र 95/2/4

(495) मनु VI/22 एवं 26 तथा याज्ञवल्क्य 3/51

(496) मनु VI/31, याज्ञवक्ल्य 3/35

(497) आदिपर्व 86/1

(498) आदिपर्व 86/12-17 एव 75/58

(499) आश्वमेधिकपर्व, अध्याय-16

(500) मौशलपर्व 7/74

(501) इपि0 इण्डिका, जिल्द 12, पृ0 205

(502) एपिग्राफिका इंण्डिका, जिल्द 1 पृ0 140

(503) इपिग्राफिका कर्नाटिका, जिल्द 2 सकेत 136

(504) भागलपुर दानलेख श्लोक स0 17

(505) देवधर प्रशास्ति, इपि0 इण्डिका 1 पृ0 308

(506) वायु पुराण 104 12

(507) विष्णु पुराण 3 18 37

(508) बौ0 ध0 सू0 10 1

(509) ऋग्वेद 8 3.9 अर्थववेद 25.5

(510) बौ0 धर्मसूत्र 2 10.5, गौतम 2 1 05

(511) बौ0 धर्मसूत्र 10 1 सम्यक न्यास, प्रतिग्रहाणा सन्यास: ।

(512) रोमिला थापर, प्राचीन भारत का इतिहास पृ0 67

(513) मनु VI/30, याज्ञ 3/56. विष्णु 96/1. शख 7/6

(514) मनु 6/35-37

(515) मनु 6/41, 43, 44 वसिष्ठ 10/12-15, शख 7/6

(516) मनु 6/41, 49, गौतम 3/11

(517) मनु 6/38, 43 आप0 धर्मसू0 1/9/10 एव आदिपर्व 91/2/2

(518) मनु 6/57, 59 वसिष्ठ 10/21-22 एव 25 याज्ञ0 3/59

(519) मनु 4/43-44, गौतम 3/10, वसिष्ठ 10/6

(520) मनु 6/43, गौतम 3/16, बौ0 धर्मसूत्र 2/10/79, आप0 धर्मसूत्र 2/9/21/20

(521) मनु 6/36, 92-94, याज्ञ0 3/65-60, वसिष्ठ 10/30 बौ0 02/10/55 50

(522) रोमिला थापर, प्राचीन भारत का इतिहास पृष्ठ 64

(523) गौतम धर्म सूत्र 3 11 323

(524) महाभारत शांति पर्व 244 30 नीलकंठ की टीका

(525) कुट्टनीमतम 492, 497

(526) कुट्टनीमतम पृ0 495

(527) कुल्लूक मनु पर 6 33

(528) ग्यारहवी सदी का भारत पृष्ठ 133 34

(529) ऋग्वेद 5/76/2

(530) ऋग्वेद 6/28/4

(531) ऋग्वेद 8/39/9

(532) शतपथ ब्राह्मण (3/211/22)

(533) जैमिनिसूत्र (3/1/3, 3/2/15; 3/8/5; 9/2/9 42 44, 9/3/25

(534) जैमिनिसूत्र 6/1/35

(535) शबर- "संस्कारो नाम स भवति सस्मिन्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्य चिदर्थस्य ।"

(536) तन्त्रवार्तिक-"योग्यता चादधाना सस्कारा इत्युच्यन्ते."

(537) मनुस्मृति (2/27-28)

(538) याज्ञवल्क्य (1/13)

(539) सस्कार तत्व पृष्ठ 857

(540) व्यासस्मृति

(541) अपरार्क, याज्ञवल्क्य पर 1/11-12

(542) रघुनन्दनकृत शूद्रकृत्यतत्व

(543) ब्रह्म पुराण

(544) गौतम धर्मसूत्र 1 822 इरत्येत चत्वारिशत्सस्कारा

(545) बौ0 धर्मसूत्र

(546) वृहदारण्यकोपनिषद (6/4/21)

(547) मनुस्मृति 3/46

(548) याज्ञवल्क्य 1 79 षोडशर्तुनिशा स्त्रीणा तासु युग्मालु संविशेत्
-पर्वाण्याद्यश्चय वर्जयित।

(549) मनुस्मृति 3 45 ॠतुकालीभिगामी त्स्वदार निरत: सदा। पर्ववर्ज व्रजेच्चैना तद्वता रतिकाम्या।।

(550) याज्ञवल्क्य (1/11) पर विश्वरूप

(551) लघु आश्वलायन 4/17

(552) मेधातिथि मनुस्मृति पर 2/16 गर्भाधान च विवाहादनन्तर प्रथमोपगमे
विष्णुयोनि कल्पत्विति मन्त्रवकेषचिद्वि हितम्।

(553) परेषामगर्भ ग्रहणात् प्रत्यतू।।

(554) स्मृतिचन्द्रिका पृ0 1/14

(555) अलबरूनी, ग्यारहवी सदी का भारत पृ0 219

(556) अर्थववेद 6/11/1

(557) आश्वलायन गृहसूत्र 1/13/2 7

(558) आश्व गृ0 14 9 पुसवनमिति कर्मनामधेयं येनकर्मणा निमित्तेन गर्भिणी पुमासमेव सूते सत्पुसवन्।

(559) आश्वलायन 1/14/1-9

(560) शंखायन 1/22

(561) हिण्यकेशी 2/1

(562) बौधायन 1/10

(563) भारद्वाज 1/21

(564) गोभिल 2/7/1-12

(565) खादिर 2/2/24-28

(566) पारस्कर 1/15

(567) काठक 31, 1-5

(568) वैखानस 3-12

(569) याज्ञवल्क्य 1-11

(570) व्यास 1-18

(571) पारस्कर गृहसूत्र 1 14 2

(572) बौधायन गृहसूत्र 1 9 1

(573) आश्वलायन गृहसूत्र 1 14 1-9

(574) मनुस्मृति 2-29 प्राङ नाभिवर्धनात् पुसो जातकर्म विधायते।
मन्त्रवत् प्राशन चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्।।

(575) विष्णु पुराण 3.104-5 जातस्य जातकर्मादिक्रि या काण्डम

(576) स्मृतिचन्द्रिका 1 पृ0 19-20

(577) संस्कार रत्नमाला पृ0 896-97

(578) संस्कार प्रकाश पृ0 201-3

(579) अलबरूनी, ग्यारहवीं सदी का भारत पृ0 221

(580) इपि0 इण्डिका 6 पृ0 1126-27

(581) शतपथ ब्राह्मण 6 13 9, तै0 सं0 6.1 13

(582) आपस्तम्ब गृहसूत्र 15 8.11, आश्वलायन गृहसूत्र 1 15, 4-10

(583) याज्ञवल्क्य 1 12 अहन्येकादशे नाम. मनु 2.30

नामधेय दशम्या तु द्वादश्या वास्य कारयेत ।
पुण्ये तिर्थो मूहूर्ते वा नक्षत्र वा गुणन्विते ।।

(584) मनुस्मृति 2 30

(585) विश्वरूप मनु पर 2 30

(586) कुल्लूकभट्ट मनु पर 2 30

(587) मेधातिथि मनु पर 2.30

(588) वारमित्रोदय 1 पृ0 334 पर उद्धत

(589) मनुस्मृति 2 31 मडगल्य ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वियतम् वैश्वश्च धनसयुक्तम् शुद्रस्थ तु जुगुप्सितम् ।।

(590) वही; पारस्कर गृहसूत्र 1 17 शर्म ब्राह्मण स्य क्षत्रियस्य गृप्तेति वैश्यस्य ।

(591) बौधायन गृहसूत्र 1-1 10 आप्युदाहरन्ति शर्मान्त ब्राह्मणस्यं, वर्मान्त क्षत्रियस्य गुप्तान्त वैश्यस्य, - दासान्तमेववा।

(592) कादम्बरी, पूर्वभाग, प्राप्तेदशमेहनि पुण्ये मुहर्ते चन्द्रापीड इतिनाम चकार

(593) पारस्कर गृहसूत्र 1-7

(594) गोभिल 2/8/1-7

(595) खादिर 2/3/1-5

(596) बौधायन (11/2)

(597) मानव (1/19/1-6)

(598) काठक (37-3)

(599) पारस्कर गृहसूत्र 1 17 चतुर्थे मासि निष्क्रमाणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्च क्षूरिति।

(600) मनुस्मृति 2 34

(601) शा0 गृ0 सूत्र 1 27, आ0 धर्मसूत्र 1 16 1

(602) महाभाष्य, 2 पृ0 262, सस्कार-प्रकाश, पृ0 295 स च चूडाकरण शब्दः कर्मनाम धेयम् योगिकन्यायेनोदिभदादि दिशाब्दवत्। योगरेश, चूडार्थकरणं चूडा यमिन्कर्मागीति वा त्रिधैव संभवति।

(603) पारस्कर गृहसूत्र 2 1 1 2

(604) मनुस्मृति 2 35 चूडाकर्म द्विजातीना सर्वेषामेव धर्मवत ।
प्रथमेशब्दे तृतीये वा कर्त्तव श्रुति चोदनात्।

(605) पारस्कर 2/1

(606) वैखानस 3/23

(607) आश्वलायन (1/17/1-8)

(608) स्मृतिचन्द्रिका, 9 पृ0 25, अपरार्क पृष्ठ 29, सस्कार रत्नमाला पृष्ठ 901

(609) कुल्लूकभट्ट मनु पर 2 35

(610) अर्थववेद, 6

(611) निरूक्त 2/4

(612) गर्ग सुश्रुत 16 1

(612) ग्यारवही सदी का भारत पृ0 224

(614) बौधायन गृहसूत्र 1 12

(615) संस्कार प्रकाश, पृ0 258

(616) संस्कार प्रकाश, 260, सस्कार रत्नमाला पृ0 890

(617) अपरार्क पृष्ठ 30 31

(618) स्मृतिचन्द्रिका 1 पृ0 26

(619) वाटर्स 1 पृ0 155

(620) ग्यारहवीं सदी का भारत पृष्ठ 168

(621) गौ0 ध0 सू0 1 6 12 उपनयन ब्राह्मणास्यष्ट में। एकादश द्वादशयों क्षत्रिगढ। वैश्ययो

(622) मनुस्मृति 2 36 गभीष्टमेज्ब्दे कुर्वीत ब्राह्मस्योपनाचनम् ।
गर्भदकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशेविशः।।

(623) आपस्तम्ब 10/2

(624) शखायन 2/1

(625) बौधायन 2/5/2

(626) भरद्वाज 1/1

(627) गोभिल 2/10

(628) याज्ञवल्क्य 1/14

(629) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/1/19

(630) पारस्कर गृहसूत्र 2/2

(631) याज्ञवल्क्य 1/14

(632) आपस्तम्ब गृहसूत्र 1/1/1/19

(633) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/1/119

(634) हिरण्यकेशि गृहसूत्र 1/1

(635) वैश्वानस 3/3

(636) आप0 ध0 सू0 (1/1/2/39-1/1/3/1-2)

(637) मेधातिथि मनु पर 2 44

(638) मनुस्मृति 2 44

(639) आश्वलायन गृहसूत्र 1 12 11, बौधायन गृ0 सू0 2 5 15

(640) आश्वलायन गृहसूत्र (1/19/13 एव 1/20/1)

(641) आश्वलायन गृहसूत्र 1/19/13

(642) गौतम धर्मसूत्र 1/25

(643) वसिष्ठ धर्मसूत्र 11/55-57

(644) पारस्कर गृहसूत्र 2/5

(645) मनुस्मृति 2/46

(646) पारस्कर गृ0 सू0 2 1 4

(647) पारस्कर गृ0 सू0 2 2 17 18

(648) शतपथ ब्राह्मण 11/5/4/1-17

(649) मनुस्मृति 2/74

(650) मेधातिथि 2/75 मनु पर

(651) मेधातिथि 2/101

(652) वृहदारण्यको उपनिषद 5/2/1

(653) मनुस्मृति 2/69

(654) याज्ञवल्क्य 1/15

(655) मनुस्मृति 2/165

(656) शतपथ ब्राह्मण 11/5

(657) गौतम 2/051

(658) वसिष्ठ धर्मसूत्र 7/3

(659) मनु 3/2

(660) याज्ञवल्क्य 2/52

(661) दक्ष 2/34

(662) मनुस्मृति 12/102

(663) मेधातिथि मनु पर 3/19

(664) वृहदारण्यकोपनिषद 4/1/2

(665) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/2/7/19-23

(666) याज्ञवल्क्य 3/265

(667) विष्णु धर्मसूत्र 37/10

(668) मनु 3/15-67 अनुशासनपर्व 23/17 एव याज्ञवल्क्य 1/223

(669) मेधातिथि मनु पर 2/112 एवं 3/146

(670) मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य 2/235)

(671) स्मृतिचन्द्रिका पृ0 269

(672) मनु 10/16 याज्ञवल्कय 3/42

(673) आपस्तम्ब गृहसूत्र 1 18

(674) मनुस्मृति 2 65

(675) मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य 1/36)

(676) कुल्लूकभट्ट (मनुस्मृति 2/65)

(677) मेधातिथि मनु पर 2/65

(678) ऋग्वेद 10/85/36, 5/3/2, 5/28/3, 3/53/4

(679) शतपथ ब्राह्मण 5/2/1/10 अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते आर्सो हि तावद् भवति। अथ यदैव जाया विन्दतेथ तार्हि हि सर्वो भवति।

(680) पारस्कर गृहसूत्र 1 8 1

(681) मनुस्मृति 3/37-38

(682) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/58-60

(683) बौधायन गृहसूत्र 1 43

(684) आश्वलायन गृहसूत्र 4 1

(685) ऋग्वेद 10 16 1

(686) पारस्कर गृहसूत्र 310 27 28

(687) विष्णुपुराण 3 13 20

(688) याज्ञवल्क्य 5 97, मत्स्य पुराण 154, 152-53

मनुजास्तत्र जायन्ते यतो नागृहधर्मिण ।

तस्य कुर्तनियोगेन ससारो येन वर्धित: ।।

(689) ऋग्वेद 10/रु85/36, 5/3/2, 5/28/3, 3/53/4

(690) ऐतरेय ब्राह्मण 33ध्1

(691) शतपथ ब्राह्मण 5/2/1/10

(692) मनुस्मृति 9/28

(693) राबर्ट ब्रिफाल्ट, सेक्स इनरिलिजन 169

(694) वेस्टर-मार्क, द हिस्ट्री ऑफ हयूमन मैरिज पू0 26

(695) हॉबेल

(696) मनुस्मृति 9.28

(697) ऋग्वेद 5 3.2, 5.28.3

(698) तैत्तिरीय ब्राह्म 2 2 2 6, 3 3 1 अयज्ञियो बा एषयोडपत्नीक

(699) शतपथ ब्राह्मण 5 2/1 10, 307

(700) याज्ञवल्क्य 1 89

(701) ऋग्वेद 10 83 36

(702) ऋग्वेद 10 85 45

(703) ऐतरेय ब्राह्मण 33 1 4

(704) मनुस्मृति 9.28, रतिरूत्तमा

(705) मनुस्मृति 9 137

(706) वात्स्यायन कामसूत्र

(707) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 1 7 धर्मार्थ विरोधेन कामंन सेवेत्

(708) मनुस्मृति 4 176

(709) मनुस्मृति 9 88

(710) यमस्मृति 1 1 78

(711) बौधायन धर्मसूत्र 4 1 1, मनुस्मृति 3 2, याज्ञवल्क्य स्मृति 1 52

(712) मनुस्मृति 2 2 38, 3 63 64

(713) नारद, स्त्रीपुसंभोग 12 19

(714) मनुस्मृति 9 203

(715) आश्वलायन गृह सूत्र 1 5 3

(716) शखायन गृहसूत्र 1 5 6

(717) मनुस्मृति 3 4

(718) याज्ञवल्क्य स्मृति 1 52

(719) मनुस्मृति 3 8–10

(720) विष्णुधर्मसूत्र 24 12–16

(721) विष्णुपुराण 3 10 18–22

(722) भारद्वाज गृहसूत्र 1 11

(723) मानव गृहसूत्र 1 7 8

(724) मनुस्मृति 3 11

(725) याज्ञवल्कय स्मृति 1 53

(726) मनुस्मृति 9 94

(727) विष्णुपुराण 3 10 16 वर्णेरिकगुणां भार्यामुहहेत्, त्रिगुण स्वयम्

(728) अंगिरा (स्मृतिमुक्ता फल में उद्धधृत वर्णाश्रमा धर्मपृ0 125)
वयोधिकां नोपयच्छेद दीर्घा कन्या स्वदेहत.।
स्ववर्षाट् द्वितिपज्चादिन्यूना। कन्यां समुद्व हेत।।

(729) अनुशासन पर्व, महाभारत 44 14

(730) उद्वाहत्तत्व पृ0 123

(731) श्रौतपदार्थ निर्वचन पृ0 766

(732) ऋग्वेद 10 27.12

(733) शतपथ ब्राह्मण 4 1 5

(734) आपस्तम्ब 2 6 13 1-3

(735) मानवगृहसूत्र 1 7 8

(736) गौतम गृहसूत्र 1 7 8

(737) मनुस्मृति 3 12

(738) बौधायन धर्मसूत्र 1 8 2

(739) मनुस्मृति 3 13

(740) विष्णु धर्मसूत्र 24 1-4

(741) पारस्कर गृहसूत्र 1 4

(742) वसिष्ठ धर्मसूत्र 1 25

(743) याज्ञवल्क्य स्मृति 1 57

(744) मनुस्मृति 9,152, 53

(745) याज्ञवल्क्यस्मृति 2,125

(746) मनुस्मृति 3 44

(747) याज्ञवल्कयस्मृति 1 42

(748) प्रभावती गुप्ता का जूनागढ अभिलेख

(749) लालगवुण्ड अभिलेख

(750) मनुस्मृति 2 32

(751) घटोत्कच अभिलेख

(752) त्तिपेरा ताम्रपत्र

(753) विश्वरूप याज्ञवल्क्य पर 3 283

(754) मेधातिथि मनु पर 3 14

(755) याज्ञवल्क्य 1/52-53

(756) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/7/21/8

(757) गौतम धर्मसूत्र 1/9-26

(758) मनुस्मृति 11/172

(759) याज्ञवल्क्य 3/254

(760) मनु 2/18

(761) मेधातिथि 2/18
(762) पराशरमाधवीय 1/2 पृष्ठ 63-68
(763) मनुस्मृति 3/5
(764) मेधातिथि मनु पर 3/5
(765) मेधातिथि 3/5
(766) आश्वलायन गृहसूत्र 1/6
(767) गौतम धर्मसूत्र 4/6-13
(768) बौधायन धर्मसूत्र 1/11
(769) मनुस्मृति 3/21
(770) आदिपर्व 76/8-9
(771) विष्णुधर्म सूत्र 24/18-19
(772) याज्ञवल्क्य 1/58
(773) नारद स्त्रीपुंस 38-39
(774) कौटिल्य 3/1
(775) आदिपर्व 101/12-15
(776) मनुस्मृति 3/27-34
(777) बौधयान धर्मसूत्र 1/11/5
(778) मेधातिथि मनु पर 3/28
(779) अपरार्क पृष्ठ 89
(780) स्मृतिमुक्ताफल भाग 1 पृष्ठ 140
(781) वसिष्ठ 17/73
(782) मनु 8/366 याज्ञवल्क्य 2/287/288
(783) मनु 8/366
(784) मेधातिथि मनु पर 8/366
(785) याज्ञ 2/280
(786) गौतम 4/12, आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/5/12/3 मनु 3/24, नारद (स्त्रीपुस 44)
(787) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/5/12/2, बौधायन धर्मसूत्र 1/11/1
(788) बौधायन धर्मसूत्र 1/11/10, मनु 3/14
(789) मनुस्मृति 3/23
(790) मनुस्मृति 3/24
(791) मनुस्मृति 3/26 एवं बौधायन धर्मसूत्र 1/11/13
(792) नारद स्त्रीपुंस 40

आर्थिक स्थिति

किसी समाज की आर्थिक स्थिति उस समाज की रीढ होती है, जिसके ऊपर पूरा समाज निर्भर रहता है। किसी भी देश की या किसी समय विशेष की आर्थिक स्थिति समाज के तत्कालीन कारको से प्रभावित होती है। अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले कारको मे कृषि, उद्योग धन्धे, व्यापार वाणिज्य के अतिरिक्त, उस काल की राजनैतिक स्थिति भी होती है। पूर्वमध्यकालीन भारत की अस्थिर राजनैतिक स्थिति से व्यापार वाणिज्य एव उद्योग धन्धे भी प्रभावित हुए बिना न रह सके, जिसका साक्ष्य तत्कालीन सिक्को का कम मात्रा मे उपलब्ध होने के रूप मे माना जा सकता है। छोटे-छोटे सामन्तो के उदय से अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडा क्योंकि सबके राजनैतिक हित भिन्न थे, व्यापार वाणिज्य को छोटे-छोटे क्षेत्रो में सीमित कर दिया गया था। आयात-निर्यात को एक सीमा विशेष तक प्रतिबधित कर दिया गया था, इस प्रकार मोटे तौर पर पूर्वमध्यकालीन भारत की अर्थव्यवस्था लडखडा रही थी।

भूमि पर स्वामित्व

भूमि के स्वामित्व के विषय में प्राचीन शास्त्रकारों के मत को लेकर आधुनिक विचारको में मतभेद है। कुछ विचारकों[1] का कथन है कि भूमि पर राजा का स्वत्व, और कुछ[2] का मत है कि उसपर व्यक्ति का स्वत्व है। कतिपय ऐसे भी दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये है जिनसे भूमि पर सम्मिलित स्वत्व[3] की पुष्टि होती है।

वैदिक युग मे भूमि पर व्यक्तिगत एव सम्मिलित स्वामित्व का प्रचलन था क्योकि उसी समय आर्यों का भारत आगमन हुआ था और वे भारत में आकर अपना विस्तार कर रहे थे। जिसने जिस भूमि पर कृषिकार्य प्रारम्भ किया उसपर उसका व्यक्तिगत स्वत्व स्थापित हुआ और समूह मे रहने के कारण भूमि पर उनका सामूहिक अधिकार भी था। वस्तुत भूस्वामित्व के विकास में सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनो पक्षो का योग रहा है तथा इस विषय की विवेचना भी दोनो आधार पर करनी चाहिए।

राजतन्त्र के उत्कर्ष के कारण साम्राज्य का विस्तार हुआ और इसके साथ-साथ राजाओ ने अपनी-अपनी सीमाओ का विस्तार किया। समय-समय पर उसने भूमि, गाव आदि ब्राह्मणो, श्रमणो, मंदिरो और विहारो को दान मे दिये जिससे भूमि पर राजा का स्वामित्व सिद्ध होता है। व्यवहारिक रूप से अलग-अलग भूमि पर अलग-अलग व्यक्तियो का अधिकार था जो उसे स्वतन्त्रतापूर्वक खरीदते बेचते थे, जो भूमि पर व्यक्तिगत स्वत्व को सिद्ध करता है। इस प्रकार भूमि स्वमित्व को सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनो तत्व प्रभावित करते है।

राजतन्त्र और साम्राज्यवाद के विकास के साथ भूमि पर राजा और राज्य का प्रभुत्व बढा जिससे व्यक्ति और उसके समूह का भूमि पर अधिकार निर्बल पड गया। इसके साथ-साथ राजतन्त्र और साम्राज्यवादी विचारको का भी उदय हुआ जिन्होने भूमि पर राजा के अधिकार का समर्थन किया। कौटिल्य और मनु जैसे लेखक इसी वर्ग के थे।

शतपथ ब्राह्मण[4] मे उल्लिखित है कि भूमि सभी लोगो की सम्पत्ति है। जैमिनि[4A] ने मीमासा का मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि पृथ्वी पर सबका समान अधिकार है। इस पर भाष्य करते हुए शबर स्वमिन[5] की व्याख्या है कि राज्य की समस्त भूमि और व्यक्तिगत भूमि मे अतर था उसके अनुसार राजा भूमि को सुरक्षा प्रदान करने के कारण उपज से केवल अपना भाग लेने का अधिकारी था। भूमि पर उसका कोई अधिकार नही था।

किन्तु पूर्वमध्यकाल आते-आते स्थिति एकदम बदल चुकी थी। इस समय भूमि पर स्वामित्व के विषय मे विश्लेषण करने से पहले यह भी आवश्यक था कि तत्कालीन परिस्थितियो के सापेक्ष मे विचार प्रस्तुत हों। अन्य परिस्थितियों के साथ ही साथ, सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियों मे परिवर्तन के कारण भूमि के ऊपर स्वत्व की प्रकृति बदल रही थी[5] पूर्वमध्यकाल में हम देखते है कि भारतीय इतिहास मे कृषक वर्ग के अतिरिक्त सामंत वर्ग एव जमीनधारी शासक वर्ग भी उपस्थित है। यह काल ऐसा, था जब सत्ता वर्ग (शासक) के उत्तराधिकार क्रम के विरोध में जमीन से जुडी हुई एक राजनैतिक सत्ता वर्ग सगठित हो रही थी जिन्होने अपना एक सामाजिक राजनैतिक स्तर बना लिया था। इससे जमीन से जुडे हुए ग्राम्य सत्ताधारी वर्ग का उदय हुआ। भूमि पर सामान्यतौर पर

विभिन्न स्तरो मे शासक का, ब्राह्मण धार्मिक सस्थाओ, सैनिक वर्ग के अधिकारी, किसी गोत्र या परिवार के सदस्यो का एव अन्य अधिकारियो का अधिकार रहता था। तत्कालीन अभिलेखीय साक्ष्यो से भूमि पर स्थानीय अधिकारियो जैसे तलार इत्यादि का पता चलता है, कुछ स्थानीय शासको जैसे पट्टकिल इत्यादि के बारे मे सूचना मिलती है । इसके साथ-साथ समय-समय पर विशेष अधिकारियों जैसे चाट एव भाट[6] की उपस्थिति भी दिखती है जो जमीन के उत्पाद का एक भाग अपने हिस्से के रूप मे लेते थे। लेखपद्धति[7] के साक्ष्यो से पता चलता है कि 12वी एव 13वी सदी मे भूकृषक वर्ग अस्तित्व मे आ चुका था। इस प्रकार भूमि पर अधिकार एंव उपज मे भाग के लिए विभिन्न प्रकार के मध्यस्थ वर्ग उदित हो चुके थे।

सर्वोपरि सत्ताधारी शासक[8] के उपरान्त सामन्त, उससे निम्न सामन्त एंव उससे निम्नतर मध्यस्थवर्गो से लेकर भूमि पर कृषि करने वाले कृषक तक, भूमि पर अधिकार एव उपज मे हिस्से को लेकर बहुत से मध्यस्थ उपस्थित हो गये जो अपने-अपने स्तर का अधिकार मागते थे। मध्यस्थों एव कृषको में भी कई प्रकार थे, जो स्थान-स्थान पर अलग थे। ये सारे वर्ग मध्यकालीन यूरोप की तरह सुव्यवस्थित भी नही थे। इस प्रकार सामंतों के उत्तराधिकार क्रम से भूमि पर अधिकार बहुत जटिल होता जा रहा था।

इस प्रकार की परिस्थितियो मे, शास्त्रकारो द्वारा निर्मित सिद्धान्त, (भूमि पर स्वामित्व का) नही काम कर रहा था, यह अधिकार क्षेत्रगत एव साम्राज्यगत परिस्थितियो से निर्धारित हो रहा था। अंतिम रूप से भूमि पर किसका स्वामित्व होगा, इन परिस्थितियों में इस प्रश्न का उत्तर नही दिया जा सकता था। इस कारण पूर्वमध्यकालीन लेखको ने भूमि के ऊपर गुणात्मक अधिकार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, पूर्वमध्यकालीन न्यायविदो ने सम्पत्ति के स्वत्व को गुणात्मक आधार पर समझाया-जैसे राजा का स्वत्व, जमींदार का स्वत्व, कृषक का स्वत्व, शहीदों का स्वत्व इस प्रकार ये सभी अपने-अपने सीमा अधिकार मे भूमि के स्वामी कहलाते थे। विभिन्न वर्गों की उपस्थिति से, जो भूमि पर विभिन्न स्तर के अधिकार रखते थे, जो परिस्थितिया बन रही थी, उसमें पूर्व मध्यकाल में कुछ निश्चित सी प्रवृत्तिया दिखाई पड रही थी। उनमें से एक भूस्वामित्व पर अधिकार के लिए उभरता हुआ शासक वर्ग था।

यह प्रवृत्ति एक सीमा तक गुप्त काल मे देखी जा सकती है। कात्यायन के दो उद्धरणो से, जो उस समय के कानून विद थे, लक्ष्मीधर के राज्यधर्मखण्ड[9] और मित्रमिश्र[10] की व्याख्या से बाद मे के0पी0 जायसवाल[11] ने भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जबकि घोषाल[12] ने भूमि पर राजा के स्वामित्व का समर्थन किया और काणे[13] ने विचार प्रकट किया कि सामान्यतौर पर व्यवहारिक रूप से जो व्यक्ति या समूह भूमि पर खेती इत्यादि करता है, उसपर उसका अधिकार होता है और उसे ही कर इत्यादि देने पडते है लेकिन कर भुगतान न करने पर राज्य को उस भूमि क्षेत्र को बेचने का अधिकार रहता है। इस प्रकार वास्तव मे ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि पर न तो पूरा-पूरा व्यक्तिगत अधिकार होता था और न ही राजा का सम्पूर्ण स्वामित्व होता था। इस तरह भूमि के उत्पाद मे राजा का अश, जैसा कि प्राचीन काल मे माना जाता था कि राजा उसकी सुरक्षा के बदले में लेता है अब वह उत्पाद अश इसलिए लेता था क्योकि भूमि पर अंतिम रूप से उसका स्वत्व होता है। नारदस्मृति[14] पर टीका करते हुए असहाय 'नरेन्द्रधन' शब्द को स्पष्ट करते हुए, भूमि पर राजा का स्वामित्व स्वीकार करते है, जिसपर कृषि करने वाले कृषक का थोडा सा अधिकार है। इस विचार धारा के विकास में अर्थशास्त्र के टीकाकार भट्टस्वामिन के विचार से बल मिलता है। भट्टस्वामी[15] कहते है कि भूमि और जल दोनो पर राजा का स्वामित्व होता था। इन दोनों को छोडकर लोग अन्य किसी भी वस्तु पर अपना स्वामित्व प्रदर्शित कर सकते थे। इससे स्पष्ट है कि भूमि दो प्रकार की थी एक राजकीय दूसरी मालगुजारी प्रदान करने वाली भूमि। मनु ने भी भूमि पर राजा के अधिकार को स्वीकार किया है। उनका मत है कि, "पृथ्वी मे गडे धन (विभिन्न धातुए) का आधा भाग राजा प्राप्त करे, क्योकि वह पृथ्वी का स्वामी है[16]। मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि[17] ने भी राजा के भूमिस्वत्व को स्वीकार किया है। मिताक्षरा[18] में भी स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि भूमि अनुदान के साथ सम्पत्ति अधिकार भी स्थानान्तरित हो जाता है। जिससे स्पष्ट है कि सम्पत्ति अधिकार भी व्यक्तिगत नही था, भूमिदान किये जाने पर वह भी साथ में स्थानान्तरित हो जाता था।

नारदस्मृति[19] का उद्धरण व्यवहार खण्ड मे उद्धत है कि राजा को यह अधिकार है कि वह तीन पीढियो से रह रहे व्यक्ति की भूमि व मकान उससे छीन सकता है जबकि एक अन्य स्थल पर नैतिक रूप से इस कृत्य को करने से मना किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ प्रदेशो मे शासको ने भूमि के स्वामी के रूप मे और साथ-साथ सुरक्षा करने के बदले में उत्पाद का छठवा हिस्सा लेना स्वीकार कर लिया था। अलबरूनी[21] के कथन से भी यही स्पष्ट होता है, कि वह बताता है कि, "अपनी फसल एव पशुओं से जो कुछ भी वो प्राप्त करते है वह साम्राज्य के शासक को भूमि एव चारागाही भूमि का शासक होने के कारण पहले कर देते है फिर उसकी सम्पत्ति एव परिवार की सुरक्षा के बदले मे अपनी आय का छठवां भाग कर के रूप में देते है।

बारहवी सदी के लेखक सोमेश्वर ने अपनी कृति मानसोल्लास[22] मे भी मनु के विचारो का समर्थन करते हुए राजा का भूमिस्वामित्व स्वीकार किया है। भूमि पर राजा के स्वामित्व को कात्यायन[23] ने भी स्वीकार किया है, जिसका उद्धरण मित्र मिश्र ने अपने ग्रथ राजनीतिप्रकाश में और लक्ष्मीधर ने अपने कृत्यकल्पतरू मे गृहीत किया है। वस्तुत· समय के साथ-साथ राजा का भूमि का अधिकार बढता ही गया था, देश के समस्त भू-भाग का वही एकमात्र स्वामी माना जाता था। कल्हणकृत[26] राजतरंगिणी से भी राजा के स्वामित्व का अनुमोदन होता है। उसने लिखा है, "समस्त वसुन्धरा को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझने वाले नरेशो का शासक होते हुए भी अतिशय सौम्य प्रकृति-युक्त प्रवरसेन ने पूरे तीस वर्ष तक पृथ्वी पर निष्कटक राज्य किया।

व्यवहारिक रूप से भूमि के ऊपर राजा का स्वामित्व काफी जटिल हो रहा था क्योकि इस समय की परिस्थितियॉ परिवर्तित हो रही थी, सामतवाद अपने चरम पर पहुॅच चुका था और अभिलेखीय प्रमाणो से पता चलता है कि ये सामंत भी भूमि अनुदान दिया करते थे। उपमितिभवप्रपंचकथा[28A] की कुछ पंक्तियो से पता चलता है कि भूमि का स्वामित्व सर्वोच्च शासक के साथ-साथ भूमि के शासक के हाथ में चला गया था। मिताक्षरा[28B] में भी बताया गया है कि भूमि या कर अनुदान देने का अधिकार केवल भूपति (राजा) को है न कि भोगपति। लेकिन

'भोगपति' शब्द से तात्पर्य है कि क्षेत्र के अधिकार का जो आनन्द उठाता है, न कि सामत, इस प्रकार राजा स्वय सामत के वशानुक्रम का निर्माण करता है इसको इस प्रकार समझा जा सकता है। 11वी सदी के एक भूमि अनुदान[29] जो गग वश के सामत राणक अम्मा का है, से पता चलता है कि वह 84 गावो का प्रधान है और उसका स्वामी (शासक) यशोवर्मन, भोज परमार का अधीनस्थ है, जिसे सेलुका प्रान्त का आधा हिस्सा और 1500 गाव उपभोग के लिए प्राप्त हुए। अभिलेखीय प्रमाणो से पता चलता है कि समय-समय पर ये सामत, जो कई स्तरो मे व्यवस्था मे उपस्थित थे, शक्ति एकत्र करके स्वतन्त्र हो जाते थे, इसके कई कारण थे (1)इनके साथ स्थानीय जनता का सहयोग रहता था। (2) उत्तराधिकार परम्परा के कारण ये भूमि से गहरे से जुड जाते थे। (3) साम्राज्य विस्तार की शक्ति प्राप्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति।

इसी समय साथ-साथ कुछ ऐसे भी साक्ष्य मिलते है जिनमे भूमि पर व्यक्तिगत स्वत्व की पुष्टि होती है। एक स्थल पर मनु[30] द्वारा व्यक्त किये गये विचार से प्रतीत होता है कि वह भी कुछ अंशों में व्यक्तिगत स्वामित्व के समर्थक थे। वह लिखते है कि, "पुराविद् लोग इस पृथ्वी को पृथु की भार्या मानते है। खुत्थ (ठूठ पेड) काटकर (भूमि को समतल करके) खेत बनाने वाले का खेत मानते है और पहले बाण मरने वाले का मृग।" मनु के एक श्लोक पर भाष्य करते हुए मेधातिथि[31] ने व्यक्तिगत भूस्वामित्व का समर्थन किया है। देशोपदेश[32] में उल्लिखित है कि एक कृर्पण के पास पत्नी, द्रव्य, गृह और भूमि सम्पत्ति के रूप मे थी, जिसे दूसरे उपयोग करते थे। वशानुगत भूमि-सम्पत्ति का उल्लेख सुभाषितरत्नकोश[33] मे भी है। राजतंरगिणी[34] में ऐसा उदाहारण मिलता है जिसमे एक व्यक्ति को एक सहृदय राजा भूमि के टुकडे की क्षतिपूर्ति मे धन देता है। किन्तु यह परिस्थिति क्षेत्र-क्षेत्र मे परिवर्तित थी।

व्यक्तिगत भूस्वामित्व के सिद्धान्त में मुख्य रूप से यह तथ्य निहित था कि भूमि पर व्यक्ति विशेष का अधिकार माना जाए न कि सामंतो का जिनके अधिकार क्षेत्र में भूमि सम्मिलित मानी जाती थी। इस बढती हुई प्रवृत्ति के बारे में द्वयाश्रय के टीकाकार अभ्यतिलकगानी, नीलकण्ठ के व्यवहारमयूख, श्रीनाथतारकालंकार की दायभाग पर टीका से भी पता चलता है कि भौमिक (भूमि के स्वामी) भूमि का वास्तविक

अधिकारी है, और राजा सम्पत्ति के शांतिपूर्वक उपभोग की सुरक्षा के बदले मे कर लेने का अधिकार रखता है।[35]

इस तरह के कृषको के भी कई वर्गों का पता चलता है। मध्यम कृषक शक्ति एकत्र करके धनी सम्पत्तिधारी कृषक बन गये थे जबकि निम्न या कमजोर कृषक कर की अधिकता से और निर्धन होते जा रहे थे। जिनसेन के आदिपुराण[36] मे ऐसे गावों को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। राजतरंगिणी मे भी ऐसे उद्धरण मिलते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामतो के वशक्रम की उपस्थिति से भूमिधारी सत्ताधारी शासक वर्ग से सामान्य कृषक के भूमि अधिकार प्रभावित हो रहे थे।

पूर्वमध्यकाल मे भूमि का स्वामित्व पूर्णतया किसके पक्ष मे था, यह स्पष्टरूप से कहना संभव नहीं है। यू0एन0 घोषाल[38] का कहना है कि मेधातिथि सम्पत्ति के बारे मे परस्पर दो विरोधी विचार रखते है। एक स्थान[39] पर वह राजा को भूमि का प्रभु कहते है जबकि दूसरी जगह[40] कहते हैं कि भूमि उसकी होती है जो इसे साफ करके कृषि योग्य बनाता है। आर0सी0पी0 सिह भी यह मत रखते है कि मेधातिथि (मनु0 8 39,99) के विचारों मे विरोध दिखता है। प्रथम कथन के अनुसार राजकीय विचार दिखता है जबकि दूसरा भूमि पर सम्मिलित अधिकार प्रस्तुत करता है। किन्तु साथ ही सिह यह भी कहते है कि यदि मेधातिथि के मस्तिष्क मे सम्मिलित अधिकार की बात होती तो इसे स्पष्ट रूप से व्यक्त करते। मुख्यत. मेधातिथि व्यवहारिक रूप से भूमि राजा के स्वामित्व को स्वीकार करते है।

लल्लन जी गोपाल[41] का मत है कि मेधातिथि स्पष्ट रूप से भूमि पर व्यक्ति विशेष के अधिकार का समर्थन करते है यह अनेक उद्धरणों से स्पष्ट होता है जिनमें भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार दान मे देता है। इनमे से कुछ पर वह स्पष्ट रूप से भूमि या क्षेत्र को खेती योग्य भूमि बताते है। (धान्यम् भवन् भूमि)।

मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[42] (8 39) के विचार भूमि के स्वामित्व के प्रश्न का निश्चित उत्तर नहीं है। साधारण तथ्य के लिए यह आवश्यक है इसमे केवल पृथ्वी मे गडे हुए धन पर राजा का हिस्सा मांगने को न्यायोचित ठहराने की बहस की मात्र द्वितीय पंक्ति है

कि राजा जो सुरक्षा प्रदान करता है उसके बदले मे अपना हिस्सा मागता है। जब मेधातिथि राजा को प्रभु एव भूमि को उससे सबधित मानते है तब उनका तात्पर्य राज्य की खेती योग्य भूमि पर अपना अधिकार जताना कदापि नही है। यह केवल राजा की सम्प्रभुत्ता दिखाता है जो राज्य की सभी चीजों पर होती है जैसे भूमि, खेती योग्य भूमि, चारागाह इत्यादि ।

मनुस्मृति 8[43] 99, जहॉ पर भूस्वामित्व के प्रश्न पर विचार प्रकट किया गया है वहॉ मेधातिथि व्यक्तिगत भूस्वामित्व स्वीकार करते है। जबकि आर0सी0पी0 सिह उन्हीं टीकाओ से निष्कर्ष निकालते है कि मेधातिथि व्यक्तिगत स्वामित्व को अस्वीकार करते हुए सामूहिक सम्पत्ति का विचार स्थापित करते है।

निष्कर्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि पूर्व मध्यकाल में भूस्वामित्व का प्रश्न काफी जटिल था, जिसका स्पष्ट उत्तर संभव नही है फिर भी ज्यादातर विचारको का मत है कि इस काल में भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व तो था ही किन्तु सामत या जमींदार भौमिक को उसकी भूमि सहित दूसरे को अनुदान मे दे सकता था, इन सबसे ऊपर सर्वोच्च शासक की सम्प्रभुता थी जिसका सबके ऊपर सर्वोच्च अधिकार था।

कृषि

उपलब्ध साहित्यिक एंव अभिलेखीय साक्ष्यो से पता चलता है कि इस काल मे भी कृषि ही लोगों का मुख्य पेशा था जिसे वह भैस एव बैलो की सहायता से करते थे। इस काल मे लोग हल एंव कुदाल के साथ कठोर मेहनत करते थे[44]। लेकिन कृषि का सारा उत्पाद वर्षा पर निर्भर था[45]। गगा एंव ब्रह्मपुत्र का दोआब सबसे अधिक उपजाऊ क्षेत्र माना जाता था[46] कुछ बजर भूमि भी थी। अल इद्रीसी बताता है कि 'देवल की भूमि उपजाऊ नही थी, यहॉ पर केवल खजूर के पेड के अतिरिक्त कुछ भी नही उगता था। जो ऊँची भूमि थी वह शुष्क थी और समतल अनुपजाऊ थी[47] कुछ भूमि का नाम अपकृष्ट भूमि[48] (कमतर भूमि) एव अवस्कर[49] था। इन भूमियो पर कृषि नही होती थी।

प्राचीनकाल से ही मौसम की परिस्थितियॉ एंव उत्पादकता के अनुसार भूमि का वर्गीकरण किया गया था[50]। एक चंदेल अनुदानपत्र[51] से पता चलता है कि इस काल मे भूमि नापी जा सकती थी[52], एव उसकी

बाह्य रेखा सुनिश्चित की जाती थी, इसके साथ ही साथ भूमि की बीज क्षमता का भी आकलन किया जाता था।

प्राचीनकाल से ही भारतवासी कृषि के क्रमवार[53] उगाने से परिचित थे इसकाल मे भी इस तथ्य से सम्बन्धित साक्ष्य मिलते है[54] अर्थशास्त्र[55], बृहत्संहिता[56], अग्निपुराण[57], सारगधारा की उपवन विनोद[58] से इससे खाद के ज्ञान के बारे मे साक्ष्य मिलते है। पराशर के कृषिसंग्रह मे कृषि के औजारो के बारे मे विस्तृत उल्लेख मिलता है[59] किन्तु इस पुस्तक के काल के बारे मे कोई स्पष्ट साक्ष्य नही मिलता। प्राचीन बगाली साहित्य मे[60] मे हल, आरी, फावडे, कुदाल, लकडी, सूप इत्यादि सामान्य कृषि के औजारो का उल्लेख मिलता है जिन्हे गाव के लुहार एव बढई निर्मित करते थे। हेमचन्द्र के द्वयाश्रय की एक पक्ति मे लोहे के हल का उल्लेख मिलता है[61]। पूर्वमध्यकाल के कुछ साक्ष्यो मे हल मे दो से अधिक बैल जोतेने का सकेत मिलता है[62]। किन्तु कहॉ तक यह मध्यकालीन यूरोप[63] की तरह जुताई के लिए भारी हल का प्रयोग करते थे, या गहरी जुताई करना चाहते थे जिससे उत्पाद ज्यादा हो इससे सबंधित कोई साक्ष्य नही प्राप्त है। कृषि का यह पेशा इस काल के उन्नत लौह उद्योग[64] से कुछ सहायता पाता था या नही यह भी निश्चित रूप से कहना सभव नही है। कृषि का कार्य पीढी दर पीढी भारत मे चलता आ रहा था।

सिंचाई एंव सूखा

कृषि पूर्ण रूप से सिचाई पर निर्भर करती है। राजा से यह आशा रखी जाती थी कि वह उपजयोग्य भूमि के लिए नहरो एंव तालाबो का उत्खनन करवाये, जिससे कि उत्पादकता मे वृद्धि हो। अपराजितपृच्छा[65] मे सिचाई के पारम्पारिक साधनों जैसे नहर, नदी, कुएँ, नलकूप[66], अरहट्ट, तालाब एव नदियों के बाधों का उल्लेख मिलता है।राजस्थान एव गुजरात के कई अभिलेखो में अरघट्ट या अरहट्ट के संदर्भ मिलते है। राजतरंगिणी में एक इंजिनियर सूया का उल्लेख मिलता है जिसने सिचाई के उद्देश्य से नहरों का निर्माण किया था। कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मन ने भी सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान करने में रूचि दिखाई[70]। कश्मीर के नरेश हर्ष ने विशाल पम्पा झील बनवाई[71]। मेरूतुग उल्लेख करते है कि राजा कर्ण ने 'कर्णसागर' नामकी प्रसिद्ध झील बनवाई।[72] चदेल राजाओं ने भी कुएँ, तालाब एंव झील खुदवाकर सिंचाई की सुविधा प्रदान की।[73]

राजा यशोवर्मन ने एक टीले का निर्माण करवाकर नदी के बहाव को दूसरी तरफ करने का प्रयास किया था।[74] अभिलेखीय साक्ष्यो मे सिचाई के साधनो मे फारसी पहिए (अरहट्ट) एव चमडे की बाल्टी का उल्लेख किया गया है।[75] राजा एव सामत सिचाई के साधनो की सुविधा प्रदान करने मे रूचि रखते थे।[76] किन्तु इसके साथ ही व्यक्तिगत रूप से भी तालाब का निर्माण करवाया जाता था।[77] कई बार तो ऐसे उद्धरण मिले है कि कई व्यक्तियो के सहयोग से तालाब, कुएँ एव नहरों की खुदाई करवाई गई।[78]

अपराजित पृच्छा[79] मे दस प्रकार के कुओ का वर्णन मिलता है। कूपिका या छोटे कुए को दो भागो मे बांटा गया त्रिहस्त द्विहस्त। वापियो एव कुण्डो के चार प्रकार पाये जाते थे जबकि तालाब तीन प्रकार के थे। शुक्रनीतिसार[80] में भी तालाब, नहरो, कुओ एव नदियो का सदर्भ मिलता है। शुक्रनीतिसार से यह भी पता चलता है कि उपज योग्य भूमि का कर उसकी सिंचाई क्षमता पर भी निर्भर करता है।[81]

अकाल महामारी[82] को हमेशा भयानक तरीके से चित्रित किया गया है। संचार के साधनो के अभाव के कारण अकाल एंव सूखे की स्थिति और बिगड जाती थी जिससे लोगो को भीषण हानि एव परेशानी का सामना करना पडता था। अपराजितपृच्छा[83] मे अकाल के समय की कठिनाइयो का सजीव चित्रण प्राप्त होता है। इससे पता चलता है कि अकाल पीडित प्रदेशो मे धर्म नीचे गिर जाता है, राजा और उसके प्रजागण समाप्त हो जाते है। कभी-कभी राजा अकाल की कठिनाइयो को कम करने का प्रयत्न करते थे।[84] अपराजितपृच्छा[85] में दिया है कि राजा को सिचाई की सुविधाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए जिससे कि अकाल से बचा जा सके। पूर्वमध्यकाल के अपभ्रंश कवियो[86] ने सूखे को अपनी रचनाओं मे विशेष स्थान दिया है। वृहन्नारदीयपुराण[87] से पता चलता है कि कभी-कभी आकाल की स्थिति में सारी जनता किसी दूसरे स्थान के लिए पलायन कर देती थी।

उपज

उत्तरभारत की सामान्य फसलें व्रीहि (चावल) यव (जौ), गौधूम (गेहूँ), दाले जैसे-मूंग, मसूर, उडद, तिल, चामनक, प्रियंगु (केसर) कोद्रार, सालि, अधक, कुल्थक, कल्या, कागनी, सना एंव तेल

के बीज जैसे तिल, सरसो, धनिया, जीरा, कपास इत्यादि अपनी आजीविका के लिए उगाते थे।[88] सत्रह प्रकार के अन्नो का उल्लेख मेधातिथि ने किया है।[89]

चावल

प्राचीनकाल से ही चावल भारत की एक प्रमुख उपज थी। हमेचन्द्र के द्वयाश्रयकाव्य[90], देसीनाममाला[91] एव मानसोल्लास[92] मे विभिन्न प्रकार के उल्लेख मिलता है। सुनयापुराण[93] के अनुसार बंगाल मे पचास से अधिक किस्म के चावल उगाये जाते थे। राजतरगिणी[94] मे भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि यह कश्मीर की घाटी के लोगो का मुख्य खाद्य था। असम नरेश बलवर्मन के नवगाव कास्य अभिलेख[95] से पता चलता है कि असम क्षेत्र मे चावल का उत्पादन बहुतायत से होता था। मानसोल्लास[96] में बग के चावल की प्रशंसा की गई है। याज्ञवल्क्य के ऊपर टीका करते हुए अपरार्क[97] मगध को चावल के उत्पादन मे धनी देश के रूप मे चित्रित करते है। मुस्लिम यात्रियो के विवरण[98] से पता चलता है कि फामल, सिन्डन, सायमस एव कैम्बे मे भी चावल पैदा होता था।

गेहूँ, दाल एंव अन्य अनाज

अभिलेखीय साक्ष्यों से पता चलता है कि गेहूँ पंजाब एव मध्यप्रदेश में पैदा होने वाली दूसरी मुख्य फसल थी।[99] जो साधारणतया उत्तरभारत के सभी भागों मे पैदा होता था।[101] दालो के अर्न्तगत-मसूर, मटर आढक, कुल्था, मूंग, उडद, अरहर का उत्पादन किया जाता था।[101]

ईख एंव कपास के अतिरिक्त देश में अन्य व्यापारिक फसले भी थी[102]। गन्ने का उत्पादन यमुना एंव नर्मदा के मध्य के क्षेत्र पर किया जाता था।[103] राजशेखर उल्लेख करते है कि पुण्ड्र (उत्तरी बगाल) में गन्ने की पैदावार होती थी।[104] कश्मीर में भी गन्ना पैदा होता था।[105] इस काल के साहित्य मे एक ऐसे यन्त्र का उल्लेख मिलता है जिसमे गन्ने की पिसाई की जाती थी।[106] कपास बगाल और गुजरात में पैदा होता था।[107]

अन्य कृषि उत्पादो मे, जोकि विशषतौर पर बंगाल मे उगाये जाते थे उनमें कपूर, अगरू[108], घोषत्रशा (चदन की एक किस्म)[109] पान

एव सुपारी[110] फल जैसे आम, मधूक, नारियल, कटहल[111], अखरोट, अगूर, नीबू, इत्यादि थे।[112] उत्तर भारत मे मसाले जैसे हल्दी, अदरक, जीरा, कालीमिर्च, धनिया, हीग का उत्पादन होता था।[113]

त्रिषष्ठीशलाकापुरूषचरित[114] मे सत्रह प्रकार के अनाजो का उल्लेख है। अभिधानचिंतामणि[115] पर टीका करते हुए हेमचन्द्र ने 17 प्रकार[116] के धान्यो का उल्लेख किया जिनमे तिल एव जूट भी सम्मिलित है. (1) व्रीहि (चावल) (2)यव (जौ) (3) मसूर (4) गोधूम (गेहूँ) (5) मूंग (6) माष या उडद (7) तिल (8) चनक (9) ज्वार (10) प्रियंगु (11)कोद्रव (12) मयूष्ठक (मोठ) (13) सालि (चावल की एक किस्म) (14) आढक (15) कल्या (मटर) (16) कुल्था (चना) (17) सन (जूट)

उद्योग धन्धे

गुप्तकाल के पतन के बाद, सामतवाद के विकास के साथ ही साथ आर्थिक व्यवस्था मे कृषि का महत्व बढ गया, जिससे इस पर आश्रित शूद्र किसानो का महत्व काफी बढ गया था। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है[117] कि कैसे समकालीन कानून की पुस्तको एंव पुराणों मे जोकि पूर्वमध्यकाल के प्रारम्भिक चरण से सम्बद्ध थी, शूद्रो का मुख्य पेशा द्विजशुश्रुषा के साथ-साथ कृषि को भी स्वीकार किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट रूप से नही कहा जा सकता कि क्या शूद्र अपना कृषि का नियमित पेशा छोडकर कारीगरी के कार्य करते रहे होगे। किन्तु सामन्तो के बढते शासन में विभिन्न उपभोग की वस्तुओ की माग बढी और इस काल मे आतरिक एव बाह्य व्यापार कम हो रहा था।[118] जिससे छोटे उद्योग की वस्तुओ का बाजार सीमित होकर क्षेत्रीय हो गया। यद्यपि साक्ष्यो से साफ पता चलता है कि शूद्रो ने अपना कारीगरी का पेशा भी निरन्तर चला रखा था। कुछ शूद्र अपने आनुवंशिक पेशो को चला रहे थे,इनके द्वारा निर्मित वस्तुओं की गुणवत्ता अच्छी थी, किन्तु उत्पाद की मात्रा कम हो गई थी, क्योंकि इस समय की परिस्थिति में स्थानीय एंव क्षेत्रीय आवश्यकताओ की ही पूर्ति हो पा रही थी। स्कन्द पुराण[119] के साक्ष्य से पता चलता है कि यहॉ तक कि वैश्यों के वर्ग ने शिल्प एंव कला का कार्य अपना लिया था जैसे तेल निकालने का, चावल साफ करने का, जाकि केवल स्थानीय प्रयोगो के लिए ही थे। किन्तु ग्याहवी शती तक आते-आते स्थिति मे पुन: बदलाव आया। शूद्रों के द्वारा अपनाये गये कृषि

पेशे के साथ-साथ इसकाल मे शिल्प एव उद्योग धन्धो को पुन शूद्रो का पेशा माना गया। 11वी शती की भोज लिखित समरागणसूत्रधार[120] मे लिखा है कि द्विजशुश्रूषा, पशुओ को चराने के साथ-साथ शिल्प इत्यादि शूद्रो का कार्य है। लक्ष्मीधर ने अपने गृहस्थखण्ड[121] मे प्राचीन धर्मशास्त्रकारो जैसे मनु एव गौतम का उद्धरण देकर यह सिद्ध किया कि शूद्रो को शिल्प एव कारीगरी के कार्य भी करने चाहिए।

11वी एव 12वी शताब्दी तक आते-आते शिल्पो एंव उद्योग की स्थिति मे सुधार हुआ, उन्हे समाज की अर्थव्यवस्था में पुन. स्थान मिला, जिससे कि आन्तरिक एव बाह्य व्यापार मे भी उन्नति हुई, जोकि इस काल के सम्पन्न होते हुए शहरो से सिद्ध होता है इस काल के प्रमुख उद्योगो का विस्तृत विवरण महाराजा भोज के युक्तिकल्पतरू से प्राप्त होता है, जबकि धातु उद्योग के बारे मे विवरण रसारत्नसामुच्च से प्राप्त होता है जोकि 12वी शती के अत या 13वी शती मे लिखी गई है। जयदेव की कविता चर्यापद से तथा इसी प्रकार अन्य कविताओ से तत्कालीन उद्योगो के ऊपर प्रकाश पडता है। भुनेश्वर, पुरी, खजुराहों के मदिर एंव स्थापत्य कला को देखने से तत्कालीन उच्चस्तर की इजिनिरिग बुद्धिमत्ता का अदाजा लगाया जा सकता है। इस काल के प्रमुख उद्योग इस प्रकार से हैं।

वस्त्र उद्योग

भारत का वस्त्र उद्योग प्राचीनकाल से उन्नत स्थिति में रहा है। कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र[122] मे इसका उल्लेख मिलता है। 9वी शताब्दी का अरब व्यापारी सुलेमान बगाल के कपडे की गुणवत्ता की बहुत तारीफ करता है,"यह इतना उत्कृष्ट एव मुलायम है कि इस कपडे से बना वस्त्र उंगली में पहनने वाली अगूठी से पार हो जाये।[123] आगे वह कहता है कि यह सूती कपडे से बना था और उसने स्वयं उस कपडे का टुकडा देखा था।[124] 10वी शताब्दी मे इब्न खुर्दादबा भी बगाल के वस्त्र की उत्कृष्टता की प्रशसा करता है।[125] कल्हण की राजतरंगिणी में भी कश्मीर के राजा हर्ष के दरबार में दरबारियो को विविध रगो एव ढगो के कपडे में बताया गया है।[126] जिससे कि यहॉ भी इस काल के उन्नत वस्त्र उद्योग का आभास मिलता है 13वीं शती के यात्री मार्को पोलो ने भी वस्त्र उद्योग को उन्नत स्थिति में पाया और उसने बंगाल को सूती वस्त्र

उद्योग का केन्द्र बताया है।[127] 12वी शताब्दी मे भारत में वस्त्र उद्योग के केन्द्र मानसोल्लास[128] मे इस प्रकार उद्धत है - (1) मूलस्थान (मुल्तान) (2) अन्हिलवाड (अहिलपट्नम) (3) बग (बगाल) (4) पोद्दालपुर (पैठान) (5) चिरापल्ली (6) नागपट्टम (7) चोलदेस (8) तोडीदेश (9) पंचापट्टनम् (10) कलिंगदेश (11) अलिकाकुल (चिकाकोल)। विदेशी यात्रियों[129] के विवरण से भी पता चलता है कि वस्त्र उद्योग मे बगाल की स्थिति काफी अच्छी थी। मध्यभारत के एक अभिलेख[130] से पता चलता है कि बगाल का लाल रग जोकि एक पेड की जड से बनाया जाता था, यहाँ के बाजारो मे काफी प्रसिद्ध था। लेखपद्धति[131] के एक उद्धरण से पता चलता है कि योगिनीपुरा अपनी चुनरियो के लिए प्रसिद्ध था। सदेस रासक के रचयिता अब्दुल रहमान जोकि मूलस्थान या मुल्तान था, भी एक बुनकर था।[132]

धातु उद्योग

साहित्यिक एव पुरातात्विक साक्ष्यो से इस काल के विकसित लौह उद्योग का पता चलता है। रसारत्नसामुच्च[133] में लोहे का वर्गीकरण उनकी विशेषताओं के आधार पर इतनी बारीकी से किया गया है जिससे तत्कालीन समाज में लोहे की सूक्ष्म जानकारियो, स्टील एव विकसित धातु उद्योग के बारे मे पता चलता है।[134] 12वी शती की रर्सानिव[135] मे लोहे की भस्म बनाने की विधि दी है।

लम्बी बीम के निर्माण के पुरातात्विक साक्ष्यों से उच्च स्तर की तकनीक का पता चलता है। पुरी के गुडुचाबरी में 6X4 या 5X6 की 17 फीट लम्बी लगभग 239 बीम प्राप्त है।[136] कोर्णाक मंदिर के द्वार[137] मे 29 बीम लगी है जिसमे से सबसे बडी 35 फीट लम्बी है और 7X7½ इच आयताकार है जिसका वजन 6000 पौण्ड है।

युद्ध के औजार जैसे-तलवार, ढाल, सर पर पहनने के कवच इत्यादि बडे पैमाने पर बनाये जाते है। उत्बी अपनी तारीख-ए-यामीनी[138] मे बताता है कि आनन्दपाल के पुत्र ब्राह्मणपाल के सैनिक सफेद तलवार और नीले भाले और पीले कवच का प्रयोग करते थे। सफेद तलवार उत्कृष्ट प्रकार के स्टील से निर्मित होता था।[138A] जिसके हिलाने पर चमकदार सफेदी या रोशनी की चमक प्रकट होती थी। निजामी[139]

ग्वालियर के सैनिको की भारतीय तलवार का काव्यात्मक चित्र प्रस्तुत करता है।

सस्कृत साहित्य मे शस्त्र एव औजार बनाने का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है कुछ स्थानो एव क्षेत्रो जैसे बनारस, मगध, नेपाल, सौराष्ट्र और कलिग अच्छी तलवार के निर्माण मे विशेषज्ञता प्राप्त थी।[140]

13वी 14वी शताब्दी की सारगधारा[141] मे तलवार निर्माण के विशेष केन्द्रो का विवरण मिलता है जैसे खारीखट्टारा, रसी, वग, सूर्परक, विदेह, मध्यमार्गम, विदिशा, साहाग्राम और कालिजर। 11वी शताब्दी मे भोज[142] बताते है कि मगध की तलवार खराब थी और अग की हल्की, किन्तु गन्दी व खराब धार की थी।[143] सारगधारा के दिनो मे अग की तलवार अपनी ताकत धार और अच्छी हैडल के लिए प्रसिद्ध थी।[144]

युद्ध के अन्य औजारो जैसे तीर, धनुष, अर्द्धचन्द्रनारका, परसु इत्यादि का निर्माण लोहे से होता है।[145] लोहे के नटबोल्ट[146], लौह गलाने के लोहे के पात्र, पानी के बर्तन और अन्य विभिन्न प्रकार की वस्तुए लोहे से निर्मित होती है[147] बाग्भट्ट ने उत्कृष्ट एव टिकाऊ लोहे गलाने के पात्र बनाने की विस्तृत विधि दी है।[148]

स्वर्ण उद्योग

इस काल में स्वर्ण उद्योग भी विकसित अवस्था मे था। तबकाते-ए- नासिरी[149] से पता चलता है कि बंगाल के लक्ष्मणसेन के महल मे सोने और चादी के बर्तन थे। समाज मे स्वर्णकारी के पेशे को उच्च स्थान प्राप्त था। क्षेमेन्द्र ने अपने कलाविलास[150] के आठ खण्ड सुनारो के ऊपर व्यग करने में लगा दिये है, उनके अनुसार सुनार 64 कलाये जानते है 6 कला घिसने की, 12 घूमने की, 11 छल करने के नये तरीकों की, 5 तौलने की इत्यादि। तत्कालीन मंदिरो की मूर्तियो में उकेरे गहनों से पता चलता है कि काफी बारीकी से स्वर्णकारी का कार्य होता था। गुप्त एव गुप्तोत्तरकाल की कास्य एव अन्य मिश्रित धातुओ से निर्मित मूर्तियों से तत्कालीन समाज में तांबा एव कास्य उद्योग की विकसित अवस्था का पता चलता है।[151] मूर्ति बनाने वाले लोग रूप्यकार[152] और पीतल का कार्य करने वाले लोग पीतलकार[153] कहलाते थे। साहित्यिक साक्ष्यों जैसे- सन्ध्याकरनन्दी रामचरित्र[154], नैषधचरित[155] से गहनों की कला एंव कीमती (बहुमूल्य) पत्थरों के ऊपर प्रकाश पडता है। रसरत्नासामुच्च

का लेखक इस तथ्य को जानता था कि उत्कृष्ट स्तर का ताबा नेपाल से मगाया जाता था। पेरिप्लस[156] के काल 75 ई0 मे यह भडौच से निर्यात् किया जाता था जबकि मार्कोपोलो[157] के समय मे यह थाना के बदरगाह से आयात किया जाने लगा था।

चमडा उद्योग

मार्कोपोलो[158] आश्चर्य से गुजरात के चमडे के उद्योग के बारे मे बताता है कि जोकि 12 वी शताब्दी मे खूब फलफूल रहा था। विभिन्न प्रकार की खाले जैसे बकरी की खाल, भैस की खाल, जगली बैलो की खालो का प्रयोग होता था। इस काल मे लोग लाल एंव नीले रग के चमडे से दरियॉ बनाते थे जिनपर बहुत खूबसूरत पक्षी एव जानवरो के चित्र एव सोने एव चांदी के बारीक तार की कढाई होती थी। जिसको सारासेन मुस्लिम लोग सोने के लिए प्रयोग मे लाते थे। चमडे के जूते सबसे ज्यादा प्रचलित एव सामान्य जनता तक पहुॅचने वाले चमडे के उत्पाद थे।[159]

पत्थर एंव लकड़ी पर काम

मंदिर निर्माण[160] के कार्यकलाप से इस काल के पत्थर उद्योग के विकसित होने का आभास मिलता है। माउण्ट आबू के कुछ संगमरमर के मंदिरो को देखने से पता चलता है कि उस काल मे कितना उत्कृष्ट संगमरमर का कार्य होता था। विभिन्न प्रकार की काली ग्रेनाइट की मूर्तियां एंव अन्य पत्थर के कार्य दिखाई पडते है। अपराजितपृच्छा[161] एंव अन्य वास्तुकी के साक्ष्यों से पता चलता है कि इस प्रकार का कार्य करने वाले कारीगर प्रत्येक शहर मे बसते थे।

गुजरात में मकान के सामने के हिस्से की[162] सजावट बारीक लकडी की नक्काशी से की जाती थी। ढाका के सग्रहालय[163] मे रखी लकडी की मूर्तियो से उनके कारीगरो की गुणवत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। इन सब के अतिरिक्त रोजमर्रा के प्रयोग की वस्तुएं भी लकडी की बनाई जाती थी।

मृत्तिका उद्योग

कुम्भकारी एंव मिट्टी की मूर्तियॉ बनाना प्राचीनकाल से ही मृतिका उद्योग के अंग रहे है। नैषधचरित[164] में कुम्भकारी कला का संदर्भ

मिलता है। इस काल मे एक अभिलेख[165] मे कुम्भारो पर लगाये जाने वाले कर का उल्लेख मिलता है। अहिच्छत्र के उत्खनन[166] ने प्राचीनकाल से लेकर पूर्वमध्यकाल तक की मूर्तियाँ एव दैनिक प्रयोग के बर्तन प्राप्त है जैसे स्याही का पात्र, लैम्प, प्लेट, खाना पकाने के बर्तन, लोटा इत्यादि। ढाका के सग्रहालय में इस काल के मृत्तिका से बने पात्र एव मूर्तियाँ रखी हुई है।[167]

चीनी उद्योग

बगाल अपने गन्ने के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध था। मध्यभारत, कश्मीर और राजपूताना मे भी गन्ने की अच्छी फसल होती थी। बगाल और दक्षिणभारत मे चीनी का निर्माण किया जाता था। बगाल मे बहुत बडी मात्रा में चीनी का उत्पादन होता था। 16वी शती के पुर्तगाली यात्री बारबोसा[168] के अनुसार बगाल दक्षिण भारत से चीनी की अन्य क्षेत्रो जैसे लका अरब और फारस मे आपूर्ति के लिए होड कर रहा था।

रंगाई एंव छपाई

वैदिक काल से ही वस्त्रों की रंगाई एक फलता फूलता व्यापार था। विक्रमांकदेवचरित[169] से पता चलता है कि प्राथमिक रंग सफेद, लाल, पीला, नीला, हरा और काले थे। लाल और पीला रग विजय का प्रतीक था।[170] रंगाई में कौशुम्भ (केसर के फूल) से बहुत सुन्दर नारगी रग बनाया जाता था, जिसका प्रयोग सिल्क की रंगाई मे होता था। कुल्लूकभट्ट[171] के अनुसार लाल रग के लिए लाख, मजीठ और केसर से कुमकुम का प्रयोग किया जाता था। पीले रंग के लिए पलाश का प्रयोग किया जाता था।[172]

इस काल की मूर्तियो के कपडो पर फूल, पत्ती एंव अन्य नमूनों की छपाई देखने को मिलती है। साहित्यिक साक्ष्यो मे छपाई किये गये वस्त्र को 'चित्रवस्त्र' कहा गया है।[173]

नौका निर्माण

बंगाल एंव कश्मीर में नौका निर्माण का कार्य खूब उन्नति कर रहा था।[174] कल्हण ने कश्मीर की घाटी में नाव द्वारा यात्रा के प्रचलन का वर्णन किया है।[175] अलमसूदी बताता है कि लकडी के बडे-बडे

नाव को कीलो से जोडने के बजाये फाइबर से सिला जाता था।[176] भोज के युक्तिकल्पतरू से नौका निर्माण की आवश्यक सामग्री एव विभिन्न प्रकार की नावो की विशेषताओ के बारे मे जानकारी मिलती है।[177] समकालीन साहित्य से युद्ध मे नौका के महत्व के बारे मे पता चलता है। रामचरित्र की टीका, वैद्यादेव के कमौली लेख से पता चलता है कि पाल सेना द्वारा नदियो को पार करने एव नौसेना का उल्लेख मिलता है।[178] विजयसेन के विजय अभियान मे नौका का प्रयोग हुआ था।[179] ऐसा प्रतीत होता है कि 1026 A D मे सुल्तान महमूद जाटो को 1400 युद्ध पोतो के कारण ही हरा पाया था।[180]

राजगीर एंव वस्तुकार

पूर्वमध्यकाल के उत्तरभारत मे यत्रतत्र बिखरे हुए विभिन्न प्रकार के निर्माण के उदाहरणो जैसे मंदिर एव अन्य इमारत से इस काल मे वास्तुकारो एव राजगीरो का उच्चकोटि की प्रतिभा का पता चलता है।[181] अलइद्रीसी बताता है कि मनसुरा मे मकान का निर्माण ईट, टाइल से किया जाता था और उस पर प्लास्टर किया जाता था।[182] महापुराण से पता चलता है कि इस काल मे एक विशेषज्ञ राजगीर था जिसे सिलावतरत्न (इन्जिनियर) की उपाधि मिली थी, उसने बहुत सी सुन्दर इमारतों का निर्माण किया था।[183]

मदिरा उद्योग

इस काल मे भी मदिरा काफी प्रचलित एंव लोकप्रिय पेय था, जिससे इसका उद्योग भी खूब फलफूल रहा था। विभिन्न प्रकार की मदिरा बनाई जाती थी।[184] शराब मुख्यत: अनाजो, मधूक पुष्प, ब्रेड फल, अगूर, खजूर गन्ने, शहद एव नारियल से बनाई जाती है।[185] मेधातिथि भी ऐसा ही उल्लेख करते है।[186]

कांच उद्योग

भारत में कांच का प्रयोग शुश्रुत के काल के इतना पुराना है जिन्होने कहा था कि तरल एंव मदिरा को कांच के पात्र में परोसना चाहिए। 12वीं-13वी शताब्दी के साहित्य में कांच के कई संदर्भ मिलते है जैसे रसार्नव में काच कूपी अर्थात् काच की बोतल का उल्लेख है 13वी शताब्दी की यशोधर की रसप्रकाशसुधाकर[187] एंव नित्यनाथ सिद्ध की

रसारत्नकार[188] मे विभिन्न प्रकार के कांच के पात्रो का उल्लेख मिलता है। रसारत्नसामुच्च[189] मे भी काच के बर्तन का वालूकयान्त्रम[190] कहा गया है।

अन्य उद्योग, कला एंव शिल्प

हाथी दांत का कार्य:

अपराजित पृच्छा[191] मे इसे एक उद्योग के रूप मे वर्णित किया गया है। बगाल के कुछ अभिलेखो मे नमक उद्योग का उल्लेख मिलता है। गहडवाल, चदेल एव त्रिपुरी के कलचुरि के अभिलेखों मे नमक के अर्थात लवणकारो का सदर्भ मिलता है। क्षेमेन्द्र के समयमातृक में नमक उद्योग के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि नमक उद्योग उत्तरी नमक की पहाडियो मे फलफूल रहा था।[192]

अन्य शिल्प जैसे फूलो की माला बनाने वाले, रंगाई करने वाले, तैलिक, धोबी, नाई, मछुवारे इत्यादि का उल्लेख इस काल के साहित्य मे मिलता है।[193]

श्रेणी:

प्राचीन काल में शिल्प एव वाणिज्यिक सगठनो की एक मुख्य विशेषता थी कि यह व्यवसायिक वर्गीकरण पर आधारित थे जिनका निर्माण सहकारी समूहों जैसे श्रेणी या गिल्ड से हुआ था। श्रेणी सघो के निर्माण का इतिहास गुप्तकाल से प्रारम्भ होता है और यह पूर्वमध्यकाल तक यथावत चलता रहा।

मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि बताते है कि औद्योगिक एव व्यापारिक श्रेणिया पृथक-पृथक थी जिन्हे क्रमश: श्रेणी और गण या सघ कहा जाता था। वह इन दोनो में अन्तर बताते हुए कहते है कि श्रेणी के सदस्द व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र होकर कार्यकर सकते थे जबकि गण के सदस्य सामूहिक रूप से[194]। वह आगे बताता है कि श्रेणी विभिन्न प्रकार के सामान्य कार्य करने वालो का समूह था जैसे कारीगर, व्यापारी, महाजन इत्यादि।[195] इस काल के साहित्यिक एंव अभिलेखीय प्रमाणों में विभिन्न श्रेणियों का उल्लेख मिलता है जैसे-तैलिक, तमौलिक (पान बेचने वाला) कत्लापल (शराब बेचने वाला), मालिक (माला बनाने वाले), महामात्र (हाथी हांकने वाले) पत्थर काटने वाले,

कुम्हार, घोडे के व्यापारी, बुनकर, जूते बनाने वाले, एव विभिन्न व्यापारियों के सगठन[197]। मेधातिथि बताते है कि विभिन्न प्रकार के व्यापारियों का सगठन 'सघ' कहलाता था वह परिभाषित करते हुए कहता है कि विभिन्न धर्म एंव जाति से सम्बद्ध लोगो का समूह जो समान धन्धा करते है[198]। सघ के समान ही श्रेणी के सदस्य भी विभिन्न जातियो एव समुदाय के हो सकते है किन्तु इनका पेशा आनुवंशिक होता था।[199] याज्ञवल्क्य की व्याख्या करते हुए विज्ञानेश्वर[200] विशेष तौर पर बुनकरों, जूते बनाने वालो, पान वालों की श्रेणी को विभिन्न शिल्पो जैसे बुनकर इत्यादि से सम्बद्ध बताते है[201]। अलबरूनी बताता है कि आठ वर्ग के लोग श्रेणी का निर्माण करते थे इनके नाम इस प्रकार है-मालाकार, मोची, मदारी, टोकरी बनाने वाले, नौका चलाने वाले, मछुआरे, जगली जानवर एव पक्षियो के शिकारी, बुनकर[202]। इस काल के साहित्य मे तेल निकालने वाले तैलिक[203] एंव मालियों[204] की श्रेणी का उल्लेख मिलता है।

लक्ष्मीधर[205], अपरार्क[206] एव देवण्णभट्ट[207] वृहस्पति के एक अनुच्छेद को उद्धत करते हुए कहते है कि श्रेणीगण एक गांव के समूह कुछ निश्चित नियम बनाते है। जिनका समूह के सभी सदस्यों को पालन करना पडता था। इस काल के कानूनविद् याज्ञवल्क्य एंव नारद का कहना है कि यह राजा का कर्त्तव्य है कि वह श्रेणी, पूग, नैगम इत्यादि के नियमो को टूटने से बचाये।[208] इससे स्पष्ट है कि श्रेणियो के पास अपने व्यवसाय से सम्बन्धित कानून बनाने के कुछ अधिकार थे। उनके पास कुछ न्यायिक शक्तियॉ भी थी। अपरार्क वृहस्पति का उद्धरण देते हुए कहते है कि श्रेणी का प्रमुख अपराध करने वाली की अवहेलना कर सकता था एंव उससे बोलचाल बद कर सकता था।[209] शुक्रनीतिसार मे भी लिखा है कि चोरी एंव लूटमार के अपराधों में दण्ड केवल राजा दे सकता था न कि श्रेणी।[210]

श्रेणियों का संगठन:

श्रेणियो की कार्यविधि को नियमित करने के लिए कुछ निश्चित नियम एव कानून होते थे। दो, तीन या पाँच सहायक अधिकारियो का एक बोर्ड नियुक्त किया जाता था, जोकि श्रेणी के कार्य एंव गतिविधियो का निरीक्षण करता था।[211] इन प्रमुखों को श्रेणी की आय

को स्वीकार करने का अधिकार था।[212] मेधातिथि के अनुसार वास्तुकारो, राजगीरो, बढईयो इत्यादि एव जो मिलकर सघ मे कार्य करते है उनकी मजदूरी को इस प्रकार बाटा जाता था कि जिसने ज्यादा मेहनत का कार्य एव कठिन कार्य किया है उसे ज्यादा हिस्सा मिलना चाहिए। जिसने सरल कार्य किया उसे कम[213] श्रेणियो का अपना स्वरूप काफी बाद तक बना रहा।[214]

राजस्व व्यवस्था:

पूर्वमध्यकाल के साहित्य एव अभिलेखो मे कर के लिए विभिन्न प्रकार के शब्दो का प्रयोग मिलता है। 12वी शती के लगभग उत्तर भारत के अभिलेखो मे कर के लिए भागभोगकर, हिरण्य, दसापराध शब्द का उल्लेख मिलता है।

भागभोगकर शब्द का उल्लेख पाल, सेन, चदेल, गहडवाल, परमार, चालुक्य इत्यादि समकालीन राजवशों मे मिलता है, जिसको साधारण तौर पर उपज मे राजा के अश[215] के रूप में समझा जा सकता है, या फिर भाग, भोग और कर तीन अलग-अलग करो[216] के रूप मे लिया जाता है। आधुनिक इतिहासकारो मे भी 'भागभोगकर' शब्द के अर्थ को लेकर मतभेद हैं। कीलहार्न[217] इसका अनुवाद उत्पाद के अंश के रूप मे करते है। यू0एन0 घोषाल[218] भी इसका केवल एक पक्ष देखते है और इसे उपज में राजा के अश के रूप में देखते है जिसे कि अर्थशास्त्र मे भाग एंव स्मृतियो में बलि कहा गया है। फ्लीट[219] इसे करो के आनन्द के रूप में देखते हैं अल्तेकर[220] इसे भागकर एव भोगकर मे विभाजित कर देते है, जिसमे भागकर, भूमिकर था, भोगकर जिसे स्थानीय अधिकारी वस्तुओ के रूप मे नित्य प्रतिदिन लेते थे।

बहुधा भोगभागकर के लिए भागभोग कर शब्द का भी प्रयोग किया जाता रहा है। कुछ अभिलेखों में किसानो को भोगभागकर कर ग्रहणकर्ता को देने को कहा गया है, जबकि भूमिअनुदान में गांवों को भागभोग के अधिकार सहित बताया गया है।[221] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्व जो वस्तुओ के रूप में होता था, उसके लिए भागभोग शब्द का प्रयोग किया जाता है। कुछ अभिलेखों मे भागभोग उस राशि के लिए प्रयुक्त किया गया है जो ग्रामीण ग्रहणकर्ता को देता है।[222]

भागकर

साधारणतया इतिहासकार इसे उपज मे राजा के हिस्से के रूप मे स्वीकार करते है[223] जोकि क्षेत्र विशेष मे भूमि की प्रकृति एव उत्पादन क्षमता के अनुसार भिन्न भिन्न हो सकता है। अर्थशास्त्र का उद्धरण देते हुए क्षीरस्वामिन[224] भी इससे सहमत है कि भाग सभवत. कुल उपज का छठा अश होता है, जो राजा को देना होता है। भट्टस्वामिन[225] ने राज्यभाग के साधारण अर्थ मे सदभाग का प्रयोग किया है।

भोगकर·

आर0एस0 त्रिपाठी[226] भोग, भूस्वामी के उस अधिकार को कहते है, जो खेती के बाद खाली पडे खेतो से उत्पन्न हो जैसे लकडी या घास। आर0के0 दीक्षित[227] और ए0के0 मजूमदार[228] भोग शब्द को अष्ठभोग, जोकि साहित्य में उल्लिखित है; से लेते है। दक्षिण भारतीय अभिलेखों[228A] मे भूमि अनुदान और गांव का अष्ठभोग को साथ मे उल्लेख है, जिसमे आठ सुविधाओ का उल्लेख प्राप्त होता है, जोकि अग्रलिखित है- (1) निधि- गडा हुआ धन (2) निक्षेप-भूमि के नीचे गडा धन (3) जल-जलस्त्रोत (4) पाषण पत्थर, खान (5) अक्सीनी (वास्वतिक सुविधा या वर्तमान लाभ) (6) अगम (भविष्य का लाभ) (7) सिद्ध या सिद्धय खेती योग्य भूमि, (8) साध्य (बिकार भूमि, जो भविष्य मे खेती योग्य हो सकती है। ब्यूहलर के अनुसार, भोग, "फल, जलाने योग्य लकडी, फूल और गाववासी जो कुछ राजा को देना चाहे'' शब्द को परिभाषित करता हैं। भोग की यह परिभाषा मनुस्मृति[229] एव उसके टीकाकारो मेधातिथि[230] व कुल्लूकभट्ट[231] से सहमति रखती है।

कर:

भोज के समरागणसूत्रधार[232], सोमेश्वर के मानसोल्लास[233] एव कुछ धर्मशास्त्र की टीकाओं में कर को सर्वव्यापक रूप से कर के लिए प्रयुक्त किया गया है। लक्ष्मीधर के गृहस्थखण्ड[234] मे कर शब्द का प्रयोग, कारीगरों एंव कृषको द्वारा, राजा को प्राप्त उपज का अंश जो नकद रूप से प्राप्त होता है के लिए किया गया है चदेल राजा परमर्दिदेव के एक अभिलेख[235] में इसे अन्य करो के साथ राजा के निश्चित अंश के रूप मे बताया है। हेमचन्द्र के द्वयाश्रयकाव्य[236] के टीकाकार अभ्यतिलकगनी ने कर

को भूमिकर के रूप मे उल्लिखित किया है। गुप्त काल मे सामतो द्वारा लगाये जाने वाले सामान्य करो को 'कर' के रूप मे जाना जाता था।

किन्तु सभी इतिहासकारो ने एक मूलभूत त्रुटि दोहरायी है, किसी ने भी इसे क्षेत्रीय वैभिन्य की दृष्टि से नही देखा और हमेशा एक सर्वव्यापी अर्थ को खोजने का प्रयत्न करते रहे। यह सभव है कि राज्य या क्षेत्र या समय के अनुसार ये बदल गये हो। इस सबध मे मुनुस्मृति के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[237] के वक्तव्य महत्पूर्ण है जिसमे वह कहते है कि विभिन्न देशो मे विभिन्न राजकीय देनदारियॉ विभिन्न नामो से जानी जाती है।

आर0के0 दीक्षित[238] कर का अर्थ स्थानीय करो से लगाते है, किन्तु यह किसी साक्ष्य से प्रमाणित नही है।

शामशास्त्री[239], अर्थशास्त्र मे कर का अनुवाद एक स्थान पर राजा एव अन्य द्वारा दिया गया कर या कर अनुदान के रूप मे करते है। यह तथ्य साहित्यिक साक्ष्यो एव अभिलेखो से प्रमाणित है कि 'कर' राजा एव अन्य द्वारा अपने स्वामी को दिया गया कर है। राजतरंगिणी[240] मे भी इसका उद्धरण प्राप्त होता है।

किन्तु यह अर्थ भी भूमि अनुदानो के साथ सही नहीं बैठता है क्योंकि इसमें ग्रामवासी ग्रहणकर्त्ता को कर देते हैं। इस काल के साहित्य में कर, बलि, भाग को भूमिकर[241] के लिए प्रयोग किया गया है। इस काल की टीकाओ मे 'कर' शब्द का प्रयोग वार्षिक भूमिकर या पाक्षिक कर, जोकि कृषिभूमि पर लगाया जाता है, और राजा के सामान्य उत्पाद अश जोकि नकद रूप मे निश्चित किया जाए, कभी-कभी जैसे सम्पत्ति कर, ज्यादातर दशाओं मे यह गॉवो से सबंधित होता है। मेधातिथि[242] इसे किसी वस्तु के शुल्क के रूप में लेते है (द्रव्यदानम) लेकिन कुल्लूकभट्ट[243] इसे गाववासियो एंव कस्बेवासियों द्वारा दिये गये कर के रूप में बताते हैं जिसे चाहे प्रतिमाह या भाद्र पक्ष में या पौष पक्ष में दे सकते हैं। अर्थशास्त्र पर टीका करते हुए भट्टस्वामिन 'कर' शब्द की परिभाषा वार्षिक कर के रूप में करते है जिसे भाद्रपद या बसत या अपनी पसंद से चुकाते है, अर्थशास्त्र का उद्धरण देते हुए क्षीर स्वामी[244] इसकी व्याख्या सभी चल एंव अचल सम्पत्ति पर लगाये गये शुल्क के रूप में करते है। कल्पसूत्र पर टीका करते हुए हरिभद्रसूरि[245] इसकी व्याख्या

सम्पत्ति कर के रूप मे करते है कि यह राशि प्रत्येक गाय आदि पर प्रति वर्ष राजा को दी जानी चाहिए।

इतनी परिभाषाओ के बाद यह स्पष्ट है कि 'कर' को केवल भूमिकर के रूप मे नही परिभाषित किया जा सकता है। यह सभव है कि यह एक पाक्षिक कर हो जोकि उपज अश के साथ-साथ ग्रामवासियो के पास जो गाय या भूमि है उसके अनुसार हिसाब लगाकर निश्चित कर दिया जाता हो। यह भी ध्यान देने योग्य है कि रूद्रदामन के जूनागढ[246] पाषण अभिलेख मे उत्कीर्ण है कि 'कर' नियमित भूमिकर का हिस्सा नही है बल्कि विशेष दबावयुक्त कर है जैसे विष्टी (बिगार) और प्रणय (आकस्मिक कर)।

हिरण्य:

इस काल के भूमि अनुदानो मे लगभग सब जगह हिरण्य शब्द का प्रयोग हुआ है। ब्यूलर, शामशास्त्री, मेयर, फ्लीट, आर0डी0 बनर्जी, डी0आर0 भण्डारकर और एन0जी0 मजूमदार ने हिरण्य का अनुवाद 'सोना' के रूप में किया है।[247] जबकि दूसरी तरफ सेनार्ट[248] इसे 'रूपये में कर' कीलहार्न[449] रूपये में भुगतान, वोगल[250] नकद मे कर के रूप में बताते है। एन0सी0 बदोपाध्याय[251] इसे भण्डार या पूंजी या वार्षिक आय पर लगाये गये कर के रूप मे बताते है। बेनी प्रसाद इसे राज्य के सोने व अन्य खदानो पर अधिकार के रूप मे देखते है। यू0एन0 घोषाल[252] इसे कुछ विशेष प्रकार की फसलो पर लगने वाले नकद कर के रूप में प्रस्तुत करते है । यह उनकरो से अलग था जो साधारण फसलो पर नकद रूप मे लिए जाते थे और इस विचार से आमतौर पर सहमति व्यक्त की गई है।[253] अलबरूनी[254] इसे जनता की सम्पत्ति पर लगाये गये प्रकार के रूप मे बताते है। 12वी सदी के मानसोल्लास[255] मे हिरण्य को सोने के भण्डार एव पशुधन का 1/50 वें भाग में राजा का हिस्सा बताया गया है। गौतमधर्मसूत्र पर टीका करते हुए हरदत्त[256] इसकी व्याख्या महाजनो पर लगाये जाने वाले कर के रूप में करते हैं।

इस प्रकार विभिन्न परिभाषाओ को देखते हुए किसी एक विचार पर सहमत होना कठिन है। निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि हिरण्य एक नकद कर था, जो राजा को जनता द्वारा दिया जाता था। इसका शाब्दिक अर्थ सोना लेकर कई विद्वानों इसे सोने की खदान पर

लगाये जाने वाले कर के रूप मे देखते है किन्तु यह सत्य नही है क्योकि यह उस क्षेत्र मे भी लगता था जहॉ सोने की खदान नही थी। सभवत यू0एन0 घोषाल की परिभाषा ही उचित है, जिसमे उन्होने हिरण्य को कुछ विशेष फसलों मे राजा के अश, जो नकद रूप मे होता है, के रूप मे परिभाषित किया है।

उद्रंग एंव उपरिकर

गुप्तकाल एव गुप्तोत्तर काल के अनुदानों में उद्रग एव उपरिकर शब्द मिलते हैं। पूर्व मध्यकाल मे यह केवल उत्तरभारत तक सीमित हो गया था। ज्यादातर ये दोनो वित्तीय शब्द एक साथ ही मिलते हैं और सम्भवत. विरोधी अर्थ प्रकट करते है। कुछ अपवाद अवश्य पाये जाते है। प्रतिहार सामत मथनदेव,[257] कुछ राष्ट्रकूट अनुदानों[258] मे केवल उद्रग कर मिलता है जबकि कुछ पाल[259] एव परमार अनुदानों[260] मे केवल उपरिकर मिलता है।

यू0एन0 घोषाल[261] उद्रग कर को स्थाई कृषको पर एंव उपरिकर अस्थाई कृषको पर लगाये गये कर के रूप में देखते हैं। अल्तेकर[262] उद्रग एव उपरिकर को क्रमश: भागकर एव भोगकर के रूप में देखते है। वी0वी0 मिराशी[263] उद्रग एव उपरिकर को क्लिपट एंव उपक्लिपट और भाग एंव भोग के समान बताते हैं।

किन्तु इस सभावना से इकार नही किया जा सकता है कि उद्रग एव उपरिकर दो विशेष अतिरिक्त राज्य द्वारा लगाये गये कर हो जिनकी प्रकृति स्थिर नहीं बताई जा सकती हैं। मालासरूल दानपत्र[264] मे उद्रग कर वसूलने वाले अधिकारी को औद्रंगिक कहा गया है, जिसपर इसकी वसूली का अधिकार रहता था। उपरिकर शब्द का निर्माण यह इंगित करता है कि यह भूमिकर पर लगाया जाने वाला अतिरिक्त कर है उपरि अर्थात ऊपर अतिरिक्त या ज्यादा। मैती[265] के अनुसार द्रंग और उदक से समीकृत कर यह माना गया कि यह कर सम्भवत: पुलिसकर अथवा जलकर था। अर्थशास्त्र मे आये हुए शब्द 'उत्संग' से उद्रंग को एकीकृत किया गया तथा भाष्यकार भट्टस्वामिन[266] का यह कथन है कि उत्संग जैसा कर विशेष समारोहों अथवा राजकुमार के जन्म आदि पर राजा द्वारा प्रजा से प्राप्त किया जाता था। उद्रंग और उपरिकर को लल्लन जी गोपाल ने अर्थशास्त्र[267] में वर्णित 'क्लिप्त' और उपक्लिप्त माना

है, जिनका क्रमश अर्थ है, कृषको पर लगाया जाने वाला निश्चित कर और अतिरिक्त कर।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उद्रग एव उपरिकर की विभिन्न परिभाषाओ को देखते हुए कोई निश्चित मत देना सभव नही है। किन्तु सामान्य तौर पर उद्रग को भूमि पर स्थाई रूप से रहने वाले किसानो से लिया जाने वाला कर कहा जाता है एव भूमि पर अस्थाई रूप से रहने वाले किसानो से लिया जाने वाला कर 'उपरिकर' कहलाता है। यह यू0एन0 घोषाल का मत है जिसे सर्वमान्य समझा जाता है।

दसापराध:

इस काल के अनुदानो मे राजस्व से सबधित एक और शब्द दसापराध सामान्य तौर पर पाया जाता है जिसे कि समय समय पर, जैसे गोविन्दचन्द्र के अनुदान[268] मे दसापराधदण्ड कहा है, मदनपाल के सामन्त के अनुदान[269] मे दण्डदसापराध तथा विग्रहपाल III के अनुदान[270] मे दसाप्रकारा कहा गया है, अलग-अलग नाम से उल्लिखित किया गया है।

यू0 एन0 घोषाल[271] इस शब्द की व्याख्या करदाता के उस अधिकार के रूप मे करते है जिसके अर्न्तगत करदाता को पारम्परिक अपराधो के लिए दिए जाने वाले सामान्य दण्ड मे छूट का प्रावधान था। इस प्रकार की व्यवस्था केवल सेन भूमि अनुदान[272] पत्रों मे पाई जाती है। बगाल के कुछ राजाओ[273] के यहॉ भी यह सहयादसपराध (केवल दस अपराधों के लिए क्षमा) के रूप मे है। कल्पसूत्र पर भाष्य करते हुए हरिभद्रसूरी[274] इसे अपराधो पर लगाये गये धन दण्ड से पूर्ण या आंशिक मुक्ति के रूप में लेते हैं।

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि यू0एन0 घोषाल स्वय भी यह तथ्य स्वीकार करते है कि यह ग्रामों द्वारा राजा की सम्पत्ति में वृद्धि का एक प्रकार है जिसमें कि उपज एव घरेलू पशुधन भी राजा की प्राप्ति में सम्मिलित है। इस तथ्य की पुष्टि राष्ट्रकूट गोविन्द IV के कैम्बे अनुदान[275] पत्र से होती है। अनुदानपत्रों में इसकी स्थिति असदसापराध के रूप में है न कि असदसापराध के रूप मे। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि मंदिर जैसी संस्थाओं को भी अनुदान दिया जाता था।[276] केवल व्यक्तिगत स्तर तक यह सीमित नही था। इसका अच्छा पक्ष यह है कि ग्रामीणों द्वारा किये जाने वाले अपराधों पर लगाये गये दण्ड से राज्य की

आय बढती है। पी0वी0 काणे[277] ने ठीक ही कहा है कि किसी भी राजा ने किसी धार्मिक अनुदान या गाव को अनुदान मे यह नही सोचा होगा कि बडे अपराध जैसे स्त्री की हत्या, व्याभिचार, चोरी या गर्भपात के दण्ड की छूट मिलेगी।

चदेल[278], कलचुरी[279], राष्ट्रकूट[280] अनुदान पत्रो से पता चलता है कि दाता का दण्डशुल्क राज्य की प्राप्ति का एक अश था। लेखपद्धति[281] में ऐसा उद्वरण आया है कि एक गाव को खेती योग्य बनाने मे उसके स्वामी ने पाच अपराधो की आय अपने लिए सुरक्षित रखी थी। 'दसापराध' शब्द से सभवत यही तात्पर्य लिया जाता होगा कि अपराधो के दण्ड शुल्क की प्राप्ति का अधिकार दाता को स्थानान्तरित हो जाये।

पाल अभिलेखो एंव कुमॉयू के ललित सूरादेव के अनुदान पत्रों मे 'दसापराधिक' नाम के अधिकारी का उल्लेख मिलता है। सभवत. यह अधिकारी दसापराध के अर्न्तगत केसो को देखता होगा और दाता केवल दस अपराधो के बदले मे दण्ड शुल्क देने का अधिकारी होता था।

इस शब्द के शाब्दिक अर्थ 'दस अपराध' के ऊपर विद्धानो मे बहुत मतभेद है। ब्यूहलर[282] अनुमान लगाते है कि दस गलतियॉ अर्थात् दस कार्य सीमाविवाद प्रकरण से सबंधित दस कार्य हो सकते है किन्तु अपराध शब्द का प्रयोग गम्भीर किस्म के अपराधो के लिए किया जाता है। फ्लीट[283] ने इसका तात्पर्य काशीनाथउपाध्याय के धर्मसिन्धुसार[284] और वाग्भट्ट के अष्टागहृदय के वर्गीकरण से बताया है जिसमें शरीर के तीन विशेष पाप, वृद्धि के तीन पाप और वाणी के चार पाप बताये गये है, किन्तु यह विचार न्यायसगत नही है क्योंकि बुद्धि के पाप के लिए व्यक्ति नैतिक दण्ड ही प्राप्त कर सकता है आर्थिक नही।

जॉली[287] ने नारद[288] के अनुसाार दस अपराध गिनाये है जैसे राजा की आज्ञा का पालन न करना, स्त्री की हत्या, जातियो का मिश्रण, व्याभिचारी, चोरी, पति के अतिरिक्त अन्य से गर्भधारण, गाली, गरिमा को ठेस पहुँचाना (बदनाम करना), बदला लेना, आक्रमण, गर्भपात। शुक्रनीतिसार[289] मे भी नारद के समान दस अपराध गिनाये गये है।

'दसापराध' के सबंध में विभिन्न इतिहासकारो के मत को देखते हुए निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यह किये गये दस अपराधो से ही संबंधित था, सामान्यतौर पर दण्ड स्वरूप न्यायिक रूप से

शुल्क लिया जाता रहा होगा।[290] यह सबसे सही व्याख्या प्रतीत होती है क्योकि जैसा कि हम देखते है, कुछ राजवशो के अनुदानपत्रों मे भूमि अनुदान के साथ दण्ड शुल्क की प्राप्ति का अधिकार भी स्थान्नान्तरित हो जाता है। किन्त दण्ड शुल्क सामान्य दण्डो के लिए होता है न कि कुछ विशेष दस अपराध। किन्तु दसापराध से यह भी तात्पर्य लिया जाता है कि केवल दस अपराधो के दण्ड शुल्क को प्राप्त करने का अधिकार मिलता है न कि सामान्य अपराधो के दण्ड शुल्क को।

कुमारगाधियानक·

बी0 पी0 मजूमदार[291] यह मत व्यक्त करते है कि यह कुमारगद्यन नामक के सोने के सिक्के पर लगाया जाने वाला कर था। किन्तु इस नामके सिक्के का कोई प्रमाण नहीं मिलता। आर0 नियोगी[292] इसे दक्षिण भारतीय अभिलेख से प्रेरित बताते हैं कि पहाडी जनजाति द्वारा कुमारी नामक फसल उगाई जाती थी। गहडवाल के अधीन पहाडी क्षेत्रो मे यह कर लिया जाता था। गद्यानक नाप का एक माध्यम भी था और दक्षिण भारतीय सिक्का भी। किन्तु यह कर राज्य की आय का मुख्य साधन था, जबकि ऊपर की मान्यता मानने पर ऐसा सभव नही हो सकता है।

12वी शती की मारवाड से प्राप्त, नानना पत्र[293] से पता चलता है कि एक लेनदारी और थी जो कुमारद्रोण या कुमारद्रोणा के नाम से जानी जाती है। अन्य राज्यो में यह वस्तु के रूप मे ली जाती थी जबकि गहडवाल राजा इसे नकद रूप मे लेते थे। मिराशी[294] के अनुसार राजकुमार के जन्म पर एक गदनक का उपहार या नजराना के रूप में यह कर रहा था। यू0एन0 घोषाल[295] के अनुसार प्रति गदनक की दर से शाही राजकुमार की तरफ से लिया जाने वाला कर था। लल्लन जी गोपाल[296] के अनुसार उस पत्र से पता चलता है कि ग़दनक जो है लिये जाने वाले कर के जैसा शब्द है; जोकि राजकुमार लेता है। गहडवालो के अनुदानपत्र से पता चलता है कि गदनक प्रति परिवार से लिया जाने वाला कर है। इससे स्पष्ट है कि कुमार का तात्पर्य राजकुमार से ही है।

कुटक:

वी0पी0 मजूमदार[297] इस कर को प्रत्येक कुटक भार की वस्तु पर लगने वाले कर के रूप में उल्लिखित करते है। जबकि लल्लन जी

गोपाल[298] आर0एस0 नियोगी[299] से सहमत होते हुए इसे कृषि पर कर मानते है, उनके अनुसार कुट का अर्थ घर से होता है। किन्तु कुटक[300] का सही अर्थ कृषिकर से लिया जाना चाहिए क्योकि कुट अर्थात् हल एव कुटक अर्थात् हलकर। यू0एन0 घोषाल[301] इसके लिए एक अभिलेखीय साक्ष्य प्रस्तुत करते है जिसमे हलकर को बलिकाकर कहा गया है।

जलकर:

अनुदान पत्रो मे उल्लिखित समत्स्य के अधिकार स्थानान्तरण से आर0एस0 नियोगी[302] ये अर्थ लगाते है कि यह पानी के उत्पाद जैसे मछली इत्यादि पर लगाया जाने वाला कर है। क्योकि मछली भी राजस्व का एक साधन रही होगी। किन्तु लल्लनजी गोपाल[303] इसे सिचाई कर के रूप में देखते है जोकि उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि सिंचाई कर भी राजस्व का एक महत्वपूर्ण साधन रहा होगा।

गोकर.

'अर्थशास्त्र' के अनुसार राजा के सकट काल मे ऐसे कर लगने चाहिए। इसके अनुसार पशुओ की बिक्री व देखभाल पर यह कर लगता था।[305] आर0 नियोगी[306] के अनुसार यह संभव है कि यह गाव मे पशुओं की बिक्री पर लगने वाला कर था। आर0एस0 त्रिपाठी[307] के अनुसार यह उसके चरागाह के अधिकार को पूर्ण करता है। बी0पी0 मजूमदार[308] ने शुक्रनीति[309] मे उल्लिखित है "गाय के दूध और भरणपोषण के लिए चावल पर कर किसी राजा को नही लगाना चाहिए," उद्धृत करते हुए कहा है कि संभवत· यह गाय के दूध पर कर था। लल्लन जी गोपाल[310] इसे जानवरों पर लगने वाले सामान्य कर के रूप में देखते है जैसा कि चदेल अभिलेखो मे पशु नाम के कर का उल्लेख मिलता है।

इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से कर थे जिनका उल्लेख यहॉ पर करना आवश्यक नही है केवल नाम एव तात्पर्य यहॉ दिये जा रहे है, जैसे वलाडी कर जो बैलों पर लगता था, लवणकर-व्यक्तिगत रूप से नमक बनाने पर लगता था, पर्णकर-घास, तम्बाकू व लकडी पर लगने वाला कर, दसाबंध अर्थात आय पर लगने वाला कर, अक्षपटलप्रशस्ता, प्रतिहारप्रशस्ता एव विसत्याथुप्रशस्ता। अक्षपटल एंव प्रतिहार संभवत: कार्यालय के साक्ष्य एंव एकाउण्ट के लिए लिया जाता था विसत्यासुप्रशस्ता,

यू0एन0 घोषाल[311] इसे प्रत्येक घरेलू समान पर एक प्रशस्त कर लगाने वाला मानते है। उपरोक्त करो के अतिरिक्त अन्य बहुत से कर थे जैसे विषयदान, यमलिकम्बलि, दसापसादिदीर्घागोविका, अकारा, निधिनिक्षेप इत्यादि। बगाल मे लगने वाले करो मे चौरोद्धारण कर प्रमुख था। उडीसा मे लगने वाले करो मे वराबलिवर्धा, बालादण्ड इत्यादि प्रमुख थे। चदेल अभिलेखों[312] से पता चलता है कि राज्य मे भागभोगकर, हिरण्य, पशु और शुल्क नाम के कर थे, जिसका वहन ग्रामवासी करते थे। कलचुरि साम्राज्य मे प्रवणिकर, पट्टाकिलादया, विषयी काद्या, घट्टादाय, मार्गनक इत्यादि कर थे। परमार राज्य के अनुदान पत्र मे हिरण्य, भागभोग, उपरिकर, दण्ड, अकासोत्पत्ति और पट्ला कल्याणधन इत्यादि कर उल्लिखित थे। चहमान राजवश मे तलारभव्य से लाहयभव्य बलोधपभव्य इत्यादि भाग थे जोकि कर अधिकारियो को मिलते थे। प्रतिहार राजवश के राजौर अनुदान पत्र (प्रतिहार प्रमुख मथनदेव) मे उद्रंग, भोग, भाग, दण्डादसापराध एव दान के अतिरिक्त अनेक नये कर थे जैसे मयूत, खलभिक्षा प्रस्थका, अपुत्रिकाधान, स्कन्धका, मार्गनक इत्यादि कर थे। प्रतिहार वंश का एक अन्य महत्वपूर्ण कर उत्पादमनविस्ती था। जिसका उल्लेख कठियावाड के अभिलेखो[313] मे मिलता है कि अनुदान के साथ उत्पादमनविस्ती का अधिकार भी स्थानान्तरित हो जाता है। चालुक्य राजवंश का भूतावतप्रत्याय कर भी उल्लेखनीय है जिसका अर्थ यू0एन0 घोषाल[314] ने इसका शब्दार्थ करते हुए इसे तत्वो एव हवा पर कर बताया है जबकि अल्तेकर[315] इस कर को उन उत्पादो के लिए बताते है कि गांव (भूत) मे उत्पादित किये जाते है और आयातित (उपात्) किये जाते है। यही मत उचित भी जान पडता है।

तत्कालीन समाज मे राज्य किस-किस रूप में कर लेते थे इससे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि करो का संकलन या एकत्रीकरण कैसे होता था। बी0एन0एस0 यादव[316] ने इन संबंध मे कुछ महत्वपूर्ण तथ्य एकत्र किये है प्राचीनकाल से ही गांव का प्रमुख भूराजस्व एकत्र करता था।[317] 9वीं शताब्दी में वाचस्पति मिश्र[318] कहते हैं कि परिवार के प्रमुखो से गॉव का प्रधान कर लेता है और इसे विषय के प्रमुख को प्रदान करता था। विषय का प्रमुख इसे सर्वाध्यक्ष नाम के अधिकारी को देता था। जोकि इसे राजा तक पहुॅचाता था। कुल्लूकभट्ट[319] मनु के ऊपर टीका करते हुए कहते हैं कि गांव का प्रमुख

अनाजो की पूर्ति के लिए, दूध, जलाने योग्य लकडी अपने मासिक भत्ते के रूप मे लेता है। किन्तु वार्षिक कर, उत्पाद का 1/8 भाग राजा को प्रदान करता है। वस्तुपालचरित[320] और वस्तुपालप्रबन्ध[321] से सकेत मिलता है कि कमजोर शासन में प्रमुख करो का भुगतान बद कर देते थे और एक कई प्रमुख बन जाते थे। हेमचन्द्र के द्वयाश्रय[322] से पता चलता है कि ग्रामपति (छोटे भूस्वामी या शक्तिशाली ग्राम प्रमुख) राजस्व का एक भाग लेते थे बाकी राजा को प्रदान किया जाता था।

लेखपद्धति[323] के दो उल्लेखो से पता चलता है कि गुजरात एव उससे लगे क्षेत्रो मे, पचकुला ने ग्रामपट्टक को अनुमति दी थी कि सम्पूर्ण गाव का भूराजस्व नकद रूप मे व्यक्तिगत रूप से दे दिया जाये।

कई अभिलेखों से पता चलता है कि शुल्क व्यापार पर कर शुल्कमण्डपिका[324] या कस्टम घर द्वारा एकत्र किया जाता था। कश्मीर मे यह कर पुलिस स्टेशनो (उद्रग)[325] द्वारा वसूला जाता था।

कुछ अभिलेखो मे 'अक्षपटल' शब्द के उल्लिखित होने से लेखा विभाग के अस्तित्व का पता चलता है।फ्लीट ने इसे, रिकार्ड ऑफिस कहा है।[326] राजतरंगिणी मे अक्षपटल को गणनाधिष्ठान कहा गया है।[327] स्टेम ने इसे महालेखाधिकारी के आफिस के रूप में अनुवादित किया है।[328] इससे प्रतीत होता है कि राज्य मे आर्थिक प्रशासन की एक बडी मशीनरी थी जो करो की लेनदारियों एंव लेखा कार्यों का सम्पूर्ण विवरण रखती थी। प्रबध चितामणि[329] से पता चलता है कि सिद्धराज के गर्वनर सज्जन ने तीन वर्ष तक किसी प्रकार के कर का भुगतान नही किया है, जब उसे राजधानी में उपस्थित होने की आज्ञा दी गई तब उसने कहा कि उसने सभी भुगतानो का प्रयोग एक मंदिर बनवाने में कर लिया था। इससे पता चलता है कि करो के भुगतान मे अनियमितता थी।

इतिहासकारो. ने राजस्व का एक पक्षीय अध्ययन ही ज्यादातर प्रस्तुत किया गया है। हाल ही में श्री ओ0पी0 श्रीवास्तव ने कराधानों मे भूराजस्व के अतिरिक्त अन्य वाणिज्यिक करो के विषय मे विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। पूर्वमध्यकाल के साहित्यिक एंव अभिलेखीय साक्ष्यो में उल्लिखित विभिन्न प्रकार के करों को वर्तमान आर्थिक परिभाषाओं के आधार पर विभाजित किया जा सकता है: (1) आयात निर्यातकर (2)सीमा

शुल्क (3) उत्पाद कर (4)बिक्री कर (5) मार्ग शुल्क (6) जल परिवहन शुल्क (7) आवागमन कर (8) मिश्रित कर।[330]

आयात निर्यात कर:

पूर्वमध्यकाल मे आयात एव निर्यात की जाने वाली वस्तुओ पर लगाये जाने वाले इस कर की वसूली आयात निर्यात घरो मे होती थी, जोकि साधारण तौर पर समुद्री मुहाने पर या एक स्वतन्त्र राज्य की सीमा प्रारम्भ पर होते थे। 9वी शती में कर्नाटक राज्य में लिखित गुणभद्र की उत्तरपुराण[331] के एक श्लोक से ज्ञात होता है कि राज्य मे आने वाली वस्तुओ एव जाने वाली वस्तुओ पर आयात-निर्यात शुल्क को कराद्वाय के रूप मे जाना जाता था। रासमाला[332] के साक्ष्य से प्राप्त विवरण काफी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इसमे उल्लिखित है कि जब जयदेव राख को गगा नदी में डालने के लिए बैलगाडी से लेकर जा रहे थे तब चहमान वंश की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर उनसे कर की मांग की गई थी। 10वी शती मे सोमेश्वर लिखित मानसोल्लास[333] से पता चलता है क आयात की जाने वाली वस्तुओ पर वस्तु की कीमत का 10% आयात निर्यात शुल्क लगाया जाता था। 11-12वी शती के मारू गुर्जर क्षेत्र का सामाजिक आर्थिक विवरण प्रस्तुत करने वाली लेखपद्धति[334] में आयात एव निर्यात की जाने वाली वस्तुओ पर लगाये जाने वाले कर को आगमनिर्गमकर कहा गया। डी0 शर्मा[335] के अनुसार यह आयात निर्यात कर था जबकि डी0सी0 सरकार[336] इसे मार्ग शुल्क के रूप मे देखते है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आगम निगम कर को आयात निर्यात कर एव सीमा शुल्क मे रखने में इतिहासकारों मे मतभेद है।

पूर्वमध्यकाल के अभिलेखीय साक्ष्यो मे भी आयात निर्यात कर का उल्लेख मिलता है। वलभी के विष्णुसेन के अभिलेख[337] (592) मे प्रवेष्य एव निर्गामिक कर का उल्लेख मिलता है। यहाँ प्रवेष्य आयात या आने वाली वस्तुओ पर लगाया जाने वाला कर है जबकि निर्गामिक कर निर्यातित वस्तओं पर लगाया जाने वाला कर है।[338] कोकण क्षेत्र के तेजोवर्मन के अन्जानेरीकास्यपत्र[339] में लगभग ऐसा ही विचार मिलता है। इसमे उल्लिखित है कि सामागिरि पत्तन पर रहने वाले व्यापारियो को आयात एंव निर्यात शुल्क से मुक्त कर दिया जाता था। मिराशी[340] इसे सीमाशुल्क मानते है जबकि सरकार[341]इसे आयात निर्यात कर मानते है।

प्रवेश्य निर्गमिक कर का उल्लेख बगाल के विश्वरूपसेन के वंगासाहित्य परिषद पत्र[342] मे भी मिलता है।इस प्रकार सभव है कि कुछ क्षेत्रो मे आयात निर्यात कर को प्रवेष्य निर्गमिक कर के नाम से जाना जाता रहा हो। परवर्ती चालुक्य राजा विक्रमादित्य VI (1076-1126 ई0) के एक सामन्त जयकेशी I के एक अभिलेख[343] से पता चलता है कि प्रत्येक दूसरे देश से आने वाले व्यापारी से एक गदैहा या द्रम शुल्क लिया जाता था। काकतीय वश के गणपतिदेव के मोतुपल्ली[344] अभिलेख से आयात निर्यात कर के इसी प्रकार के साक्ष्य मिलते है, जो 13वी शती के मध्य आन्ध्र देश मे राज्य कर रहे थे। इस अभिलेख[345] मे आने वाली एव जाने वाली सामान से भरी व्यापारिक नौकाओ पर लगाये जाने वाले शुल्क की सूची दी गई है जिसकी गणना स्वय राजा करता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे आयात निर्यात कर अपने पूर्ण अस्तित्व मे था एंव अर्थ व्यवस्था मे इसका राजस्व एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा होगा।

सीमाशुल्क:

यह स्थानीय अधिकारियो द्वारा प्रत्येक व्यापारिक वस्तुओ के किसी शहर या कस्बे की सीमा मे प्रवेश पर वसूल किया जाने वाला कर था। सोमदेव सूरि (10वीं शती अपने नीतिवाक्यामृतम्[346] मे) सीमाशुल्क वसूल करने वाले अधिकारी पिन्थ का उल्लेख करते है और लिखते है कि इनकी उचित सुरक्षा करनी चाहिए क्योंकि ये राजा के लिए बहुत सम्पदा एकत्र करते हैं जैसेकि कामधेनू। सोमदेवसूरि द्वारा ही रचित यशस्तिलकचम्पू[347] में भी सीमा शुल्क का उल्लेख मिलता है यह बताता है कि एक पुजारी ने बडा बाजारों का कस्बा बनवाया एंव पिन्थ (सीमाशुल्क ग्रहणकर्ता) बनकर शुल्क वसूला था। 12वी शती के भाष्कराचार्य के बीजगणित[348] से पता चलता है कि इसकाल के व्यापारियो को शहर के द्वारों पर शुल्क देना पडता था। रासमाला[349] एंव खतरगच्छवृहद गुरवावली[350] से पता चलता है कि अन्हिलपुरपाटन के प्रवेश द्वार पर चुंगी बनाई गई थी।

अभिलेखों में सीमा शुल्क के लिए सानिर्गमप्रवेष्य[351], सुमाई[352], तलाईचुमाई[353] शब्दो का प्रयोग किया गया है। दक्षिण भारत के कुछ अभिलेखों मे पेरूसुमकामु[354] शब्द की व्याख्या बैलों पर लदे सामान के

ऊपर लगने वाले कर से की गई है। बयाना से प्राप्त एक अभिलेख[355] (955 ई0) से पता चलता है कि यह कर मण्डपिक मे व्यापारियो के प्रत्येक लदे हुये घोडे पर लगाया जाता था। मण्डपिक शब्द उस सीमाशुल्क चुगी के लिए प्रयोग किया गया है जहाँ व्यापारी अपना कर जमा करते थे। सामन्तसिह देव के एक अभिलेख[356] से, जो कि राजस्थान के जोधपुर से प्राप्त है, से पता चलता है कि जूना बाडमेर कस्बे में प्रवेश करने पर प्रत्येक कारवा को, जो 10 ऊँट एव 20 बैलो से ज्यादा लेकर चलते थे, 1 पाइला शुल्क देना पडता था।

इस प्रकार साहित्यिक एव अभिलेखीय साक्ष्यो के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल मे सीमाशुल्क लगभग सम्पूर्ण भारत मे लगाया जाता। पूर्वमध्यकाल मे सीमा शुल्क की दर किसी साम्राज्य के कस्बे से कस्बे एव क्षेत्र से क्षेत्र भिन्नता रखी थी, किन्तु जहाँ का आयात निर्यात कर बात है वह लगभग पूरे साम्राज्य मे एकसा ही लगाया जाता था।[357]

बिक्रीकर:

बिक्री कर[358] दो प्रकार से प्राप्त होता है बेचने के लिए खरीदी वस्तु पर एव बिके समानो पर। पहली स्थिति में यह किसी वस्तु के विक्रय से पहले प्राप्त होता है। द्वितीय स्थिति मे विक्रय के बाद। यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इस कर का वहनकर्ता उपभोक्ता होता है और उसे अधिकारिक रूप से निर्धारित शुल्क से ज्यादा शुल्क देना पडता है। मृच्छकटिक[359] (5-6 शती) के एक श्लोक से पता चलता है कि बिक्री योग्य वस्तुओं पर बिक्री कर (शुल्क) लगाया जाता था। यशास्तिलक चम्पू[360] (10वी शती) से पता चलता है कि बिक्री कर शहर के बाजार मे प्रत्येक बिक्री योग्य वस्तुओ पर लगाया जाता था। हेमचन्द्र (12वी शती) के कुमारपाल चरित[361] से पता चलता है कि बिक्री कर विक्रेता से प्रत्येक बिक्री वस्तु पर लिया जाता था। शुक्रनीतिसार[362] के अनुसार बिक्री कर विक्रेता एव क्रेता दोनो पर लगाना चाहिए।

पूर्वमध्यकाल मे बिक्रीकर के कुछ अभिलेखीय प्रमाण भी प्राप्त होते है। हरियाणा राज्य के करनाल जिले से प्राप्त पेहोआ अभिलेख[363] (882-83) से पता चलता है कि प्रत्येक घोडे की बिक्री के समय दो द्रम विक्रेता से एक एक द्रम क्रेता से लिया जाता था। चह्मान विग्रहराज का

हर्ष प्रस्तर अभिलेख[364] एव चालुक्य नरेश जयसिहदेव के एक सामत अश्व के बालि-प्रस्तर अभिलेख[365] मे भी बिक्री कर का यही विवरण मिलता है। गुहिल प्रधान अल्लट के मेवाड अनुदान पत्र[366] से पता चलता है कि पशुओं के विक्रय के समय बिक्रीकर विष्णु मदिर को स्थानान्तरित कर दिया गया। 10-12 शती के लगभग प्राप्त साक्ष्यो से पता चलता है कि उत्तर भारत मे पान, सुपारी, चीनी, गुड, कपडे, सूतीवस्त्र, केसर, ताबा, रेजिन एव जौ पर बिक्रीकर लगने लगा था। चालुक्य नरेश कुमारपाल के मगलौर अभिलेख[368], (1202 वि0स0), भीम II का कादी अनुदानपत्र[369] (1287 ई0), एव गुजरात के चालुक्य राजवंश के सारगदेव के अन्वदापत्र[370] (1342 वि0स0) मे बिक्री कर लगाये जाने वाली वस्तुओ की लम्बी सूची दी हुई है जैसे मजीठ, हगुल, कर्पूर, कस्तूरी, कुमकुम, अगरू, जायफल, नालीकेरा, पान एव सुपारी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बिक्री कर लगभग प्रत्येक साम्राज्य मे बिक्री योग्य वस्तुओं पर लगाया जाता था और यह राज्य के राजस्व का एक नियमित बडा हिस्सा होता होगा।

उत्पाद शुल्क:

यह शुल्क देशी वस्तुओं के निर्माण प्रक्रिया एंव उपभोक्ताओ को उनकी बिक्री के मध्य लगाया जाता है।[371] यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि प्राचीन काल एंव पूर्वमध्यकाल मे उत्पाद शुल्क वर्तमान समय की तरह महत्वपूर्ण नही था। यद्यपि कौटिल्य[372] के समय मे भी उत्पादकर का उल्लेख प्राप्त होता है तथापि उसकाल के साहित्य में इसका बहुत कम साक्ष्य मिलता है। पूर्वमध्यकाल के साहित्यिक एव अभिलेखीय साक्ष्यों से उन मदों का पता चलता है। जिन पर उत्पादकर लगाया जाता था। साक्ष्यो[373] से पता चलता है कि नमक, चीनी एव मदिरा ही ऐसे मुख्य उत्पाद थे, जिनपर उत्पाद शुल्क लगाया जाता था। यद्यपि कौटिल्य के समय ही नमक, चीनी एव मदिरा के उत्पादन पर राज्य का अधिकार रहता था किन्तु पूर्वमध्यकाल के परवर्ती चरणों में यह दाता या कुछ व्यक्तिगत हाथो में चला गया। उदाहरण के लिए विग्रहराज के हर्ष प्रस्तर अभिलेख[374] (1053 वि0स0) से पता चलता है कि मंदिर के जीर्णोद्धार के लिए प्रत्येक कुन्तल नमक पर एक विमशोपक कर लगाया गया था। गहडवाल साक्ष्यों

मे नमक पर शुल्क ज्यादा दिखाई पडता है। एक साक्ष्य[376] से पता चलता है कि एक अनुदानित गाव के नमक एव लोहे के उत्पाद का शुल्क दूसरे दाता को दे दिया गया। लुहारो के अतिरिक्त, बुनकर, तम्बोलिक, तैलिक इत्यादि को अपने सामान बनाने के लिए उत्पाद शुल्क देना पडता था।[377] लवणकार[378] (व्यक्तिगत रूप से नमक का निर्माण करने वाले) परकर) पर्णकार[379] (पान पर कर) बराजो पर[380] (पान की पत्तिया लगाने वाले) रसावती[381] मदिरा पर कर[382] शाकमुस्ती[383], (सब्जियो पर कर) प्रशास्तका[384] (तिल मिल पर कर, तेल की माप पर कर[385] इत्यादि उत्पाद कर थे। एक परमार अभिलेख[386] से पता चलता है कि शुद्ध मदिरा पर 4 रूपये उत्पाद शुल्क लिया जाता था।

प्रवणिकर:

कमौली[387] से प्राप्त 29 मे से 19 अनुदान पत्रो मे प्रवणिकर राजस्व का बहुत महत्पूर्ण साधन रहा है। गहडवाल राजवंश मे इसका कई जगह उल्लेख मिलता है। त्रिकलिंगा[386] के एक सोमवशी राजा के अनुदान पत्र में भी इसका उल्लेख है। त्रिपुरी के कलिचुरि[387] के अनुदान पत्र मे प्रवणि का उल्लेख है जो राज्य की आय का एक साधन है जो दाता को स्थानान्तरित हो जाता है।

आर0एस0 त्रिपाठी[390] यह विचार प्रस्तुत करते है कि यह तो चुगी की तरह का शुल्क है जिससे कि ज्यादा बाहरी लोग गांव मे आकर शांति सुरक्षा न भग करे या फिर मार्गों के रखरखाव का कर है। यू0 एन0 घोषाल[390A] ने इसे ऐसा कर बताया है जिसे प्रवणि पर लगाया जाता था, जिसका उल्लेख उन्होने व्यापारियो के एक वर्ग के रूप मे किया है। लेउमन[390B] ने प्रवणि का उल्लेख फुटकर व्यापारी या शायद ऐजेण्ट के रूप मे किया है। मिराशी[391] इसे बैकर (श्रेष्ठिन) के रूप में देखते हैं मथन देव[392] के राजौरी अभिलेख से पता चलता है कि प्रवणि, वणिक (व्यापारी) गांव वासियों की सूची में अनुकरण करते थे। लल्लन जी गोपाल[293] भी यू0एन0 घोषाल के इस मत से सहमत है कि प्रवणिकर तकनीकि साहित्य या अभिलेख पर लगाया जाने वाली चुंगी या शुल्क था। लगभग सभी अनुदान पत्रो एंव अभिलेखो मे राज्य की आय के साधन मे यह प्रथम स्थान पर आता है इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रवणिकर चुंगी जैसा ही कर था।

टोल टैक्स

यह व्यापारियो से लिया जाने वाला वह कर है, जो उनसे मार्गों मे बनी चुगियो एव घाटो पर लिया जाता था। उत्तर भारत के क्षीरस्वामी[394] के भाष्य (12वी शती) एव बगाल के वन्दयघटिय सर्वानन्द[395] (12वी शती) के साक्ष्यो से पता चलता है कि पूर्वमध्यकाल मे टोल कर काफी प्रचलित था। इन साक्ष्यो से पता चलता है कि ये टोल घाटो पर, सैनिक छावनियो पर एव मार्गों मे वसूल किये जाते हैं। 11वी शती के यादव प्रकाश की वैजयन्ती[396] मे एव 12वी शती के हेमचन्द्र की अभिधान चितामणि[397] मे भी टोल को लगभग इसी रूप मे वर्णित किया गया है। टोल को वसूल किये जाने वाले स्थानो के आधार पर दो वर्गों में बाटा जा सकता है:-

मार्ग शुल्क:

साहित्यिक एव अभिलेखीय साक्ष्यो से इस शुल्क के प्रचलित होने का पता चलता है। दण्डिन के दशकुमार चरित[398] से ज्ञात होता है कि यह कर व्यापारियो से मार्गों पर वसूला जाता था। ह्वेनसाग[399] (629-643) बताता है कि नदियो के पुल एव मार्गों के चौराहो पर यह कह कर वसूला जाता था। शुक्रनीतिसार[400] के अनुसार मार्गों के रखरखाव के लिए व्यापारियो पर यह कर लगाया जाता है। लेखपद्धति मे मार्ग शुल्क के लिए पथकीय[401] सगुनीदान[402] एंव दान[403] शब्द का उल्लेख मिलता है। इस काल के अभिलेखीय साक्ष्यों मे भी इस मार्ग शुल्क का उल्लेख मिलता है। उडीसा के सोमवंश के कुमार सोमेश्वर के केलागन पत्र[404] (1075-1125 ई0) मे इस कर के लिए एक वाणिज्यक शब्द वर्तमादण्ड प्रयोग किया गया। डी0सी0 सरकार[405] इसे एक प्रकार के आयात निर्यात शुल्क के रूप मे मानते है, जोकि मार्गों में निर्मित चुंगियों पर वसूले जाते है। कुछ अभिलेखो[406] से ज्ञात होता है कि उपहार में दान- दिये गये गांवों से होकर जाने वाले मार्गो पर व्यापारियों से यह मार्ग शुल्क वसूल किया जाता था।, जिसके लिए मार्गदाय शब्द का प्रयोग किया गया है।[407] इस प्रकार प्राप्त साक्ष्यों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि संभवत. मार्गों के रख रखाव के लिए व्यापारियो की यात्रा की सुविधा के लिए इस कर का निर्धारण किया गया था।

नौकाकर:

यह कर नदियो के विश्रामस्थल पर व्यापारियो से लिये जाते थे। पूर्वमध्यकाल के साहित्यिक[408] एव अभिलेखीय[409] साक्ष्यो मे इसके लिए तरा, तरदाय, तरापण्य, तरामुलाम, अतरक एव घाटदाय शब्द का प्रयोग किया गया है। पाल[410] एंव कलचुरि[411] साक्ष्यो मे नौका कर लेने वाले अधिकारी के लिए तारिक, तरापति एव घाटपति शब्द का प्रयोग किया गया है। लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरू[412] से मालवाहक जहाजों पर लगाये जाने वाले कर की दरो का विवरण मिलता है। मनुस्मृति के एक श्लोक का उद्धरण देते हुए वह कहते है- एक बैल गाडी को एक पण, सामान लिए हुए व्यक्ति को एक पण, एक पशु या एक महिला को पौन पण, बिना सामान के व्यक्ति को पण का आठवॉ भाग देना पडता था। वह आगे बताता है कि बैलगाडी को सीमा शुल्क देना चाहिए एव बिना सामान के व्यक्ति को कुछ कर देना चाहिए।[413] गर्भवती महिला, सन्यासी, वानप्रस्थी एंव वेदों के विद्यार्थी को नौका कर से मुक्त रखा गया था।[414] विज्ञानेश्वर[415], अपरार्क[416] एंव कुल्लूकभट्ट[417] ने भी लगभग ऐसी ही नौका कर का विवरण दिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल में जलयात्राओ के लिए व्यापारियों पर नौकाकर लगाया जाता था।

आवागमनकर:

व्यापारियो के एक साम्राज्य से दूसरे साम्राज्य, एक शहर से दूसरे शहर के आवागमन पर लगाया जाने वाला कर आवागमन कर कहलाता है।[418] रासमाला[419] में इस कर के साक्ष्य मिलते हैं। कभी-कभी भील, मेद, एव मीना इत्यादि अपने क्षेत्र से गुजरने वाले व्यापारियो से कर वसूल करते थे।[420] पूर्वमध्यकाल की राजनीतिक स्थिति बिखरी हुई थी, सत्ता से भूमि तक आते-आते कई स्तरों मे शासक वर्ग थे, सामतो मे भी कई श्रेणियॉ बन गई थी। इस कारण यह बहुत संभव था कि प्रत्येक सामत अपने क्षेत्र से जाने वाले व्यापारियो से कर लेता रहा हो।

अन्य मिश्रित कर:

कुछ साक्ष्यो[421] से पता चलता है कि दुकानों के ऊपर भी कर लगाया जाता था। अल्तेकर[421 A] बताते हैं कि पाण्डव देश मे वार्षिक आय का यह 6% की दर से लगाया जाता था। गुर्जर प्रतिहार के क्षेत्र में एक द्रम

एव पाच विमशोपक[422] की दर से प्रति दुकानो पर लगाया जाता था।[423] कभी-कभी व्यापारिक श्रेणियो एव कारीगरो को समुदायकर[424] भी देना पडता था।

पूर्वमध्यकाल के साहित्यिक एव अभिलेखीय साक्ष्यों से इस काल मे समुद्री व्यापारियो पर लगाये जाने वाले करो का पता चलता है।[425] मनु के टीकाकार मेधातिथि[426] बताते है कि एक मालवाही जहाज के कर के निर्धारण के समय कई परिस्थितियों का ध्यान रखा जाता है। जैसे- समुद्री यात्रा की दूरी, यात्रा में व्यतीत समय, मौसम, पानी की गहराई एव जहाज की यात्रा मे कितने श्रमिक लगे थे। मनु के ही एक अन्य टीकाकार कुल्लूकभट्ट[427] बताते है कि बिक्री हेतु वस्तुओ पर उचित अनुपात में कर लगाने के लिए उपरोक्त परिस्थितियों का ध्यान मे रखने का विचार प्रस्तुत किया जाता था। 13-14वी शती की पुस्तक विवादरत्नाकर[428] मे वस्तुओ का 10% प्रत्येक जहाज से बन्दरगाह कर के रूप मे लेने की बात कही गयी है। गुणभद्र के उत्तरपुराण[429], सोमेश्वर के मानसोल्लास[430] एंव अबू जैद[431] के विवरणो से पता चलता है कि प्रत्येक मालवाहक जहाज, जो बदरगाह पर आते थे, उनसे बदरगाह कर लिया जाता था। काकतीय राजवंश के गणपतिदेव के मोतुपल्ली अभिलेख[432] से पता चलता है कि इस राजवश ने न केवल विदेशी जहाजो के इसके बन्दरगाह पर आने के लिए व्यापारियो के पक्ष मे अभयसासन जारी किया था बल्कि पहले के बंदरगाह कर को भी कम कर दिया था।

प्रतिहार अनुदान पत्रो[433] मे स्कन्ध नामक एक अन्य कर का साक्ष्य मिलता है जो स्थानीय व्यापारियो के कधे पर उठाये समानों के ऊपर लगता था। मानसोल्लास[434] में भी पण्यकर, को जो बाजार मे खरीदने एव बेचने वाली वस्तुओ पर लगायी जाती थी, राजस्व का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत बताया गया है।[435] यशस्तिलक से पता चलता है कि बाजार मे आने वाले प्रत्येक व्यापारी को किराया (भाटक) देना पडता था। लेखपद्धति मे मंदावी नाम के एक कर का उल्लेख है जोकि बाजार में आने पर, बैलगाडियो को खडा करने, पशुओं को पानी पिलाने एव खराब वस्तुएं नष्ट करने के लिए लगाया जाता था।[437] इसी पुस्तक मे अनादियक[438] नाम के कर का उल्लेख है, जोकि बैलगाडियो के खडे होने

एव अपने सामानो को उतारने पर लगाया जाता था।[439] इस प्रकार स्पष्ट है कि कैसे छोटे बाजारो मे विभिन्न प्रकार के कर लगाये जाते थे।

लेखपद्धति[439 A] मे अश्वो के विक्रय मूल्य पर लगाये जाने वाले कर दसाबन्ध का उल्लेख मिलता है। नादौल अभिलेख[440] गहडवाल वश के एक अभिलेख[441] मे आय के 10 प्रतिशत तक लेने का उल्लेख है। कुछ साक्ष्यो मे पानी के सरोवर, तालाब, कुए इत्यादि की देखभाल के लिए नौकरो एव दासो से उनकी आय का 10 प्रतिशत लेने की बात कही गई है, सिचाई योग्य भूमि[442] से उत्पाद का 10 प्रतिशत लेने का साक्ष्य मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि दसाबन्ध एक विशेष कर के लिए कहा जा सकता है यह परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न था।

तुरूष्कदण्ड:

गहडवाल राजवश के अनुदानों में तुरूष्कदण्ड नाम कई बार मिलता है। यह प्रथम बार चन्द्रदेव द्वारा लगाया गया था, यह इस परिवार के प्रथम भूमि अनुदान पत्र (1090) से पता चलता है और जयचन्द्र ने इसे अंतिम रूप से हटा दिया था।[443]

कुछ इतिहासकारो[444] का मत है कि यह गजनी के सुल्तान को दिया जाने वाला वार्षिक कर था जो कि उत्तर भारत के मुस्लिमो को, जो उन्हें समय-समय पर विजित कर चुके थे, देते थे। किन्तु इस मत को कोई मान्यता नही मिली क्योंकि यह किसी साक्ष्य प्रमाण के बिना प्रस्तुत था। बी0पी0 मजूमदार[445] इस सबंध मे महत्वपूर्ण प्रश्न उठते है कि यदि यह तुर्कों को दिया जाने वाला नजराना था तब फिर भी तुर्क बार-बार आक्रमण क्यों करते रहे थे।

स्मिथ[446] महोदय इसे तुर्कों के आक्रमण से सुरक्षा प्रदान करने वाले कर के रूप में देखते हैं। अल्तेकर[447] इसे उस कर के समान बताते है जो चोल राजा वीर राजेन्द्र ने वेंगी के चालुक्य से युद्ध करने के लिए लगाया था।

लल्लन जी गोपाल[448] का मत है कि तुरूष्कदण्ड सभवत: राज्य मे बसने वाले तुरूष्को से लिया जाता रहा है। मूल रूप से यह विचार स्टेन कॉनाउ[449] का है एव बी0पी0 मजूमदार[450] भी इस मत से सहमत है। आर0 नियोगी जी ने दण्ड शब्द पर आपत्ति की जिससे कर

का अर्थ नही निकलता है। किन्तु ऐसा कई उदाहरण प्राप्त होते है जिससे पता चलता है कि दण्ड शब्द अन्य अर्थों मे भी प्रयुक्त है जैसे सुर्वणदण्ड, अहिदण्ड इत्यादि शब्द[452] राजनीतिरत्नाकार[453] मे दण्ड शब्द का प्रयोग देनदारी एव नजराने के रूप मे हुआ है जोकि एक सामत अपने स्वामी को देता है। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[454] ने एक स्थल पर दण्ड का प्रयोग कर, शुल्क इत्यादि रूप मे किया है।

स्टेन कनॉउ[455] ने तुरूष्कदण्ड की व्याख्या हिन्दू जजिया के रूप मे की है। जो उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि यह कर भौगिलिक रूप से केवल उन्ही क्षेत्रो मे लगता था जहा गहडवालो का प्रभुत्व था। आर0 नियोगी[456] ने इसका विरोध यह कहकर किया कि भारत मे धर्म के आधार पर हिन्दूओ के कर लगाने का कोई इतिहास नहीं है। लल्लन जी गोपाल[457] इसे पुनः स्पष्ट करते हुए कहते है कि यह केवल धार्मिक स्तर पर नही था बल्कि आर्थिक आधार पर था। जैसा कि प्रतिहार राजाओ ने मुस्लिमो के बसने पर रोक लगा दी थी उसी प्रकार गहडवालो ने अपने राज्य मे रहने वाले तुर्कों पर कर लगा दिया था जो कि उनकी आय का एक साधन भी हो गया था।

सामंतवाद एंव कराधान:

तत्कालीन समाज में सामतवाद का स्वरूप इतना जटिल हो चुका था कि उसका प्रभाव कराधान पर पडना स्वाभाविक ही था। कुछ सामान्य विशेषताये रखते हुए कर एक राज्य से दूसरे राज्य में एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप मे मिलते है। लक्ष्मीधर[458] समकालीन लेखक देशधर्म शब्द की व्याख्या करते हुए कहते है कि करों का बटवारा बहुत विभिन्नता दिखता है जितना पहले कभी नही था।

धर्मशास्त्रों[459] में यह विधान किया गया है कि जितना परम्परागत रूप से कर लगता है उसे बढाया नही जा सकता किन्तु कुछ सहायक आवश्यकताओं के लिए कुछ सहायक कर लिये जा सकते है। मानसोल्लास[460] में धर्मशास्त्र के विचार को प्रकट करते हुए कहा गया है कि राजा को केवल उपज का 1/8, 1/4, 1/6 भाग उपज की प्रकृति एंव भूमि की प्रकृति के अनुसार लेना चाहिए। किन्तु व्यवहारिक रूप से यह नियम नहीं लागू हो रहा था। लेखपद्वति[461] के एक उल्लेख से पता चलता है कि कुछ छोटे राजा उपज का 2/3 भाग ले लेते थे।

मनसरा[462] मे करो की एक सूची दी गई है जो आम जनता को विभिन्न श्रेणियों के राजा, सामत एव प्रमुखो को घटते हुए क्रम मे देनी पडती थी। इससे पता चलता है कि एक सामान्य नागरिक पर करो का कितना ज्यादा बोझ पड रहा था। यह बताती है कि चक्रवर्ती महाराज या अधिराज, नरेन्द्र, पारसनिक और पट्टहार क्रमश उपज का 1/10, 1/6, 1/5, 1/4 और 1/3 भाग राजस्व के रूप मे लेते थे। इससे स्पष्ट होता है कि इस कराधान की मशीनरी मे जो राजा सबसे छोटे स्तर का था उसका अंश उतना ही अधिक था क्योकि उसे तुरन्त अपने से उच्च अधिकारी को उसका भुगतान करना पडता था और उस अगले को अपने से उच्च को।

इन नियमित करो के अतिरिक्त अन्य और भी करो के उदाहरण मिलते है जोकि कठोर और अनुचित जान पडते है। समकालीन सोढल की उदयसुन्दरीकथा[463] से पता चलता है कि एक राजकीय परिवार का प्रमुख धनी लोगों से पैसे लेने के लिए उन्हें कारागार में बंद कर देता था। चेदि एंव चदेलो के सामतों के अभिलेखों से पता चलता है कि राज्य में कुछ आश्चर्यजनक कर लगाये जाते थे। जैसे अकाशोत्पत्ति(आकाश के उत्पाद पर लगाया गया कर), कल्याणदानम (एक प्रकार का सामंतों को दिया जाने वाला उपहार या नजराना)। जब गुजरात के कुमारपाल ने विशेष माह के विशेष दिन को पशुओ के वध की मनाही कर दी थी तब उसके सामंतों ने इसे भी आय का एक साधन बना दिया था। 84 गाव के प्रमुख ने इसका उल्लंघन करने वाले पर 4 द्रम का दण्ड लगाया जबकि एक दूसरे सामत ने जिसका नाम अलानादेव[466] था, ने 5 द्रम का दण्ड निश्चित किया था। अलानादेव ने कुम्हारो पर भी ऐसा दण्ड लगाया था, जब वे दिनो मे किसी बर्तन का निर्माण करते थे। शखधारा के लटकमेकल[467] मे सामतो द्वारा आरोपित करों पर एक व्यंग्य मिलता है। एक राउतराजा (राज पुत्र प्रमुख) सग्रमाविसरा, जोकि एक ग्राम पट्टक था, उसने घोषणा कर दी थीकि वह गौरिया (छोटा पक्षी), सूअर के मल, एंव मृत शरीर के कफन से भी पैसे बना सकता है। यहा पर यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि गहडवाल और चंदेलो ने दाता के नियमित अनियमित और उचित अनुचित[468] करों की अनुमति दे दी थी जो कि यह

प्रकट करता है कि वे अनुचित को उचित एव अतिरिक्त करो को अनुमति प्रदान करने के स्तर तक पहुँच गये थे।

शासको एव स्थानीय अधिकारियो - के अतिरिक्त अनेक गैर-अधिकारिक एव सअधिकारिक व्यक्ति भी थे, जिनकी भूमि मे बहुत रूचि थी, यदाकदा इनका उल्लेख अभिलेखो मे भी मिलता है जैसे- अक्षपटलप्रशस्ता और प्रतिहारप्रशस्ता गहडवाल अभिलेखो में, बगाल के अभिलेखों में चौरोद्वारण[469] कलचुरी अनुदान पत्र मे दुहसाध्यादाय, गुजरात एव सीमावर्ती क्षेत्रों मे तलारभव्य[470]। ऐसा प्रतीत होता है कि ये नये और अतिरिक्त कर लगाते है जिनका बोझ सामान्य जनता पर पडता होगा।[471]

इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज मे मध्यमवर्ग विभिन्न प्रकार के करों से बुरी तरह घिरा हुआ था, इसका प्रमुख कारण सामंतवादी व्यवस्था मे छिपा हुआ था। यह व्यवस्था जैसे-जैसे जटिल होती जा रही थी शासक एव व्यक्ति के बीच जैसे मध्यवर्ती वर्ग बढता जा रहा था वैसे-वैसे करो का भार भी बढ रहा था, क्योंकि प्रत्येक मध्यवर्ती वर्ग को अपना हिस्सा चाहिए होता था।

समकालीन साहित्य मे इस अनियमित एव अव्यवस्थित कर व्यवस्था के दमनकारी स्वरूप का उदाहरण मिलता है। 11वी शती के दरपदलाना में क्षेमेन्द्र[472] बताते हैं कि शासको द्वारा किसानों का शोषण हो रहा था। सोमप्रभाचार्य के कुमारपालप्रतिबोध[473] मे एक ऐसा संदर्भ आता है जिसमे खून चूसने वाली कर व्यवस्था का विवरण मिलता है। मंत्री लोगो की तुलना जोंक से की गई है क्योंकि वह विभिन्न प्रकार से शोषण करके खजाना भरना चाहते थे। अपराजितपृच्छा[774] मे भी लगभग ऐसा ही विवरण है कि राजाओं ने अपना महत्व, गलत तथ्य को बचाने एव शोषणकारी कर व्यवस्था एंव वित्त व्यवस्था के कारण, खो दिया है।

कश्मीर के शासक श्रीहर्ष[475] के उद्वरण से पता चलता है कि करो का बोझ इतना बढ गया था कि उन्हे किसानो से जबरदस्ती लिया जाता था। दक्षिण भारत के चोल साम्रज्य मे भी करों की उगाही में ऐसी कठोरता के उदाहरण मिलते है। 11वी शती में कर न देने वाले को पानी में खडे रहने या धूप में खडे रहने का दण्ड मिलता था।[476]

अन्तर्देशीय व्यापार

पूर्वमध्यकाल मे भी अन्तर्देशीय व्यापार होता था। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि दैनिक उपभोग की वस्तुए जैसे- गेहू, चावल, दाले, मसाले, धातुए नमक, चीनी इत्यादि की प्रतिदिन प्रत्येक को आवश्यकता होती है, जबकि प्रत्येक वस्तु हर जगह उपलब्ध नही होती, इन्हे ही देश मे विभिन्न भागो से भिन्न-भिन्न भागो में ले जाया जाता था। इस काल के साहित्य जैसे तिलकमजरी[477], राजतरगिणी[478] एव मेधातिथि की टीका[479] मे इस तथ्य से सबधित उदाहरण भरे पडे है जिससे पता चलता है कि व्यापारी देश के एक स्थान से दूसरे स्थान वस्तुऍ ले जाते रहते थे। एक स्थल पर मेधातिथि[480] कहते हैं कि वैश्य अन्तर्देशीय व्यापार कर रहे थे। वह यह भी बताते है कि व्यापारी एक स्थान से आवश्यक सामग्रिया दूसरे राज्य को आयात करते थे। वह वैश्यो को सलाह देते है कि व्यापारियो को यह जानना चाहिए कि किस राज्य मे चावल की ज्यादा खपत है, जौ कब पकता है राज्य के लोकाचार क्या है,व्यक्तियो का व्यवहार कैसा है विभिन्न राज्यों से लाभ और हानि क्या है।[481] उन्हें दूसरे राज्यो की भाषा जाननी चाहिए[482]। कथासरित्सागर[483] से पता चलता है कि एक व्यापारी ने अपने पुत्र को व्यापारिक कारणों, से दूसरे प्रदेश मे जाने की आज्ञा दी थी। कुवलयमाला में उद्योतनसूरी[484] कहते हैं कि व्यापारी एक ही समय मे देश के विभिन्न भागों से व्यापार करते रहते थे। वह बताता है कि लोग हाथी के लिए कोसल, घोडे के लिए उत्तरापथ, याककी पूंछ के लिए पूर्वदिश, जाते थे, जिनके बदले में वे मोती देते थे, द्वारिका के शख, सीपी, बारबारकुल के हाथी दात के बदले मे कपडे देते थे[485] अहार प्रस्तर लेख (उदयपुर) 1952 ई0 से पता चलता है कि कर्नाटक, मध्यप्रदेश, लाट, राजपूताना, टक्क देश के व्यापारी ताट्टननादपुर आते थे और प्रत्येक वस्तु की बिक्री पर कर देने को सहमत होते थे।[486] पेहोआ (कर्नाल) अभिलेखीय 882-83 ई0 के अभिलेख मे देश के विभिन्न भागो से आने वाले घोडे के व्यापारियों के समझौते का उल्लेख मिलता है।[487] एक चहमान अभिलेख[488] मे शहर के सभी बैलो द्वारा उठाई गई टोकरियो पर कुछ लेवी का उल्लेख है। कठियावाड के गुहिल मुख्य के मगोल अभिलेख[489] से पता चलता है कि गांव से शहर को जाने वाले प्रत्येक घोडे, ऊँट एंव गधे पर लदे अनाज, पान के पत्तों से लदे

घोडे पर नकद कर लिया जाता था। परमार चामुण्डराज के अरथुना अभिलेख[490] मे बैलगाडियो पर भरे जौ एव अनाज के बोरो पर कर लगता था। लेखपद्धति[491] मे उल्लिखित है कि दस बैलो, अडतालिस बैलगाडियो पर लदे तिल का शुल्क चार द्रम था जिसमे मार्ग शुल्क एव कर सम्मिलित था। जो व्यापारी अन्तर्देशीय व्यापार मे भाग लेते थे वे ज्यादातर कारवॉ जैसे समूह बनाकर यात्रा करते थे। विश्वरूप[492] नैगम व्यापारियो की सहकारिता) की व्याख्या करते हुए कहते है कि नैगम कारवॉ के व्यापारियो एव अन्यो का समूह है।[493] अपरार्क[494], कारवा की व्याख्या करते हुए कहते है कि विभिन्न जातियो के व्यापारी, व्यापार के उद्देश्य से दूसरे राज्य मे जाने के लिए साथ-साथ यात्रा करते है तब कारवॉ कहलाता है। इसकाल की बृहत्कथाकोष[495] से पता चलता है कि व्यापारी एव कारवॉ प्रमुख दूसरे राज्य के राजा से व्यापारिक अनुमति लेने के लिए सम्पर्क करता था एंव मूल्यवान उपहार भेट करता है।तिलकमंजरी[449] बताती है कि कैसे शहर के बाहरी किनारे पर व्यापारी कैम्प लगाते थे। जिससे राजमार्ग के लुटेरो से बचा जा सके। सुव्रततिलक[497] से पता चलता है कि एक व्यक्ति अपनी शक्ति के घमण्ड मे_कारवॉ से हट गया। जिसे लुटेरों का सामना करना पडा। धनपाल की भविष्यकथा[498] से पता चलता है कि धनी व्यापारी अपने व्यापारी के लिए चलने से पहले घोषणा करवा देते थे जो व्यापारी इच्छुक हो साथ में चले। इस प्रकार के व्यापारी अपनी नागरिकता का प्रमाण अपने पास रखते थे, जिससे दूसरे राज्यों मे उन्हें व्यापार करने की अनुमति प्राप्त हो सके[494]। समराइच्चकहा[500] से पता चलता है कि कारवॉ का प्रमुख सभी व्यापारियो को एकत्रित होकर मार्ग में चलने के लाभ बताता है और उनके निर्देश लेता है एव उस पर अपनी सलाह देता था। त्रिषष्ठीशलाका पुरूष चरित[501] मे एक धनी व्यापारी धना के नेतृत्व मे कारवॉ चलने का विस्तृत विवरण किया गया है कि कैसे वह अपने प्रस्थान के समय नगाडो के साथ घोषणा करता था कि जो व्यापारी इच्छुक हो साथ में चल सकता है। सवारी के लिए मुख्यत. घोडा, बैलगाडी, ऊँट, भैस एव गधे होते थे। गर्मी एंव बरसात के मौसम मे रूककर कारवाँ विश्राम करता था। अपने-अपने लक्ष्य तक पहुँचकर व्यापारी अपना समान बेचते थे ऐव पुन उसके बदले अन्य सामान लेकर वापस लौट आते थे। इसकाल के महत्वपूर्ण नगरो में मुल्तान, जुर्जा

(गुजरात) सिन्डन (देवल के निकट शहर) कानिबया (कम्बोज) मसुर्जन, सैन्दुर, मनसुरा (हैदराबाद के निकट) खबेरिम, असवाल, बनिया (सिन्ध), दरक एव बनारस और कश्मीर अन्तर्देशीय के साथ-साथ विदेशी व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे।

साधन एंव मार्ग की कठिनाइयॉ.

उपलब्ध साक्ष्यो से पता चलता है कि छोटी-छोटी लकडी की गाडियो से समान एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचाया जाता था। जिसे घोडा, बैल, खच्चर, भैंस इत्यादि जानवर खीचते थे।[502] मेधातिथि[503] भी ऐसा ही विचार प्रस्तुत है और साथ ही कहते है कि इन जानवरो को साधन के रूप मे समझना चाहिए। बृहन्नारदीपुराण[504] से पता चलता है कि इस समय की यह विशेष मान्यता थी कि किसी घर के मालिक को ऊँट की सवारी या ऊँट गाडी पर बैठने की मनाही थी। रथ, घोडे, हाथी एव डोला भी आवागमन के साधनो मे सम्मिलित था।[505] राजतरंगिणी[506] से पता चलता है कि नावे भी जलमार्ग मे आवागमन का एक साधन थी। लीलावती[507] में गाडी किराये पर लेने की एक गणितीय समस्या की गणना है कि एक विशेष दूरी के लिए लकडी से लदे बैलगाडी का क्या किराया होगा। मेधातिथि[508] ने भी किराये पर पहिये वाले साधन लेने का उल्लेख किया है।

इस काल की सडकों की दशा अच्छी नहीं थी। जिससे सडक मार्ग से यात्रा करना काफी कठिन था।[509] दामोदरगुप्त अपने कुटटनीमत्तम[510] मे मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को चित्रित किया है। उसके अनुसार भूमि उनका बिस्तर, मंदिर उनके घर एव टूटी ईंटें उनके तकिये का कार्य करते थे। इसके विपरीत कथासारित्सागर[511] में उल्लिखित है कि कुछ निश्चित स्थानो पर सराय बनवाई गई थी जिन मे यात्री आराम कर सकें जो अन्य आवश्यक वस्तुएँ भी उपलब्ध करवाते थे।[512] अब्बूजैद भी ऐसी सराय का उल्लेख करते है। इन सरायो में राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी होते थे जो कि यात्रियो की देखभाल करते थे एंव उन्हें भोजन, पानी, बिस्तर, दवा इत्यादि प्रदान करते थे[513]। महत्वपूर्ण सडकों पर मील के पत्थर लगे हुए रहते थे जिससे यात्रियों को मार्ग ढूढँने में कोई कठिनाई न हो।[514] इस काल के साहित्य में विभिन्न प्रकार की सडकों का उल्लेख मिलता है, जैसे बैजन्ती[515] एंव अभिधानरत्नमाला[516] मे

भारवाही सडक, छोटी सडक, बडी सडक एव बडे मार्गों का उल्लेख मिलता है। देशीनाममाला मे रत्थय[517] (भारवाही सडक) एव लघुरत्थय[518] (छोटी भारवाही सडक) का उल्लेख मिलता है किन्तु इन दोनो मे तकनीकी रूप से क्या अन्तर था यह ज्ञात नही हो सका है। अभिधानरत्नमाला[519] मे सडक शब्द को शहर से संबंधित बताया गया है। इससे प्रकट होता है कि गावो के मार्ग सभवत. कच्चे होते होगे। समरागणसूत्रधारा[520] से एक शहर की रूप रेखा के सदर्भ मे सडको के प्रकार के बारे मे पता चलता है।

राजमार्गों की असुरक्षा :

राजमार्गो की असुरक्षा के कारण पूर्वमध्यकाल मे व्यापार की मात्रा कम होती हुई प्रतीत होती है। अशक्त केन्द्रिय शक्ति एव सामतों की बढती हुई शक्ति के कारण असमाजिक तत्वो की सख्या बढती जा रही थी। इस काल के साहित्य मे मार्ग की असुरक्षा के अनेक उदाहरण मिलते है[521]। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि फाह्यान को लुटेरों ने कभी परेशान नहीं किया, वहीं ह्वेनसाग को लुटेरो ने दो बार लूटा।[522] सदेशरासक[523] मे एक यात्री रात्रि को खराब सडको एव खतरो से भरे होने के कारण कष्टदायक बताता है। त्रिषष्ठीशलाका पुरूषचरित[524] से भी ज्ञात होता है कि कारवॉ का अकसर लुटेरो के खतरे का सामना करना पडता था, शस्त्रधारी पहरेदार ही इन लुटेरो को भगाते थे। उपमितिभवप्रपचकथा[525] मे व्यापारियों के (लुटेरों से) सामान्य डर का उल्लेख किया गया है। कथाकोषप्रकरण[526] एव उपमितिभवप्रपंच[527] कथा मे कई घटनाये ऐसी मिलती है कि व्यापारियो एव उन के कारंवा पर लुटेरों या जगली जनजातियो ने आक्रमण कर दिया हो। भसुकु[528] ने अपने एक गीत में बताया है कि जब वह पदमा नहर पार करके पूर्वी बगाल पहुंचा तब लुटेरो ने उससे सबकुछ छीन लिया, जो उसके पास था। राजतरंगिणी[529] एक शक्तिशाली लुटेरे सरदार का उल्लेख करती है जिसका समूह गया के पास था जोकि एक भयानकता की सीमा तक पहुॅच गया था।

यात्रियों की सुविधाएँ:

कविकान्तभरण[530] एंव देसीनाममाला[531] में सडको के किनारे पानी की सार्वजनिक आपूर्ति के संदर्भ मिलते हैं। तिलकमजरी[532] में यात्रियों के प्रयोग के लिए शहर के किनारे पानी के पोखर का वर्णन किया है।

समयमात्रृक[533] मे एक महिला का उल्लेख है जो कि सराय सचालन करती थी। बाद के एक लेखक हेमाद्रि ने अपनी चतुर्वर्गचितामणी[534] धनखण्ड मे परोपकार के कार्यों मे रेगिस्तान मे पानी एकत्र करना एव कुएँ खुदवाना एव प्यासे यात्री को ठंडे पानी से भरा बर्तन देना सम्मिलित किया है। अब्बूजैदी हसन[535] बताता है कि भारतीयो का परोपकार का एक तरीका यात्रियो के विश्राम के लिए सराय बनवाना भी था। बृहत्कथाकोषसग्रह[536] में एक सहायतार्थ भवन का उल्लेख है। जिसमे यात्री दाढी मूँछ बनवा सकते थे, मालिश करवा सकते थे। प्रबधचितामणि[537] बताती है कि एक सतर्क एंव सचेत राजा ही ऐसे सहायतार्थभवन का रखरखाव कर सकता था। जॅहा यात्रियो को भोजन मिलता, गर्म पानी एंव तेल जिससे वे पैर धोकर अपनी थकान निकाल लेते एव एक कमरा जिसमे वह रात्रि व्यतीत कर सकते थे। तिलकमंजरी[538] राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी को सूचना देती है जो भोजन, पानी एव रहने की व्यवस्था देखता था।

इस काल के भूमि अनुदान पत्र[539] मे अधिकारियों की तालिका मे गामागमिका नाम के अधिकारी का उल्लेख मिलता है जो कि सभवत न केवल गांव के बाहर जोने वाले एव गाव के अन्दर आने वाले व्यक्तियो पर नजर रखती है। बल्कि उनकी सुविधा का भी ध्यान रखते होगें।

नदीमार्ग:

उत्तरभारत मे व्यापारिक उद्देश्यों से सडक मार्ग की अपेक्षाकृत नदी मार्ग अच्छा एंव सुरक्षित साधन था। उक्तिउक्तप्रकरण[540] से पता चलता है कि उत्तरी उत्तर प्रदेश मे नदी मार्ग से यातायात काफी प्रचलित था, नाविको को विभिन्न नदियो के मार्ग एव विभिन्न स्थानो पर उनकी गहराई का ज्ञान होता था। राजतरंगिणी[541] मे नदियो की यात्राओं के कई संदर्भ मिलते है। असम[542] की कुछ नदियॉ यात्रा एंव मालवाहन के लिए प्रयुक्त थी।

आयात एंव निर्यात:

प्राचीनकाल से ही भारतीय वस्तुओ की विश्व के कोने-कोने मे मांग रही है। विशेषतौर पर पूर्वमध्यकाल मे पश्चिम में भारत से समान पर्शिया अरब, अफ्रीका के तटों पर और यूरोप के विभिन्न देशों में भेजे जाते

रहे है। भारतीय वस्तुओ को जलमार्ग से चीन, लका, बर्मा, इण्डोनेशिया और भारतीय आर्चीपिलगो मे भेजा जाता रहा है। चाउ-जू-कुआ[543] के अनुसार विभिन्न देशो के व्यापारी पूर्व और पश्चिम से, भारत आते थे और अपने देशो को विभिन्न वस्तुए ले जाते थे, जहाँ उनकी बहुत माग थी। उस काल के आयात निर्यात की कोई तालिका नहीं प्राप्त है फिर भी उपलब्ध साक्ष्यो के आधार पर निष्कर्ष रूप से इतना जरूर कहा जा सकता है कि भारत से विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का आयात और निर्यात किया जाता था। वस्साफ[545] के अनुसार भारत एक ऐसा देश है जहॉ लोग सोना चादी एव वस्तुऍ निर्यात करते है और उसके बदले मे सीघ, दवायें, पाउडर, पत्थर के टुकडे, विभिन्न सुगन्धित जडे ले जाते है जिससे कि वस्तुओं को खरीदने मे धन कही नहीं जाता था। इब्न खुर्दादबा[546] द्वारा दी गई तालिका मे भारत को निर्यातित वस्तुए मे एलो-लकडी, चदन की लकडी, कपूर का पानी, जायफल, लौग, नारियल , सूखी सब्जिया, वेलवटी सूती वस्त्र सम्मिलित थे। अलइद्रसी[547] बताता है कि सायमुर (चौल) की पहाडियों पर विभिन्न प्रकार के सुगन्धित पौधे पैदा होते थे, जिनका निर्यात किया जाता था। वह इत्र को भी भारत का मुख्य निर्यात बताता है।[548] सूत एव सूती वस्त्र निर्यात का एक प्रमुख तत्व थे। इब्न खुर्दादबा[549] कहता है कि रहमा के देश में सूती वस्त्रो का उत्पादन किया जाता था। सुलेमान इन वस्त्रो की विशेषता बताता है कि ये बहुत बारीक और मुलायम थे कि इससे बनी साडी को एक अगूठी के अंदर से निकाला जा सकता था।[550] रहमा के स्थान को विभिन्न विद्वानों में बंगाल के पाल राजवश से संबंधित किया है।[551] मार्कोपालो[552] और इब्नबतूता[553] ने भी सूती वस्त्र के निर्यात का उल्लेख किया है। सुलेमान एव मसूदी दोनो ने निर्यात की एक अन्य वस्तु का उल्लेख किया है जो यूनिकोरा नाम के जानवर की सींग से बनता था, यह चीन को निर्यात की जाती थी जॅहा इससे फैशनेबल एव कीमत गीर्डल बनाये जाते थे, यह बहुत महगे थे। लियाग शू द्वारा दी गई तालिका में भी यह सम्मिलित है, चाउ-जू- कुआ[555] ने ऐसा उल्लेख किया है। इब्न खुर्दादबा के अनुसार कोस्टस केन और बांस का निर्यात सिन्ध से होता था।[556] एक अन्य स्थल पर वह बताता है कि कोस्टस हिमालय से नील गुजरात से कपूर और रत्नमलय एंव सुमात्रा से सिन्ध के बदरगाह से निर्यात किये जाते थे।[557] चाउ-जू-कुआ[558] के अनुसार लियांग शू मे भारतीय निर्यात की तालिका दी गई है। यह बताती है कि परम्परागत

रूप से भारत से गेडे की सीग, हाथी दात, चीते की खाल, गिरगिट, कछुए की शेल, सोना, चादी, सोने की कढाई वाले चमडे, बारीक कपडे मुसलिन, बारीक फर वाले कपडे होउत्सी[559] निर्यात किये जाते है। चाउ-जू-कुआ[560] ने भारत, गुजरात और मालवा का विवरण देते हुए भारत के अन्य निर्याती के बारे मे जैसे चंदन लकडी अन्य खूश्बूदार लकडी, गन्ने, चीनी, सभी प्रकार के फल इत्यादि बताया है।

गुजरात मे पैदा होने वाले पदार्थो मे नील, लाल रंग, विदेशी सूती कपडे (सभी रगो के) प्रमुख थे। ये वस्तुये बेची जाने के लिए अरब भेज दी जाती थी।[561] मार्को पोलो बताता है कि गुजरात मे कालीमिर्च, अदरक नील और विभिन्न प्रकार का कपास पैदा होता था। आगे वह लिखता है कि उनके कपास का पेड आकार मे काफी बडा होता था, यह 20 वर्ष तक टिका रहता था।[562] आगे वह बताता है कि कैम्बे का कपास भी बहुत अच्छा था[563] मार्को पोलो बार-बार मुलायम और सुन्दर बकरम एव सूती वस्त्र के बारे मे बताता है जोकि कैम्बे से निर्यात होते थे। राशिद-उद्दीन बताता[564] है कि मालवा से चीनी, बदरू (बाम) और बलाडी गुजरात के तट से समुद्री जहाजो से सभी देशो एंव शहरो को निर्यात किये जाते थे। इब्नबतूता[565] निर्यात की एक तालिका देते हैं जिसमें चावल अन्य अनाज और कपास सम्मिलित थे; जोकि भारत से धोफर (जफर) क्वालहट ओमान का दक्षिण, अन्य भारतीय व्यापारिक वस्तुए पात्र इत्यादि, होडमुज और जारवन को तथा अरब, मैसोपोटामिया, खुरासान और शेष ईरान में निर्यात किये जाते थे।

इस प्रकार विभिन्न स्त्रोतो से एकत्र विवरण के अनुसार भारत से निम्नलिखित वस्तुओं का निर्यात किया जाता था- (1) गेडे के सीग (2) हाथीदांत (3) चीते की खाल (4) मारमोट (5) कछुए की शेल (6) सोना (7) चांदी (8) सोने की कढाई के चमडे (9) बारीक कपडे (10) मुसलिन (11) उत्कृष्ट फर के वस्त्र (12) टा-टैंग ?(13) होउत्सी? (14) चदन की लकडी (15) सुगन्धित लकडी (16) गन्ना (17) चीनी (18) फल (19) नील (20) लाल रंग (21) मायरोबैलेन (22) विभिन्न रंगों के कपास (23) सुगन्धित पेड (24) इत्र (25) बद्रू (बाम) (26) बलाडी (27) बालसमारा (28) कालीमिर्च एंव अदरक (29) एलो लकडी

(30) कपूर (31) कपूर का पानी (32) जायफल (33) लौग (34) क्यूबेला (35) नारियल (36) चावल (38) अनाज (39) पात्र इत्यादि।

आयात

निर्यात की ही तरह आयात के सबध मे, पर्याप्त साक्ष्य न होने के कारण पूर्ण विवरण नही प्राप्त होता है। अबू जैद[566] के एक विवरण से ज्ञात होता है कि सिन्ध की दीनार, मुस्लिम शासन काल मे, आमतौर पर भारत मे मगाई जाती थी। मिस्त्र से इमराल्ड (हीरा कीमती पत्थर) मगाते थे जिसे मुद्रा के रूप मे ढालते थे, इसके साथ ही दहनज पत्थर (इमराल्ड के जैसा) भी मगाते थे। 10 वीं शती तक खलीफाओ के शासनकाल मे भारत और मिस्त्र के मध्य व्यापार लगभग समाप्त हो गया था। ऐसा क्रोफड[567] का भी कहना है। अभिधानरत्नमाला[568] मे मदिरा के लिए कपिसायाना शब्द से प्रतीत होता है कि इस काल मे मदिरा कपिशा से आयात की जाती थी। इब्न सैद[569] नाम के एक अरब लेखक के अनुसार सिन्ध के दायबुल के बसरा से खजूर आयात किया जाता था। इब्न बतूता[570] के अनुसार चीन से एक ऐसा मुर्गा आयात किया जाता था जो शर्तुमुर्ग जैसा देखने मे एंव आकार मे बडा था। चीन से मिट्टी का भी आयात किया जाता था।[571] ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल की तरह इस काल मे भी चीन से रेशम का आयात किया जाता था क्योंकि इस काल के साहित्य मे भी चीनाशुक शब्द मिलता है।[572] बसंतविलास महाकाव्य[573] मे उल्लिखित है कि आदिनाथ के मंदिर का झंडा चीन मे निर्मित वस्त्र का बना हुआ था। इब्नबतूता[574] आगे बताता है कि कालीन का आयात भारत मे अक्सरिया, जोकि मैसोपोटामिया मे स्थित है से होता था, सिल्क से सिले कपडे और वेलवेट निशापुर से, आलू बुखार, वाबखाना से आयात किये जाते थे। लका से हाथी मगाये जाते थे। उपमितिभवप्रपचकथा[575] के आधार पर कुछ विद्वान यह निष्कर्ष निकालते है कि दक्षिणपूर्वएशिया से कीमती पत्थर आयात किये जाते थे।इब्न खुर्दादबा[576] के अनुसार एलो लकडी काबुल से आयात की जाती थी और समुद्री रास्ते से कुरा, किलाकन, लुरा और कजा से भी मंगाई जाती थी। पुन: इसका एक विरोधी बयान भी मिलता है यदि अबू जैद और मसूदी[577] के विवरण पर विश्वास करें तो, ये कहते हैं कि मंहगी एलो की लकडी सूर्य के देवता को भेंट की जाती थी। जोकि सुदूर कम्बोडिया से मगाई जाती थी। 999

ई0 मे सग राजवश के वार्षिक विवरण मे विभिन्न वस्तुओ की एक तालिका प्राप्त है, जो या तो भारत से निर्यात होती थी या आयात। इन वस्तुओ के मध्य इस तालिका मे स्टील (पिन ट-ल)[578] को विशेष प्रमुखता दी गई है। कुछ विद्वान इसे दमसीन स्टील मानते है, जिनसे तलवार की धार बनती थी। मार्कोपालो[579] इसे कर्मन का उत्पाद बताते है यूले इसे हैडवैनी अर्थात भारतीय स्टील बनाते है, जोकि काफी प्रसिद्व भी हुआ। सिन्धुराज के समय मे समुद्री व्यापारी, मैदार एक जड जिससे लाल रग बनाया जाता है आयात किया जाता था।[580] किन्तु सभी व्यापारो मे मुख्यतौर पर घोडे का व्यापार ऐसा था, जिसमे हिन्दू मुस्लिम एक साथ काम करते थे। भारत मे घोडे कच्छ के रास्ते से होकर अरब से मगाये जाते थे।[581] सिन्ध मे भी घोडे इसी मार्ग से मगाये जाते थे[582]। यह व्यापार बाद के काल तक चलता रहा। इब्नबतूता बताता है कि अच्छी नस्ल के घोडे भारत मे धोकर, क्वीपच, क्रीमिया, और अजोव से आते थे। दौड मे प्रयुक्त होने वाले घोडे यमन, ओमान और पर्शिया से आयात किये जाते थे।[583] युद्ध के औजार सिन्ध के मुहाने से आयात किये जाते थे[584] । साक्षों के अभाव में आयात की तालिका काफी छोटी प्रतीत होती है लेकिन अल इद्रीसी के कथन से लगता है कि उसकाल मे भारत का आयात भी भारी मात्रा मे था। वह कहता है कि ओमान और चीन के प्रदेशों के सामानो से भरे जहाज भारत मे देबल पर उतरते थे और अन्य वस्तुएँ एव सामग्रियॉ चीन से एंव इत्र और सुगन्धी भारत से ले जाते थे।[585]

गुप्तोत्तर काल के बाद बैजन्टाइन साम्राज्य से सिल्क का व्यापार बंद होते ही इस काल मे भारतीय व्यापार आन्तरिक एंव बाह्य रूप से कमजोर होने लगा क्योंकि इस समय कई विरोधी परिस्थितियॉ एक साथ काम कर कर रही थी जैसे उत्तर भारत की परिस्थिति बहुत अव्यवस्थिजत थी क्योंकि बार-बार अरबो के आक्रमण हो रहे थे, समुद्री लुटेरों का खतरा बढता जा रहा था। फिर गुप्तोत्तर काल का शासन काल अव्यस्थित होने से राजनीतिक परिस्थितियॉ अधंकारमय हो रही थी। समुद्री व्यापार का कम होना इस काल के साहित्य में वर्णित समुद्री लुटेरो के विवरण से स्पष्ट है। बोधिसत्वदान कल्पलता[586], कथासरित्सागर[587] पुरातन प्रबन्ध संग्रह[588], राजतरगिणी[589] वस्तुपाल चरित[590], प्रबन्धकोष[591],

उपमिमिभवप्रपच कथा[592], त्रिषष्ठीशलाका पुरूषचरित्र[593] मे समुद्री लुटेरो का उद्धरण यत्रतत्र आया है।

किन्तु ठहराव का यह युग बहुत दिनो तक नही रहा। 11वी एव 12वी शताब्दी मे पुन प्रगति के लक्षण दिखने लगे। कृषि उत्पादन मे वृद्धि हो रही थी।[594], उद्योगो की स्थिति मे सुधार[595] हो रहा था। 11वी शती के प्रथमार्ध मे सुल्तान महमूद का आक्रमण मदिरो एव शहरो को लूटने इत्यादि से व्यापारिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पडा और सामान्य सम्पत्ति भी इससे प्रभावित हुए बिना न रह सकी। किन्तु बाद मे तुर्क आक्रमणकारी लूटपाट नही कर रहे थे और जब पजाब गजनवी साम्राज्य का स्थाई अंग बन गया तब मुस्लिम व्यापारियों के लिए यह एक अच्छा मार्ग सिद्ध हुआ इससे उत्तरी भारत मे वाणिज्यिक विकास का एक सुन्दर युग प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत के कुछ नये शहर[596], व्यापारिक केन्द्र के रूप मे विकसित हुए और प्राचीन केन्द्र, जैसा कि समकालीन साहित्य से पता चलता है कि धीरे-धीरे सम्पन्न होते हुए प्रतीत होता है[597]। इस काल के कई अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कस्बे एव गाव के बाजार[598] जोकि स्थानीय, पडोसी एव अन्य अन्तर्राज्जीय व्यापार के व्यस्त केन्द्र हो गये थे। कुछ देनदारियों को सिक्को के रूप मे प्रकट करने से पता चलता है कि व्यापारिक लेनदेन मे नकद रूपये देने का प्रयोग हो रहा था। जालौर अभिलेख[599] में निश्रानिकसेप हाट शब्द का उल्लेख मिलता है जिसका तात्पर्य है कि यह एक बाजार जिसमे निर्यात के उद्देश्य से वस्तुओ का भण्डारण किया जाता था। लेखपद्धति के एक विवरण[600] में एक विशेष कर का उल्लेख है जो आयात एंव निर्यात की वस्तुओं पर लगाया जाता था (आगन-निगम-दान)।

व्यापारिक मार्ग जलमार्ग:

पूर्वमध्यकाल से पहले समुद्र द्वारा व्यापार मे पर्शिया, भारत, इण्डोनेशिया, लका सम्मिलित थे। सर्वप्रथम फारस ही इस व्यापार मे प्रमुख था, किन्तु इस्लाम के उदय के साथ ही उसका स्थान अरब ने ले लिया, प्रारम्भिक काल मे अरब केवल लूटमार करते थे[601], किन्तु अरब की विजय के बाद उनका पूर्व का द्वार खुल गया।[602] लगभग इसी समय पश्चिमी देशो में उम्याद खलीफा का नाम आया, इसने एंव चीन के त्यग राजवंशों

ने व्यापार को काफी प्रोत्साहन दिया।[603] 607 ई0 मे चीनी सम्राट ने व्यापारिक सबधो को मजबूत बनाने के लिए ची-तू (स्याम) मे दूतो का एक दल भेजा था काईतान (785-805) द्वारा यात्रा के विवरण से पता चलता है कि चीनवासियो को समुद्री मार्ग की कोई जानकारी नही थी कैन्टन एव फारस की खाडी के मध्य, विशेषतौर पर क्वीलोन के पश्चिम मे[604]। चीनी समुद्री व्यापार में भाग लेने मे काफी धीमे थे किन्तु चीन द्वारा निर्मित जहाजो ने समुद्री व्यापार मे अपना हिस्सा बना लिया था। किन्तु इस व्यापार का अत 878 मे चीन की राजनीतिक उथल पुथल से हुआ अबू जैद इस सबध में विवरण देते हुए कहते हैं कि चीनी साम्राज्य में राजनीतिक आस्थिरता एव नाविको एव व्यापारियो की खराब स्थिति के कारण चीन से व्यापार प्रभावित हुआ।[605]

अब व्यापार का केन्द्र मलय द्वीप के पश्चिम किनारे पर स्थित केदाह बन्दरगाह हो गया, जहॉ चीन एव अरब दोनो जगहो से समुद्री जहाज आते थे। 10वीं शती के अरब लेखको ने इस व्यापार में इण्डोनेशिया के साम्राज्य की महत्ता की चर्चा की है।[606]

पुन. एक बार फिर चीन ने समुद्री व्यापार में रूचि लेनी प्रारम्भ कर दी। व्यापारिक मिशन विदेशो में भेजे जाने लगे, विदेशियों को विशेष सुविधायें प्रदान की जाने लगी इस सब का प्रभाव बढते हुए व्यापार में दिखाई देने लगा, इसकी मात्रा अब इतनी हो गई कि सरकार इसको संचलित एंव नियत्रिंत करने लगी।[607] 12वी शताब्दी में चीनीयों ने यह व्यापार अरबों के हाथ में दे दिया।[608] किन्तु बाद मे दक्षिणी चीन के सग साम्राज्य ने हंगचाऊ को अपना केन्द्र बनाया, जोकि समुद्री व्यापार की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था, जिससे संग साम्राज्य का समुद्री व्यापार की तरफ रूचि का पता चलता है। अब चीन दक्षिण पूर्व एंव भारत के व्यापारिक मार्ग पर नियन्त्रण रख रहा था।[609] कुबलाई खान की अधीनता मे चीन के समुद्री व्यापार को काफी प्रोत्साहन मिला, इससे दक्षिणी समुद्र के व्यापार मे अरब के एकाधिकार को चोट पहुॅची। यह स्थिति इब्न बतूता के समय तक चलती रही, चीनियों ने कालीकट से लेकर मालाबार बदरगाह तक अपने आप को सुदृढ कर लिया था।[610]

व्यापारिक गतिविधि में भाग लेने वाले देश

अरब·

9वी शताब्दी के मध्य से लगभग अरबो ने समुद्री व्यापार मे अपने को स्थापित कर लिया था। समय-समय पर प्रतिरोधो के खडे होने पर भी अरबो ने अपना पांव सभी क्षेत्रो मे जमाये रखा। यद्यपि 10वी शताब्दी मे समुद्री व्यापार विशेषतौर पर इण्डोनेशिया के पश्चिम के देशों, सुमात्रा के सभी बंदरगाहो जावा एव मलाया पर एकाधिकार कर रखा था, किन्तु 12वीं शताब्दी मे उन्हे चीनियो के कठोर प्रतिरोध का सामन करना पडा, जिन्होने मालबार के बदरगाहो तक अपना व्यापार स्थापित करने मे सफलता प्राप्त कर ली थी।

अरबो के समुद्री व्यापार के इस विस्तार का श्रेय इस्लाम के उदय को देना चाहिए।[611] व्यापारियो के लिए यह प्रतिष्ठा का विषय हो गया था कि मुस्लिम धर्म के सस्थापक मुहम्मद साहब जीवन के आरम्भिक काल मे व्यापारी थे।[612] फिर अरबो की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि प्रारम्भ से ही वे पूर्व एव पश्चिम के समुद्री व्यापार मे महत्वपूर्ण स्थिति निभाते थे।[613] अरबों एव मुस्लिमो के विस्तार के फलस्वरूप पश्चिमी एशिया के राजनीतिक एकीकरण से फारस की खाडी एव लाल सागर इसके अधिकार मे आ गये जिससे इस क्षेत्र के अन्य साम्राज्यों मे निराशा की स्थिति आ गई, इससे अरबो के सामुद्रिक व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडा।[614] पश्चिमी एशिया एंव मिस्र के एकीकरण से अरबो ने भारत एंव अन्य पूर्वी देशो को जाने वाले समुद्री व्यापार पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। यद्यपि विस्तृत जानकारी का अभाव है फिर भी इस काल मे अरबी जहाजो के निर्माण का पता चलता है में भी आया।[615] चाउ-जू-कुआ के विवरण से पता चलता है कि, "विदेशी जहाज पानी के ऊपर बहुत ऊँचे थे कि इसकी सीढियॉ चौडाई मे कई टन एवं फीट की होती थी[616]।

लंका (सिलोन):

चीनी साक्ष्यो से पता चलता है कि तंग साम्राज्य के समय मध्य में सिलोन के समुद्री जहाज सबसे ज्यादा आते थे।[617] लंका को मानसून की स्थिति (दिशा)के कारण और लाभ था क्योंकि मलाया से सीधा संबध स्थापित हो सकता था। यहॅा तक कि फाह्यान के समय जब वह

ताम्रलिप्ती से सुमात्रा की यात्रा कर रहा था, तब सिलोन होकर गया था।[618] यह इत्सिग के भारत यात्रा के काल तक चलता रहा।[619] कॉस्मास बताता है कि पूर्व एव पश्चिम के व्यापार के मध्य -सिलोन मार्ग मे पडता था।[619 A] जैन पुस्तक समराइच्चकहा से पता चलता है कि स्वर्ण भूमि मे श्रीपुरा से नाव प्रतिदिन सिहलाद्विप जाते थे।[620]

चीन:

समुद्री व्यापार मे चीन ने सबसे अत मे प्रवेश किया, किन्तु धीरे-धीरे उसने अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियो को पीछे छोड दिया। चीनी जहाज अन्य सभी जहाजो से अच्छे, बडे एव सुरक्षित होते थे। यह स्वाभाविक ही था कि व्यक्ति चीनी जहाजों में ही यात्रा करना पसंद करते थे। इसमें लगभग 600 यात्री यात्रा कर सकते थे, समुद्री डाकूओ से लडने के लिए 400 सैनिक भी रहते थे।[621] 12वी शती के अत तक चीनवासियों ने समुद्री घडी (प्रकार) का प्रयोग करना सीख लिया था, इससे नाविको की वायु, सूर्य एंव तारो से दिशा के ज्ञान पर निर्भरता कम हुई[622] चीनियों ने समुद्र पार देशों के बारे में अपना ज्ञान बढाया एव धीरे-धीरे पश्चिम की ओर बढे।[623] साथ ही चीनी राजा भी चीनी सामुद्रिक व्यापार को प्रोत्साहन एव सरक्षण दे रहे थे। इस कार्य का प्रारम्भ दक्षिण चीन के संग साम्राज्य ने किया जिसका परिणाम कुबलई खान द्वारा किये गये प्रयासो मे परिलक्षित होता है।

इण्डोनेशिया:

भौगोलिक रूप से इसकी स्थिति मध्य मे होने का लाभ इण्डोनेशिया को प्राप्त हुआ। विदेशियो के सम्पर्क मे बराबर आने से इन्होने अपनी नौका निर्माण कला में सुधार किया। कथाकोष[624] से संकेत मिलता है कि इन्डोनेशिया मे नौकायन का कार्य राज्य द्वारा निरीक्षित एंव संरक्षित था।

भारत:

बाशम के अनुसार "जहाज निर्माण की भारतीय तकनीक एंव समुद्र यात्रा इस काल मे अरबो एव चीनियो से पीछे रह गई थी।[625] चीनी एंव अरबी स्रोतों मे भारतीय जहाजो के कोई संदर्भ नही मिलते[626] जिससे प्रतीत होता है कि भारतीय जहाज चीन के जहाजों से छोटे एंव

कम अच्छे होते थे। मार्कोपालो ने अपनी विवरण मे कहा है कि दचीन या मजी के जहाज भारतीय जहाजो से बडे होते थे।[627]

इसके साथ ही भारतीय जहाजो की गति बहुत ही कम थी। चाऊ जु-कुआ[628] बताता है कि पूर्वी सुमात्रा से मलाबार की यात्रा एक माह से थोडे ज्यादा समय मे पूरी हो जाती थी। समराइच्चकहा में पता चलता है कि ताम्रलिप्ति से चले जहाज स्वर्णभूमि पर दो माह मे पहुॅचते थे।[629] जबकि इन्ही मार्गों पर चीन एव अरब के जहाज जल्दी पहुॅचते थे। भारतीय जहाजो की गिरती हुई स्थिति का एक कारण राजनीतिक रूप से इसको सरक्षण एव प्रोत्साहन न मिलना भी था। सामंतवाद के उदय के परिणामस्वरूप राज्यो का आकार एव शक्ति सीमित हो गये थे, जिनके लिए यह सभव नही था कि जल शक्ति की तरफ ध्यान देते। समुद्री लुटेंरों के भय ने इन्हे और सीमित कर दिया था। समुद्री व्यापार से ज्यादा लाभप्रद उन्हे समुद्री लुटेरे बन कर रहना था। दशकुमारचरित[630] से पता चलता है कि ताम्रलिप्ति का एक राजकुमार समुद्री लूटपाट में संलग्न था। जो कि एक बडी जहाज एव अनेक छोटी नौकाओ के साथ यवन जहाजो को चारो तरफ से घेर लेता था। समय-समय पर गुर्जर राजाओं को इसी संज्ञा से विभूषित किया गया । मोतुपल्ली स्तम्भ लेख[631] से भी लगभग ऐसा उदाहरण मिलता है कि काकतीय राजा गणपति देव दावा करता था कि उसके पहले के राजा दो देशो के मध्य जहाजों के युद्ध में टूटे जहाज को जहॉ चाहते थे वहॉ जबरदस्ती ले जाते थे। प्रबधचितामणि[631 A] में उल्लिखित है कि राजा योगराज के तीन राजकुमारो ने सोमेश्वर के बंदरगाह के निकट किसी अन्य देश के जहाज को लूट लिया था। इब्नबतूत भी ऐसा ही विवरण देता है कि समुद्री लूटपाट को राजकीय समर्थन प्राप्त था। इस काल मे बढती समुद्री लूटपाट का उल्लेख प्रबध चिंतामणी[632] उपमितिभवप्रपंचकथा[633] बोधिसत्ववदानकल्पलता[634] से मिलता है। इन सब तथ्यो के साथ भारतीयो मे यह मान्यता थी कि समुद्र पार करते ही उनका धर्म भ्रष्ट हो जायेगा। वृहन्नारदीय पुराण[635] में कहा गया है कि कलियुग में समुद्र यात्रा करने की मनाई होगी क्योकि यह स्वर्ग की प्राप्ति में बाधा पहुॅचाता है।

मनु[636] कहते हैं कि जो व्यक्ति समुद्र यात्रा मे कुशल हो उसके लिए दिया जाने वाला धन सुनिश्चित कर देना चाहिए, जोकि

निश्चित स्थान एव समय पर इससे सबधित अपने लाभ की गणना कर सकते है। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[38] कहते है कि समुद्र यात्रा का उल्लेख केवल यात्रा के लिए किया है, किन्तु केवल व्यापारियो के लिए ही धन देने का प्रावधान है, जोकि जल एव स्थल मार्ग जानते हैं, दिया जाने वाला धन निश्चित कर देना चाहिए। लक्ष्मीधर[39] भी "समुद्र यात्रा मे कुशल'' की व्याख्या करते हुए कहते है कि उनका संकेत केवल व्यापारियो की तरफ है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय समुद्री मार्ग से बडी मात्रा मे व्यापार करते थे तभी तत्कालीन टीकाकारो ने उनके ऊपर कर जैसा लगाने का प्रावधान किया है, जोकि केवल व्यापारियों पर ही था, न कि सामान्य यात्रियो पर।

(1) स्मिथ, समद्दर, ब्रलोर, शामशास्त्री, हॉपकिन्स, ब्यूलर

(2) वेडेन-पावेल, जायसवाल, आयगर

(3) मैने

(4) शतपथ ब्राह्मण 13 7 7 15

(4A) मीमासासूत्र 6 73

(5) स्प्रौट, सोश्लाजी पृ0 153, सेक्शन ऑन टेनर इन द, मीमासा दर्शन 6 7 3

(6) परमर्दीदेव चदेल का अभिलेख (वि स 1230) इपि0 इण्डि0 16 2

(7) लेखपद्धति पृ0 8-10

(8) भूमि पर स्वामित्व के विभिन्न विचार के लिए के0वी0आर0 आयगर, एशिएन्ट इंडियन इकोनॉमिक थॉट 1934

(9) लक्ष्मीधर का राज्यधर्मखण्ड, कात्यायन द्वारा उद्धत पृ0 90

(10) वीरमित्रादेय (राजनीति) बनारस सस्करण पृ0 271

(11) के0पी0 जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी (भाग 2) पृ0 173

(12) यू0एन0 घोषाल, हिन्दू हिस्टिरियोग्राफी एण्ड आदर ऐसे पृ0 164

(13) धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे भाग 3 पृ0 495

(14) असहाय, नारद स्मृति 4 93

(15) भट्टस्वामी, अर्थशास्त्र 2 24

(16) मनुस्मृति 8,39

(17) मेधातिथि मनु पर 8 39

(18) मिताक्षरा, याज्ञ0 4 318

(19) नारदस्मृति व्यवहारखण्ड में उद्धत पृ0 459

(20) नारद स्मृति ,, पृ0 460

(21) सचाउ खण्ड 66 पृ0 149

(22) मानसोल्लास 1.361-62

(23) कात्यायन 16-17

(24) राजनीतिप्रकाश पृ0 271

(25) कृत्यंकल्पतरू पृ0 90

(26) राजतरगिणी 3 101

(27) उपमितिभवप्रपचकथा पृ0 190, 247

(28A) उपमितिभव प्रपचकथा पृ0 190

(28B) मिताक्षरा याज्ञ0 पर 1 38

(29) इपिग्राफिका इण्डिका 36 प्रकाशित 1965 न0 5

(30) मनुस्मृति 9 44

(31) मेधातिथि मनु पर 8 99

(32) देशोपदेश 2 6

(33) सुभाषितरत्नकोश 5 1175

(34) राजतरगिणी 4 55

(35) सेन, जनरल प्रिन्सिपल ऑफ हिन्दू ज्योरिसप्रूडेन्स पृ0 51

(36) आदिपुराण 17. 164

(37) राजतरंगिणी 4.346, 7. 494.

(38) यू0एन0 घोषाल, इण्डियन हिस्ट्रीयोग्राफी एण्ड ऑदर ऐसे

(39) मेधातिथि मनु पर 8 39

(40) मेधातिथि मनु पर 8. 99

(41) लल्लन जी गोपाल, इकोनॉमिक लाइफ इन नार्दन इण्डिया पृ0 8–10

(42) मेधातिथि मनु पर 8 39

(43) मनुस्मृति 8 99

(44) अग्निपुराण 1 57 2–5

(45) कर्पूरमंजरी पृ0 189, 288

(46) राम चरित 3 17.19–20, इलियट डाउसन, द हिस्ट्री पृ0 67

(47) तत्रैव । पृ0 77

(48) जर्नरल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल

(49) तत्रैव पृ0 113 पृ0 282

(50) इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली 1930 पृ0 739

(51) इण्यिन एण्टिर्क्वैरी भाग 14 पृ0 209

(52) पुष्पा नियोगी, कन्ट्रीब्यूशन टू द इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया पृ 3

(53) इण्डि0 हिस्टा0 क्या0 1930 पृ0 739,

(54) द एकाउट आफ वस्साफ इन ई0डी0 भाग 3 पृ0 31

(55) अर्थशास्त्र अनु0 शामशास्त्री द्वि0 संस्करण पृ0 141

(56) बृह्यसहिता अनुच्छेद 55

(57) अग्निपुराण, एशियाटिक सोसाइटी आफॅ बगाल स0 3 अनु0 281

(58) उपवन विनोद इण्डियन पॉजिटीव साइसेज सीरिज न0 I कल0 1935

(59) इण्डि0 हिस्टा0 क्वाट0 1931 पृ0 22-23, लल्लन जी गोपाल (एशिन्एिट हिस्ट्री सेक्शन) 1963-64 पृ0 27-29 वृहत्पराशर (संहिता 5 60)

(60) टी0सी0 देशगुप्ता एस्पैक्टस आफ बगाली सोसाइटी पृ0 229-30

(61) द्वयाश्रयकाव्य,हेमचन्द 19 पृ0 37

(62) अत्रिसहिता 218 (चार छ: आठ बैल) पद्मपुराण 5 45, 107

(63) लेन व्हाइट, मडीवल टक्नौलोजी एण्ड सोशल चेज, पृ0 43

(64) डी0सी0 सेन, बगाली लैग्वेज एड लिटरेचर पृ0 25

(65) अपराजितपृच्छा पृ0 188

(66) तत्रैव पृ0 214

(67) लालराय प्रस्तर अभिलेख नाददौल के चहमान 11 पृ0 49-50

(68) सेवादि प्रस्तर अभिलेख वि0स0 1167/ 1110-50 इपि0इण्डि0 II पृ0 28-30

(69) राजतरंगिणी 5 74-80

(70) राजतरंगिणी 5 85-117

(71) तत्रैव 7 940

(72) मेरूतुगं, प्रबंधचिंतामणि पृ0 78

(73) इपि0 इण्डिका0 II पृ0 325ण्330

(74) तत्रैव I पृ0 132

(75) तत्रैव 14 182

(76) इपि0 इण्डिका 4 पृ0 310

(77) तत्रैव पृ0 183

(78) तत्रैव पृ0 148

(79) तत्रैव अपराजितपृच्छा पृ0 188

(80) शुक्रनीतिसार, अनुवाद बी0के0 सरकार पृ0 148

(81) तत्रैव पृ0 148

(82) इण्डियन एण्टीक्वैरी, भाग 53 पृ0 192

(83) अपराजितपृच्छा पृ0 187

(84) इण्डि0 एण्टि0 भाग 53 पृ0 192

(85) अपराजितपृच्छा पृ0 187

(86) राहुल, हिन्दीकाव्यधारा पृ0 392

(87) बृहन्नारदीय पुराण 1 52, 3 50, 5.7

(88) मेधातिथि 8, 326

(89) मेधातिथि 8 320

(90) द्वयाश्रयकाव्य 3 4

(91) देशीनाममाला I 52, 3 50 5.7

(92) मानसोल्लास 3 1346-48 1358

(93) टी0सी0 देशगुप्ता 2 पृ0 427

(94) राजतरंगिणी 2 पृ0 427

(95) नवगांव कास्य अभिलेख, जर्नलस ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल LXVI पृ0 285

(96) मानसोल्लास 3 1347

(97) अपरार्क याज्ञवक्य पर 1 212

(98) इलियट एंव डाउसन, द हिस्ट्री पृ0 38

(99) तत्रैव पृ0 15-16 इपि0 इण्डि0 10 पृ0 57, तत्रैव 2 पृष्ठ 236

(100) इपि0 इ0 10 पृ0 50 तत्रैव 14 पृ0 310 कुट्टनीमतम 228, नरमामला 1, 124

(101) तत्रैव 1 124 कुटटनीमतम पृ0 228-29. इपि0 इण्डि00 2 पृ0 56

(102) मेधातिथि 8 326

(103) इपि0 इण्डि0 पृ 16 295

(104) काव्यमीमासा 12. रामचरित 3 17

(105) राजतरगिणी 2, 60, 7, 1574

(106) उपमितिभवप्रपचकथा पृ0 285, महापुराण I 10 . 44

(107) आर0सी0 मजूमदार, द हिस्ट्री आफ बगाल 1 पृ0 651 मार्को पालो ट्रैवेल्स 2 पृ0 115 पुष्पा नियोगी इकॉनॉमिक हिस्ट्री इण्डिया पृ0 29

(108) मेधातिथि 8. 321

(109) उपमितिभवप्रपंचकथा पृ0 420

(110) जे ओ एस आर एस I .301 राजतरगिणी 4. 427, 5 365 7.544, 787, 945, 1067

(111) इण्डि0 एण्टी 14. 103 तत्रैव 1 204, इपि0 इण्डि 20 30-36 रामचरित 3 19 पृ0 93 राजतरंगिणी 4,192

(112) महापुराण 3 . 202 नलचम्पू पृ0 79 काव्यमीमासा पृ0 134

(113) मेधातिथि 8. 2

(114) त्रिषष्ठीशलाकापुरूष-चरित, भाग 2 पृ0 32-133

(115) अभिधानचिंतामणि 4. 233

(116) मेधातिथि मनु पर 8. 320

(117) राजतरंगिणी खण्ड ।

(118) सुलेमान का कथन

(119) स्कन्दपुराण पृ0 12

(120) लम्क्ष्मीधर समरागणसूत्रधार पृ0 84

(121) लक्ष्मीधर का गृहस्थखण्ड 158, 157

(122) अर्थशास्त्र ब्रहमचारीखण्ड || अनुच्छेद ||

(123) पृ0 361 इलियट एण्ड डाउसन, द हिन्ट्री ऑफ इडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्ट्रॉरियन

(124) तत्रैव

(125) पृ0 14 इलियट एण्ड डाउसन, द हिस्ट्री . 1 पृ0 14

(126) राजतरगिणी 7. 925, 927

(127) मार्कोपालो, यूले 2 115

(128) मानसोल्लास 3 6 1017-20

(129) मार्को पोलो, सुलेमान 14

(130) इपिग्राफिका इण्डिका no. 21

(131) लेख पद्धति पृ0 32 2.9 10

(132) शांतिस्वरूप, 5000 ई0 आफ आर्ट एण्ड काफटस इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान पृ0 217

(133) रसारत्न सामुच्चय पृष्ठ 43-44 बी0पी0 मजूमदार इण्डियन कल्चर भाग 14 (जु0सि0 1947) नं0 1

(134) पी0सी0 रे, हिस्ट्री आफ हिन्दू कैमेस्ट्री भाग 1 पृ0 156

(135) रर्सानव पृ0 79

(136) बी0 पी0 मजूमदार इण्डियन ग्रेवस, जरनल आफ द आइरन एण्ड स्टील इन्स्टीटयूट 1912 भाग 85 स0 : 1 पृ0 200-2

(137) इण्डियन कल्चर भाग 14 स0 1

(138) इलियट एण्ड डाउसन, ए हिस्ट्री . . 2 पृ0 33

(138A) युक्तिकल्पतरू 5 पृ0 24

(139) HIED 2 पृ0 227 इलियट डाउसन हिस्ट्री 2 पृ0 227

(140) युक्तिकल्पतरू पृ0 170 24 29

(141) सारंगधारा पद्धति सं0 पीटर्सन 1888 पक्ति 4672-79

(142) युक्तिकल्पतरू पृ 170 पक्ति 26

(143) तत्रैव पृ0 170 पंक्ति 27

(144) सारंगपद्धति पंक्ति 4676

(145) युक्तिकल्पतरू 28-29

(146) उत्बी II पृ0 44 इलियट एण्ड डाउसन, ए हिस्ट्री ऑफ मे उत्बी

(147) बी0पी0 मजूमदार इण्डियन कल्चर

(148) रसारत्नसामुच्च 10, 5-6

(149) इलियट एण्ड डाउसन, ए हिस्ट्र 2 पृ0 309

(150) क्षेमेन्द्र कलाविलास काव्यमाला श्रृखला न0 1

(151) हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग1 सस्क0 आर0 सी0 मजूमदार खण्ड 1 पृ0 657

(152) खजुराहो जैन मूर्ति अभिलेख (वि0स0 1215/ई0 1157-58), इपिग्राफिका इण्डिका भाग I

(153) परमर्दिदेव से ग्रा अभिलेख, इपिग्राफिका इण्डिका 4 पृ0 153-70

(154) रामचरित, सन्ध्याकरनन्दि 3, 33-34

(155) नैषधचरित I 42

(156) पैरीप्लस, पृ0 36

(157) यूले, मार्को पोलो भाग 2 पृ0 395

(158) यूले, मार्को पोलो भाग 2 पृ0 383

(159) संदेश रासक पंक्ति 141

(160) एन0के0 भट्टसाली आइकनोग्राफी आफ बुद्धिस्ट एण्ड ब्राहमनिकल स्कल्पचर इन द ढाका म्यूजियम पृ0 17-18

(161) अपराजितपृच्छा पृ0 180 भाग पंक्ति 47

(162) बर्गीस एण्ड काउसेन, आर्केलॉलिकल सर्वे आफ वेर्स्टन इण्डिया पृ0 52

(163) एन0के0 भ्ट्टसाली पृ0 21

(164) नैषधचरित 7.75

(165) ए0 घोष एण्ड के0सी0 पाणिग्रही, एशेन्ट इण्डिया नं0 1

(166) ए0 घोष एण्ड के0 सी0 पाणिग्रही इन एन्शेन्ट इण्डिया न0 1 पृ0 37

(167) एन के भट्टसाली पृ0 22

(168) हिस्ट्री ऑफ बगाल, भाग 1 स0 पा0 आर0सी0 मजूमदार पृ0 656

(169) विक्रमांकदवचरित, 9 64,विद्या 1, 34, भावि0 12 9

(170) कुमारपाल प्रतिबोध 69 8

(171) कूल्लूभट्ट 66 3 2 जर्नलस ऑफ बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसाइटी 3 (1917) पृ0 226-27

(172) तत्रैव व 3 2 (1917) पृ0 226-27

(173) कुमारपाल प्रतिबोध पुराण 7 34-36 स0,ए0बी0 एल0 अवस्थी स्टडीज इन स्कन्द पुराण, 312

(174) भोज युक्तिकल्पतरू पृ0 224-229 मजूमदार बी पी, सोश्यो इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया पृ0 204

(175) राजतरगिणी 5. 84 7 347, 714

(176) अहमद, एस0 एम0, पृ0 35

(177) युक्तिकल्पतरू,अुन 120-21, पृ0 224-229

(178) कमौली लेख, रामचरित का टीका 2 पृ0 10

(179) विजयसेन, देवपाडा अभिलेख 22वी पंक्ति

(180) इलियट एण्ड डाउसन ए हिस्ट्री आफ . भाग 2 पृ0 478

(181) इपिग्राफिका इण्डिका 19 पृ0 56

(182) इलियट एव डाउसन ए हिस्ट्री आफ भाग 2 पृष्ठ 78

(183) महापुराण 2.37,177

(184) स्कन्दपुराण 2.9,5 29 सं0 अवस्थी बी0एल0 स्टडीज इन स्कन्द पुराण पृ0 310-331

(185) महापुराण 2 30-35 देसिनामाला 3 41,45, 8, 9, 6.35, 41, 50

(186) मेधातिथि 11 93, 94

(187) यशोधर की रस प्रकाश सुधाकर, गौडे, भारतीय विद्या 7 (1946) पृ0 148-160

(188) नित्यनाथसिद्ध की रसारत्नकार तत्रैव पृ0 148-160

(189) रसारत्नसामुच्च (9 34-36)

(190) हिन्दू कैमेस्ट्री 11 पृ0 123

(191) अपराजितपृच्छा पृ0 179 आर0सी0 मजूमदार पृ0 658

(192) क्षेमेन्द्र की समयामात्रृका, दशरथशर्मी की राजस्थान थ्रोद एजेज भाग 1 पृ0 490

(193) पुष्पा नियोगी, इको0 लाइफ आफ नार्दन इण्डिया पृ0 247

(194) मेधातिथि 8 41 इपि0 इण्डि0 24 पृ0 331 मिताक्षरा 3 48

(195) इपि0 इण्डि01 पृ0 160, 167-68 174-75

(196) तत्रैव व पृ0 162, 168, 188.

(197) तत्रैव पृ0 166 168 188

(198) मेधा0 8-219

(199) भटटोत्पल, बहत्सहिता पर 34-19, लल्लन जी गोपाल, द इको0 लाइफ आफ नार्दन इण्डिया, पृ0 82, 83

(200) विज्ञानेश्वर याज्ञवल्क्य 2-30

(201) देवण्णभट्ट स्मृति चन्द्रिका 2 पृ0 223

(202) अलबरूनी सचाउ 1 पृ0 101

(203) इपिग्राफिका इण्डिका 23 पृ0 138 पंक्ति 16-17

(204) तत्रैव इपि0, इण्डि 1 पृ0 154 और 285

(205) देवण्णभट्ट स्मृतिचन्द्रिका 2 223

(206) अपरार्क पृ0 792-93

(207) स्मृतिचन्द्रिका 222 और 23 (नारद समयास्यानपकर्म)

(208) याज्ञवल्क्य 2 92 एवं नारद समायास्यानपकर्म 2

(209) अपरार्क पृ0 794

(210) शुक्रनीतिसार (स0 कलकत्ता) 4 5 30

(211) इपि0 इण्डि 1 पृ0 154 161-162

(212) मेधातिथि 3 पृ0 189

(213) इपि0 इण्डि 1 पृ0 189

(214) मेधातिथि 8 211

(215) राजा का उपज मे अंश अर्थशास्त्र मे उल्लिखित भाग स्मृतियो मे बलि, घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ0 290

(216) अल्तेकर राष्ट्रकूटाज एण्ड देअर टाइम्स पृ0 214-16

(217) कीलहार्न इपि0 इण्डि 7 पृ0 160

(218) घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ0 214

(219) फ्लीट कार्पर्स इन्स्क्रिपशन्स इण्डिकारम 3 पृ0 254

(220) अल्तेकर, राष्ट्रकूटाज एण्ड देअर टाइम्स पृ0 214-16

(221) परमार भोज का महुदी और बेतमा लेख, इपि0 इण्डि033 217-18, 322-24 देवपाल का मंधाती लेख, इपि0 इण्डि 9 पृ0 108-13, कलचुरिदान पत्र, इपि0 इण्डि0 7 स0 9 ।

(222) प्रतिहार मलयावरम का कुरेथा दान पत्र इपि0 इण्डि
30 148-50
हम्मीरवमदिव औरवीरवर्म्मदेव, चदेल का चरखारी पत्र, इपि0 इण्डि 20 133-135

(223) यू0एन0 घोषाल, हि0रे0सि0 पृ0 290 डी0सी0 सरकार, सेलेक्टेड इन्स्क्रिपशनस पृ0 372

(224) अमरकोष पर टीका 2 8 28

(225) अर्थशास्त्र की टीका भटटस्वामिन 2.15 जे0वी0ओ0आर0एस0 11 स0 3 पृ0 83

(226) आर0 एस0 त्रिपाठी इण्डियन हिस्टौरिकल क्वाटर्ली 9 पृ0 128

(227) आर के दीक्षित, जे0 यू0 पी0 एच0 एस0 23.243 जर्नल्स ऑफ उत्तर प्रदेश हिस्ट्रौरिकल सोसाइटी 23 पृ0 243

(228) ए0के0 मजूमदार, चालुक्या आफ गुजरात पृ0 248

(228A) इपि0 इण्डि 3 123 245 13 . 34 15 15 22 50 400 32 42 इण्यि0 इण्टिक्वैरी 19.244

(229) मनुस्मृति पर 8.307

(230) मेधातिथि, मनु पर टीक 8.307

(231) कुल्लूक भट्ट मनु पर टीका 8.307

(232) वितरण्यकाधिरम यस्यम भागभोगदिकनकरन पृ0 29 समारागण सूत्रधार

(233) मानसोल्लास भाग 1 पृ0 44

(234) गृहस्थ खण्ड, कृत्यकल्पतरू पृ0 255

(235) अभिलेख 1236 वि0 स0

(236) द्वयाश्रयकाव्य 3 पृष्ठ 18

(237) मेधातिथि मनु पर 8 307

(238) आर0के0 दीक्षित जे0यू0पी0एच0एस0 22 243

(239) अनुवाद अर्थशास्त्र पृ0 58

(240) राजतरगिणी 7 265-67 991; 8 170 इलाहाबाद स्तम्भ अभिलेख 1 22

(241) वैजयन्ती पृ0 107, 1.89, अभिधानरत्नमाला V 433

(242) मनु पर 8 307 मेधातिथि

(243) मनु पर 8 307 कुल्लूकभट्ट

(244) अमरकोष पर 2 8.28

(245) प्राणनाथ द्वारा उद्वत इकोनामिक कन्डीशन पृ0 253

(246) इपिग्राफिका इण्डिका 8 पृ0 44

(247) यू0 एन0 घोषाल द्वारा उद्धृत हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ0 56

(248) सेनार्ट, इपिग्राफिका इण्डिका 7 61

(249) कीलहार्न, इपिग्राफिका इण्डिका 1 7 160

(250) वोगल, एण्टीक्वीटीज ऑफ द चम्बा स्टेट पृ0 167-69

(251) स्टेट इन एन्शिएट इण्डिया पृ0 302 एन0सी0 बेधोवाध्याय

(252) घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ0 62

(253) डी0सी0 सरकार, सेलेक्टेड इस्क्रिपशन पृ0 372

(254) अलबरूनी सचाउ भाग 1 पृ0 149

(255) मानसोल्लास भाग 1 पृ0 44

(256) हरदत्त, गौतमधर्मसूत्र, चौखम्भा सस्कृत माला 10 25

(257) इपिग्राफिका इण्डिका 3 पृ0 36

(258) इपिग्राफिका इण्डिका पृ0 8, 7 पृ0 6

(259) यू0 एन0 घोषाल हिन्दू रवेन्यू सिस्टम पृ0 243

(260) तत्रैव पृ0 260 कस्टम देवपाल का मधातापत्र-इपि0 इण्डि0 9 108 -13

(261) डी0सी0 सरकार सेलेक्टेड इन्सिक्रि पृ0 371, यू0एन0 घोषाल हि0 रे0 सि0 पृ0 210

(262) अल्तेकर राष्ट्रकूटास एण्ड देअर टाइमसपृ0 214 डी0 शर्मा, अर्ली चौहान डायनेस्टी पृ0 211

(263) मिराशी, कार्प0 इन्सि0 इण्डि0 5 पृ0 12

(264) इपि इण्डि0 23 159 एफ0एफ0, मसारूल दानपत्र

(265) मैती- इकनॉमिक लाइफ इन गुप्ता पीरियड पृ0 62

(266) भट्टस्वामिन, अर्थशास्त्र पर 6 15

(267) लल्लन जी गोपाल, दि इकनामिक लाइफ आफ नार्दन इण्डिया पृ0 41

(268) गोविन्द चन्द्र का अनुदान पत्र इपिग्राफिका इण्डिका 2 359-61

(269) मदन लाल के सामत का अनुदान "इपि0इण्डि0 9 न0 1

(270) विग्रहपाल III का अनुदान, "इपि0 इण्डि, 15, 295-8

(271) यू0 एन0 घोषाल, हि0 रे0 सि0 पृ0 219

(272) तत्रैव पृ0 264

(273) इपिग्राफिका इण्डिका 30 262-63

(274) पृ0 253, हरिभद्र की टीका कल्पसूत्र, प्राणनाथ द्वारा उद्धृत इकोनॉमिक कंडीशन पृ0 59

(275) इपिग्राफिका इण्डिका 7 पृ0 उ36

(276) कार्प0 इस्क्रि0 इण्डि0 3. न0 46

(277) धर्मशास्त्र का इतिहास काणे खण्ड 3 पृ0 264-66

(278) इण्डियन एण्टीक्वेरी पृ0 2012

(279) इपि0 इण्डि0 नं0 23

(280) इण्डि0 एण्टी0 पृ0 165

(281) लेखपद्धति पृ0 12-16

(282) इण्डियन एण्टि 5 पृ0 115

(283) फ्लीट कार्प0 इस्क्रि0 इण्डि0 3 पृ0 189

(284) धर्मसिन्धुसार 2 19

(285) सूत्रशास्त्र अनु01 पक्ति 21 बम्बई 1880, पृ0 38

(286) बेनी प्रसाद, स्टेट इन एन्शिएन्ट इण्डिया पृ0 303

(287) जाली हिन्दूलॉ एण्ड कस्टम्स पृ0 268-70

(288) नारदस्मृति 1 11

(289) शुक्रनीतिसार 4.5 161-64

(290) बेनी प्रसाद स्टेट, इन एशिएण्ट इण्डिया पृ0 303

(291) बी0पी0 मजूमदार, सोश्यो इकानामिक हिस्ट्री पृ0 237

(292) आर0 नियोगी पृष्ठ 183

(293) इपि0 इण्डि0 33 244-45 (II 2-8,10-16)

(294) मिराशी, जर्नलस आफ द न्यूमिसमैटिक सोसाइटी आफ इण्डिया 7,29

(295) घोषाल, हि0रे0सि0 पृ0 294

(296) लल्लन जी गोपाल, इको0 हिस्ट्री आफ पृ0 54

(297) बी0पी0 मजूमदार, सोश्यो इकानामिक हिस्ट्री पृ0 233

(298) लल्लन जी गोपाल, इकानामिक हिस्ट्री पृ0 54

(299) आर0 नियोगी, पृ0 183

(300) इला0 सग्रहालय मे गोविन्द चन्द इंपि0 इण्डि0 33, 178-80 मे कुडी को कुटकसे अर्थ ले लिया

(301) यू0 एस0 घोषाल, हि0रे0सि0 पृ0 213

(302) आर0 नियोगी, पृ0 173

(303) लल्लन जी गोपाल, इकानामिक हिस्ट्री पृ0 55

(304) अर्थशास्त्र 5. 2

(305) अर्थशास्त्र 2. 29 30

(306) आर0 नियोगीआई0एच0 क्यू0 पृ0 174

(307) आर0एस0 त्रिपाठी जे एच आर 9 129

(308) बी0पी0 मजूमदार, सोश्यो इकानॉमिक हिस्ट्री पृ0 237

(309) शुक्रनीति 4 2 127

(310) लल्लन जी गोपाल हिन्दू रिवेन्यू सिस्टम पृष्ठ 296

(311) यू0 एन0 घोषाल हिन्दू रि सि पृ0 226

(312) इपि0 इण्डि0 32. 121-23.20 129-31 14. 12&14

(313) इपि0 इण्डि0 9 स 1

(314) यू0एन0 घोषाल, हि0 रे0 सि0 पृ0 215 217

(315) अल्तेकर, राष्ट्रकूटास एण्ड देअर इम पृ0 228

(316) यादव, सोसाइटी एण्ड इकॉनॉमीइन इन नार्दन इण्डिया 800-1200 ई0 पृ0 290 -97

(317) तत्रैव पृ0 152

(318) साख्यतत्वकौमुदी द्वारा जी0 एन झा0 पृ0 53 2. 17-21

(319) कुल्लूकभट्ट (मनुपुर) 7 118

(320) वस्तुपालचरित जामनगर प्रेस सस्करण पृ0 59

(321) वस्तुपालप्रबन्ध, उद्धत बसतविलास महाकाव्य अनुक्र 1 पृ0 83

(322) द्वयाश्रयकाव्य, हेमचन्द्र 3.5.2

(323) लेखपद्धति पृ0 8-9

(324) उदाहरण देखे कलैक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड सस्कृत इस्क्रिपशन्स पृ0 150 पृ0 158

(325) राजतरंगिणी 2 399 7 140 8 2507

(326) फ्लीट (वोगल एण्टीक्स ऑव चम्बा स्टेट पृ0 133

(327) राजतंरगिणी 5 397-98 भाग पृ0 228

(328) स्टेम (राजतरगिणी 5. 397 98)

(329) प्रबन्धचिन्तामणी अनुवाद तावने पृ0 96

(330) ओ0पी0 श्रीवास्तव कमर्शियल टैक्शसन इन इण्डिया पृ0 19

(331) गुणभद्र की उत्तरपुराण

(332) रासमाला, अनुवाद ए0के0 फोर्बस, नई दिल्ली 1973 पृ0 155

(333) मानसोल्लास जी0के0 श्रीगेडेस्कर द्वारा सस्कृरित बडौदा 1925–39 28 भाग I 2-3 374–76

(334) लेखपद्धति पृ0 54–55

(335) डी0 शर्मा, राजस्थान थ्रू द एज, बीकानेर 1966 पृ0 324–26 इपि0 इण्डि 35 पृ0 135

(336) डी0सी0 सरकार इण्डियन एपिग्राफी पृ0 400

(337) इपि0 इण्डि 30 पृ0 176 5 52

(338) डी0सी0 सरकार, स्टडी इन द पालिटिकल एडमिनिस्ट्रेटिव इन एन्शिऐन्ट अर्ली मेडिवल इण्डिया 1974 पृ0 195

(339) इपि0 इण्डि 25 पृ0 225 पंक्ति 32

(340) मिराशी, सी0आई0आई0 पृ0 150–157

(341) सरकार स्टडीज इन पृ0 150–172

(342) एन0जी0 मजूमदार इन्स्क्रिप्शन आफ बगाल भाग 3 1929 पृ0 171– 176 डी0सी0 सरकार इण्डियन इपि0 पृ0 427

(343) जी0एम0 मोरेस, दंकदम्ब कुलएहिस्ट्री आफ एन्शिएट एण्ड मेडिवल कर्नाटक पृष्ठ 381

(344) इपि0 इण्डि, 13 पृ0 195

(345) तत्रैव पृ0 145

(346) नीतिवाक्यामृतम 19.21

(347) यशास्तिलक चम्पू भाग 2 वाराणसी 1971 पृ0 326–27

(348) बीजगणित, संस्करण वी जी आप्टे, पूना 1930 पृ0 122

(349) रासमाला ए0के0 फोर्बस पृ0 192

(350) खतरगच्च्वृहद गुरावावला तत्रैव व सं0 जिनविजय मुनि बम्बई 1957 पृ0 2

(351) जबलपुर प्रस्तर अभिलेख 1377 ई0 (यशकर्ण का) सी0आई0आई0 पृ0 636–649

(352) महालिंगम साउथ इण्डियन पॉलिटी पृ0 441

(353) तत्रैव इसे मुख्य मार्ग का टोल कर बताया गया पृ0 441

(354) एस0आई0आई0 भाग 4 स0 20 पृ0 41 , नान्देल अभिलेख 1167ई0, तत्रैव भाग 10, 429

(355) इपि0 इण्डि 22 स0 20 पृ0 41

(356) सामंतसिह देव का जूना बाडमेर प्रस्तर अभिलेख, इपि0 इण्डि 11पृ04

(357) ओ0पी0 श्रीवास्त "शुल्का इन एंशिएन्ट ----- पृ0 18-22

(358) तत्रैव जे0जी0 जे भाग 37 पृ0 133, 146-407

(359) मृच्छकाटिकम एम0आर0 काले का सस्करण 4 1

(360) लेखपद्धति पृ0 54

(361) कुमारपालचरित अनुवाद एव सस्करण बी0के0 सरकार झासी पृ0 212-13

(362) शुक्रनीतिसार, अनुच्छेद 3

(363) इपि0 इण्डि भाग 21 पृ0 142

(364) इपि0 इण्डि 2 पृ0 117-125

(365) तत्रैव स0 5 पृ0 32

(366) इण्डियन एण्टिक्वैरी, भाग पृ0 162

(367) इपि0 इण्डि0 22 स0 20 4 तत्रैव 3 स036 पृ0 263-267

(368) बिबलोथिका इण्डिका पृ0 158-60

(369) इण्डि0 एण्टि 6 पृ0 201

(370) इण्डियन एण्टिक्वेरी 20 1912 पृ0 23-21, ए0 के0 मजुमदार पृ0 250

(371) इन्साइक्लोपीडिया बिटैनिका भाग 8 लंदन 1960 पृ0 956

(372) अर्थशास्त्र 2,1 28-37

(373) तत्रैव

(374) इपि0 इण्डि II पृ0 124

(375) डी0 सी0 सरकार, हि0 रे0 सि0 141-42,00

(376) डी0सी0 सरकार सेलेक्टइन्स्क्रिप्शन्स भाग II पृ0 285, 290, 303

(377) इपि0 इण्डि 34 पृ0 225 17 तत्रैव 4 पृ0 100-01

(378) गहडवाल नरेश हरिश्चन्द्र का मछली शहर पत्र 1195 इपि0 इण्डि 10 पृ0 95

(379) गहडवाल साक्ष्यो से उद्धृत घोषाल, हि0रे0सि0 पृ0 57

(380) सेनवश का लेख, इन्सि0 आफ बगाल 3 स0 15, लल्लन जी गोपाल इको----- पृ0 61

(381) कार्प0 इन्स्क्रि0 इण्डि0 04 पृ0 545-662

(382) मिराशी ने इसे मदिरा पर का बताया है, कार्प0 इन्सिक्र इण्डि0 पृ0 629-331

(383) 13वी शती के परमार राजवश का लेख, इपि0 इण्डि 33 पृ0 148-156

(384) 1161 वि0स0 का बसाही अनुदान पत्र इण्डि एण्टि 14 पृ0 103

(385) घोषाल, हि0 रे0 स0 पृ0 237

(386) इपि0 इण्डि0 भाग 14 स0 21

(387) कमौली अनुदान पत्र, इपि0 इण्डि 4 सं0 11

(388) त्रिकलिगा के सोमवशी राजा का अनुदान पत्र, इपि0 इण्डि 11 स0 14

(389) त्रिपुरी के कलचुरिका अनुदानपत्र कार्पइन्डिक0 इण्डि0 पृ0 324-31 645-52

(390) आर0 एस0 त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ कन्नौज पृ0 348

(390A) घोषाल हि0 रे0 सि0 पृ0 263

(390B) लेउमन, इपि0 इण्डि 3 एडिशन एण्ड करैक्शन पृ0 8

(391) मिराशी, कार्प0 इन्डिक0 इण्डि0 104 पृ0 324-31

(392) मथनदेव का राजौरी अभिलेख इपि0 इण्डि 3 266-67

(393) लल्लनजी गोपाल, इकॉलाइफ ----- पृ0 48

(394) क्षीरस्वामी का भाष्य अमरकोष पर 2 8 27

(395) अमरकोष त्रिवेन्द्रम सस्कृत ग्रंथमाला न0 51 भाग 3 खण्ड 2 पृ0 6-10

(396) वैजयन्ती, एच0 शास्त्री सस्करण 1971 6 5 89

(397) अभिधानचितामणि नेमिचन्द्र शास्त्री सस्करण 1964 3 388 पृ0 178

(398) दशकुमारचरित, एम0आर0 काले सस्करण 1979 पृ0 192

(399) ह्वेनसाग, वार्टस, पृ0 176

(400) शुक्रनीतिसार, अनुसार बी0 के0 सरकार नई दिल्ली 1975 पृ0 149-257-58

(401) लेखपद्धति पृ0 54, यादव सो0क0 इण्डि पृ0 279 पृ0 294

(402) तत्रैव 294 पृ0 14-15

(403) तत्रैव पृ0 14 तत्रैव

(404) इपि0 इण्डि 28 पृ0 323

(405) सरकार, इण्डि इपि0 पृ0 402

(406) इपि0 इण्डि 23 पृ0 131, सरकार इण्डि एपि गॉल0 पृ0 109

(407) तत्रैव पृ0 199

(408) वैजयन्ती 4 2 18 अभिधानचितामणि 3 543 समयमातृक 5 85 मेरूतुग की प्रबंधचितामणि पृ0 51, 2.13-15

(409) इपि0 इण्डि 9 302 इपि0 इ0 30 पृ0 52

(410) इपि0 इण्डि 18 पृ0 304-07 ततैव 15 पृ0 295-98 आर0 आर0 मुखर्जी एव मैती, कॉपर्स ऑफ बगाल इन्स्क्रि0, कलकत्ता 1967, पृ0 100 130,183,202

(411) कार्प इस्क्रि0 इण्डि0 4 पृ0 390

(412) व्यवहारखण्ड 12 कृत्यकल्पतरू पृ0 789

(413) के0 वी0 आर आयंगर, इन्ट्रोडक्शन टु व्यवहार खण्ड आफ कृत्यकल्पतरू, बडौदा 1958 पृ0 123

(414) तत्रैव पृ0 789

(415) विज्ञानेश्वर याज्ञ पर 2. 263

(416) अपरार्क, याज्ञवक्य पर 2.363

(417) कुल्लूकभट्ट, मनु पर 8.404-407

(418) वी0 काकासभाई पिल्लई दतमिल एटीन हड्रैड ईअरस अगो मद्रास 1904 पृ0 112

(419) रासमाला पृ0 155-188

(420) डी0 शर्मा, राजस्थान थ्रू द एजेस पृ0 491-92

(421) इपि0 इण्डि 25 पृ0 232-33 सी0आई0आई0 4 स0 31-32

(421A) अल्तेकर, स्टेट एण्ड गर्वनमेन्ट आफ ऐन्शेन्ट इण्डिया, दिल्ली 1958 पृ0 278

(422) सियादोनी अभिलेख, इपि0 इण्डि I पृ0 175 20-26

(423) इपि0 इण्डि 3 स0 36

(424) एस0 आई0आई0 8. 851

(425) विस्तृत विवरण के लिए ओ0पी0 श्रीवास्तव शुल्क इन इण्डिया जे0जी0जे0 पृ0 138-139

(426) मेधातिथि, मनु पर 8 406

(427) कुल्लूकभट्ट मनु पर 8. 406

(428) विवादरत्नाकर कु0 स्मृतितीर्थ सस्करण, एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल कलकत्ता 1931 पृ0 305

(429) उत्तरपुराण सस्क पी0 एल0 जैन, वाराणसी 1968 120 पृ0 125-28

(430) श्रीगोडेकर सस्क जी0ओ0एस0 स0 28 बडौदा भाग 1 पृ0 62-374-77

(431) मी0ई0एच0एन0 आई0 पृ0 145-46

(432) इपि0 इण्डि भाग 12 पृ0 195

(433) इपि0 इण्डि0 भाग 10 पृ0 209

(434) मानसोल्लास भाग 2 पृ0 164

(435) तत्रैव भाग 2 पृ0 326 -27

(436) लेखपद्धति पृ0 10, 54

(437) तत्रैव पृ0 93

(438) तत्रैव पृ0 16

(439) तत्रैव पृ0 107

(440A) लेखपद्धति पृ0 13

(440) एशि0 सो0 आ0 इण्डि 1908-9 पृ0 45

(441) बसाही अभिलेख 1103ई0 इण्डि0 एण्टी0 14 पृ0 103 कमौली अनुदानपर 1104 इ0 इपि0 इण्डि 2 पृ0 260

(442) आई0ई0जी0 पृ0 84-85 इण्डि एण्टि 30 पृ0 107 267 इपि0 इण्डि 16 पृ0 52

(443) आर0 नियोगी पृ0 177-78

(444) जरनलस आफ 111 पृ0 113

(445) बी0 पी0 मजूमदार, सोश्यो इकानॉमिक हिस्ट्री पृ0 127

(446) स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया 4 वां सस्क0 पृ0 400

(447) अल्तेकर, राष्ट्र0 एण्ड देअर टाइम्स पृ0 233

(448) लल्लन जी गोपाल इको लाइफ इन ना0 इण्डि0 पृ0 50

(449) स्टेन कनॉउ इपि0 इण्डिका 9 पृ0 321

(450) बी0पी0 मजुमदार, सोश्यो इका ---- पृ0 126

(451) इण्डि0 एण्टी0 14 पृ0 318

(452) इपि0 इण्डि0 28 पृ0 324-26

(453) राजनीतिरत्नाकर पृ0 4

(454) मेधातिथि मनु पर 19 323

(455) स्टेन कनॉउ इपि0 इण्डि

(456) आर0 नियोगी पृ0 179

(457) लल्लन जी गोपाल, इकॉ ला0 इन नादि0 इण्डि पृ0 52

(458) लक्ष्मीधर, व्यवहारखण्ड पृ0 19

(459) राजतरंगिणी, प्रस्तावना सं0 के0वी0आर0 आयंगर पृ0 93

(460) मानसोल्लास 1 पृ044, 163 154, 165, 166

(461) लेखपद्धति पृ0 19

(462) मनसरा प्रशास्ति पी0के0 आचार्य सस्क0 पृ0 284, 29-6

(463) उदयसुन्दरीकथा पृ0 56

(464) इण्डि0 इण्टि0 17 पृ0 244

(465) तत्रैव पृ0 172-73 वि0 स0 1209

(466) इपक पृ0 172 73 वि0 स0 1209

(467) लटकमेकल, भाग II पृ0 18

(468) तत्रैव ''

(469) तत्रैव ''

(470(सी0 पी0 एस0 आई0 पृ0 158 1 19

(471) राजतरगिणी 172-75

(472) दरपदलाना

(473) कुमारपालप्रतिबोध

(474) अपराजितपृच्छा

(475) श्रीहर्ष

(476) चोल

(477) तिलकमजरी पृ0 117

(478) राजतरंगिणी 7 190-195

(479) मेधातिथि 1 90, 31, इपि0 इण्डि0 19 न0 9 पृ0 56

(480) मेधातिथि मनु पर 1 90, 31

(481) तत्रैव 9 331

(482) तत्रैव 90 332

(483) कथासरित्सागर पृ0 85

(484) कुवलयमाला पृ0 65-66

(485) कुवलयमाला पृ0 65-66

(486) इपि0 इण्डि0 19 म0 9 पृ0 56 इण्डि0 एण्टि (1929) पृ0 161

(487) इपि0 इण्डि 1 186

(488) इपि0 इण्डि 11 पृ0 37, डी0 शर्मा ई0सी0डी0 पृ0 208

(489) सी0पी0एस0आई0 पृ0 158

(490) इपि0 इण्डि0 भाग 14 पृ0 21

(517) देसीनाममाला 3 31, 4 39 7 55 8 6 I 145

(518) तत्रैव 3 31

(519) अभिधानरत्नमाला 5 289

(520) समरागणसूत्रधारा 1 पृ0 39 15 पृ0 863

(521) कथासरित्सागर 4 पृ0 192–93 उपमिति पृ0 863

(522) द लाइफ, पृ0 60, 73, 86, 198 इत्सिग पृ0 31–13

(523) सदेशरासक 5 117

(524) त्रिषष्ठीशलाकापुरूषचरित

(525) उपतिभवप्रपचकथा पृ0 363

(526) कथाकोषप्रकरण पृ0 207

(527) उपमितिभवप्रपंचकथा पृ0 633

(528) बौद्धागण-ओ-देएका 49

(529) राजतरंगिणी 7 पृ0 127

(530) कविकातभरण 5 पृ0 22

(531) देसीनाममाला 8 21

(532) तिलकमजरी पृ0 117

(533) समयमात्रृका 2 पृ0 3

(534) हेमाद्रि, चतुर्वगचितामणि धनखण्ड पृ0 421

(535) अबूजैद हसन, एशेन्ट एकाउण्ट आफ इण्डिया एण्ड चाइना पृ0 87

(536) वृहत्कथाकोषसग्रह 18 355–56

(537) प्रबंधचिन्तामणि पृ0 106 2 4–7

(538) तिलकमजरी पृ0 66

(539) कार्प0 इस्क्रि0 इण्डि0 4 7, 25, 26

(540) युक्तियुक्तप्रकरण पृ0 46 1 2 पृ0 39 1 7

(541) राजतरंगिणी 5 847 347, 714, 1628

(542) पी0सी0 चौधरी, हिस्ट्री आफ सिविलइजेशन आफ असम पृ0 379

(543) चाउ-जू कुआ पृ0 113

(544) एच0आई0डी0, जे0पी0 77

(545) तत्रैव 3 पृ0 30

(546) फेरन्ड 31 ए0आई0 के0 पृ0 402

(547) एच0 आई0 ई0 टी0 पृ 85

(548) तत्रैव पृ0 77

(549) एच0 आई0 ई0 टी0 पृ0 14

(550) तत्रैव पृ0 5आर0ए0एस0 पृ0 17

(551) मजूमदार हिस्ट्री आफ बगाल पृ0 122

(552) मार्कोपालो, ट्रवैल्स 2 पृ0 115

(553) इब्नबतूता, पृ0 14

(554) फेरन्ड, 44, 105

(555) चाउ-जू कुआ पृ0 113

(556) एच0 आई0 ई0 डी0 पृ0 15 अनु0 पृ0 53

(557) ए0आई0के0 पृ0 402

(558) चाउ जू कुआ पृ0 113

(559) स्मिथ महोदय इसे लेपीस लजूली बताते है

(560) चाउ-जू कुआ पृ0 111

(561) तत्रैव पृ0 92

(562) मार्कोपोलो ट्रैलेल्स, भाग 2 पृ0 328

(563) तत्रैव'' '' पृ0 228

(564) एच0आई0ई0 1 पृ0 67

(565) इब्नबतूता पृ0 14

(566) कौउ 2 पृ0 311 इकानामिक कन्डीशन आफ साउर्दन इण्डिया

(567) एच0आई0ई0डी0 1 पृ0 11

(568) अभिधानरत्नमाला 2 174

(569) इब्नसैद, फेरान्ड 48 पृ0 404

(570) इब्नबतूता पृ014

(571) तत्रैव

(572) बसतविलास महाकाव्य 10-13

(573) तत्रैव ,, ,,

(574) इब्नबतूता पृ014

(575) उपमितिभवप्रपचकथा । पृ0 404

(576) इब्नखुर्दादबा, एच0आई0डी0 1 पृ0 अनु0 पृ0 54

(577) अबू जैद एंव मसूदी पृ0 8

(578) ब्रिटस्चनिउर, मैडवल रिसचर्स भाग 1 पृ0 146-47 भाग 2 180,193, 272

(579) मार्कोपोलो ट्रैवेल्स 1 पृ0 90, 93, 125, 212, 215

(580) एफ0 आर0 एम0 पृ0 189

(581) ब्रिग्स भाग 4 पृ0 551

(582) एच0आई0ई0डी0 1 पृ0 468

(583) इब्नबतूता पृ0 14

(584) एच0 आई0 ई0 डी0 पृ0 468

(585) तत्रैव I पृ0 77

(586) बोधिसत्व कल्पलता पृ0 113-114

(587) कथासरित्सागर 9 6 140

(588) पुरातन प्रबंध सग्रह,- दशरथशर्मा पृ0 121 से उद्वत

(589) राजतरंगिणी अनुवाद स्टेन 7 1009

(590) वस्तुपाल चरित पृ0 100

(591) प्रबन्धकोष पृ0 53 2 15-18

(592) उपमितिभवप्रपचकथा पृ0 863

(593) त्रिषष्ठीशलाकापुरूषचरित

(594) तत्रैव ''

(595) तत्रैव ''

(596) तत्रैव अनुछेद 5

(597) तत्रैव " 5 लुइसम्फोर्ड द सिटी इन हिस्ट्री पृ0 255

(598) पुष्पा नियोगी पृ0 158

(599) इपिग्राफिका इण्डिका 111 पृ0 60, पुष्पा नियोगी, पृ0 162

(600) लेखपद्धति पृ0 54, 124, विजमी सवत 1288

(601) हाउरनी, अरब सीफारिग पृ0 53-55

(602) तत्रैव पृ0 63

(603) हाउरनी, 'अरब पृ0 61-62

(604) तत्रैव पृ0 10 9-10

(605) ऐशेन्ट एकॉउट आफ इण्डिया एण्ड चाइनापृ0 40

(606) आर0सी0 मजूमदार स्वर्णद्वीप 2 30

(607) चाउ जू कुआ पृ0 18-20

(608) तत्रैव पृ0 22

(609) जे0जे0 एल0 द्वेवेन्दक चाइनास डिस्कवरी आफ अफ्रीका पृ0 15

(610) तत्रैव पृ0 53

(611) तत्रैव पृ0 53-54

(612) के0 ए0 एन0 शास्त्री, फारेन नोटिसस पृ0 20

(613) चाउ जू कुआ पृ0 4

(614) तत्रैव पृ0 53

(415) मोती चन्द्र सार्थवाह पृ0 202

(616) चाउजू कुआ पृ0 9

(617) जे0एम0बी0आर0ए0एस0 31 भाग 2 पृ0 106

(618) नेगी पृ0 100

(619) तत्रैव पृ0 25, 34

(619A) क्रिश्चियन टोपोग्राफी पृ0 365

(620) समराइच्चकहा पृ0 327-28

(621) जे0जे0एल0 द्वेवेन्द्रक चाइनास डिसकवरी आफ अफ्रीका पृ0 18
एच0 ए0 आर0 गिब्ब, इब्नबतूता पृ0 235

(622) चाउ जू कुआ पृ0 20-34

(623) तत्रैव प्रस्तावना

(624) कथाकोष अनु0 (तावने) पृ0 28-29

(625) ए0 एल0 बाशम, आर्टस एण्ड लैटरस 23 पृ0 69

(626) मोतीचन्द्र पृ0 207

(627) यूले 2 पृ0 391 बाशम पृ0 69

(628) चाऊ जू कुआ पृ0 87

(629) समराइच्चकहा पृ0 327

(630) दशकुमारचरित अनुवाद रायडर पृ0 164

(631) इपि0 इण्डि0 12 195

(631A) प्रबधचितामणि पृ0 14

(632) प्रबन्धचिंतामणि पृ0 70

(633) उपमितिभवप्रपंचकथा पृ0 870-72

(634) बोधिसत्ववदानकल्पलता पृ0 113-114

(635) बृहन्नारदीय पुराण 22 12-16, काणे हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र 3 पृ0 928

(636) मनुस्मृति 8 157

(637) मेधातिथि मनु पर 8 157

(638) लक्ष्मीधर, कृत्यकल्पतरू, व्यवहारखण्ड पृ0 284

धार्मिक स्थिति

धर्म का अर्थ.

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका तात्पर्य है धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना। ऋग्वेद मे कई स्थलो[1] पर धर्म, 'धार्मिक विधियो' या 'धार्मिक क्रिया सस्कारो' के रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है। अर्थववेद[2] मे धर्म शब्द का प्रयोग 'धार्मिक क्रिया सस्कार करने से अर्जित गुणो' के अर्थ मे हुआ है। ऐतरेय बाह्मण[3] मे धर्म शब्द सकल धार्मिक कर्त्तव्यो के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद[4] मे धर्म का एक महत्वपूर्ण अर्थ मिलता है, जिसके अनुसार धर्म की तीन शाखाये मानी गयी है (1) यज्ञ, अध्ययन एव दान अर्थात् गृहस्थधर्म (2) तपस्या अर्थात् तापस धर्म तथा (3) ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य के घर मे अत तक रहना।'' यहाॅ धर्म शब्द आश्रम से संबंधित कर्त्तव्यो की पूर्ति की ओर सकेत करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म शब्द का अर्थ समय-समय पर बदल रहा था। किन्तु अन्त मे यह मानव के विशेषाधिकारो, कर्त्तव्यो, बधनो का द्योतक, आर्य जाति के सदस्य की आचार विधि का परिचायक एव वर्णाश्रम का द्योतक हो गया। तैत्तिरीय उपनिषद[5] मे छात्रो के लिए जो धर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह इसी अर्थ मे हैं, यथा, सत्यवद, धर्मचर भगवत्गीता के 'स्वधर्मे निधनं श्रेय:' मे भी धर्म शब्द का यही अर्थ है। धर्मशास्त्र साहित्य मे भी धर्म शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति[6] के अनुसार मुनियों ने मनु से सभी वर्णों के धर्मों की शिक्षा देने के लिए प्रार्थना की थी। एक अन्य स्थल पर मनु स्मृति मे धर्म का मूल, सम्पूर्ण वेद, वेद के जानने वालो की स्मृति और शील, धार्मिकों का आचार और अपने मन की प्रसन्नता, बताया है।[7] लगभग यही अर्थ याज्ञवल्क्य स्मृति मे भी पाया जाता है।[8] तन्त्रावार्तिक[9] के अनुसार धर्मशास्त्रो का कार्य है वर्णों एव आश्रमों के धर्मों की शिक्षा देना। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि[10] के अनुसार स्मृतिकारो ने धर्म के पांच स्वरूप माने है-

(1) वर्णधर्म (2) आश्रमधर्म (3) वर्णाश्रम धर्म (4) नैमित्तिक धर्म (यथा प्रायश्चित) तथा (5) गुणधर्म (अभिषिक्त राजा के संरक्षण सबंधी कर्त्तव्य)।

मनुस्मृति के टीकाकार गोविन्दराज[11] ने भी धर्म के ये पाच प्रकार उपस्थित किये है।

धर्म के उपादान :

गौतमधर्मसूत्र के अनुसार वेदधर्म का मूल है।[12] आपस्तम्ब धर्मसूत्र[13] के अनुसार जो धर्मज्ञ है, जो वेदो को जानते है, उनका मत ही धर्म-प्रमाण है। वशिष्ठधर्मसूत्र[14] का भी यही मत है। मनुस्मृति[15] के अनुसार धर्म के पाच उपादान है- सम्पूर्ण वेद, वेदज्ञो की परम्परा एंव व्यवहार, साधुओ का आचार तथा आत्मसतुष्टि। याज्ञवल्क्य स्मृति[16] मे भी ऐसी ही बात पायी जाती है- वेद, स्मृति (परम्परा से चला आया ज्ञान) सदाचार (भद्रलोगो के आचार-व्यवहार) जो अपने को प्रिय लगे तथा उचित संकल्प से उत्पन्न अभिकाक्षा या इच्छा; ये ही परम्परा से चले आये हुए धर्मोपादान है। इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म के मूल उपादान है वेद, स्मृतिया तथा परम्परा से चला आया हुआ शिष्टाचार (सदाचार)।

मनुस्मृति में वर्तमानकाल के परम्परागत धर्मों या धार्मिकपथो वैष्णव, शैव, तांत्रिक, बौद्ध एव जैन का कोई उल्लेख नहीं मिलता है क्योंकि मनुस्मृति मे धर्म को आचार शास्त्र एव वर्ण, आश्रम धर्म के रूप देखा है, इस कारण से मनुस्मृति के टीकाकारों ने भी किसी धार्मिक पंथ का स्पष्ट रूप से वर्णन नही किया। एक स्थल पर मेधातिथि[17] मनु पर टीका करते हुए कहते है कि पाचरात्र, निर्ग्रन्थ एव पाशुपतलोग आर्यों के समाज से बाहर के है।

मेधातिथि के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज मे ये धार्मिक पथ, पाचरात्र, निर्ग्रन्थ एव पाशुपत प्रचलित थे? मेधातिथि का उपर्युक्त विचार उचित नही जान पडता है, इस तथ्य का सूक्ष्मता से विश्लेषण करना चाहिए।

वैष्णव धर्म -

हिन्दू धर्म मे ज्ञान की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत अवतारवाद का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रधान प्रयोजन धर्म स्थापन और अधर्मविनाशन हैं। वैदिककाल से ही अवतारवाद का प्रारम्भ हो चुका था। अवतार स्वयं विष्णु ही है जिनके अनेक अवतारों की कथा वैदिक युगीन ग्रंथों में विवृत है। विष्णु के वराह रूप का संकेत ऋग्वेद[18] में मिलता है। वामन की

कथा भी ऋग्वेद मे वर्णित है।[19] शतपथ ब्राह्मण[20] मे जलप्लावन की कथा के साथ मत्स्यावतार का उल्लेख है। प्रजापति द्वारा जल के ऊपर कूर्म रूप मे अवतार लेना ब्राह्मण ग्रथो मे उल्लिखित है।[21] तैत्तिरीय सहिता[22] एव शतपथ ब्राह्मण ग्रथो मे वराह अवतार उल्लिखित है।[21] तैत्तिरीय संहिता[22] एव शतपथ ब्राह्मण में वराह अवतार का वर्णन किया गया है। रामायण[23] और महाभारत[24] क्रमश राम और कृष्ण के अवतारो की कथाए है।

वैष्णवधर्म का प्रारम्भिक रूप भागवत धर्म के अर्न्तगत देवकी पुत्र भगवान, वासुदेव कृष्ण के पूजन के रूप मे दर्शित होता है जो सभवत. छठी सदी ई0पू0 के पहले स्थापित हो चुका था। वासुदेव, जो कृष्ण का प्रारम्भिक नाम था, पाणिनी के युग मे प्रचलित था, उस युग मे वासुदेव की उपासना करने वाले 'वासुदेवक कहे जाते थे।[25] वासुदेव के उपासको के प्रारम्भिक अभिलेख भी मिलते है। बेसनगर स्थित द्वितीय शती ई0 पू0 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि यूनानी राजदूत तक्षशिला निवासी हेलियोडोरस ने देवाधिदेव वासुदेव के स्मरण में गरूणध्वज स्थापित कराया था।[26] और अपने को भागवत घोषित किया था। इससे स्पष्ट होता है कि भागवत धर्म का समाज मे इतना अधिक प्रभाव बढ गया था कि कभी-कभी विदेशी भी उसके अनुयायी बन जाते थे। पहली सदी ई0 पू0 के नानाघाट अभिलेख में सकर्षण (वासुदेव कृष्ण के भाई) बलराम और वासुदेव का उल्लेख हुआ है, जो तद्युगीन वासुदेव पूजन के प्रचलन और वासुदेव धर्म के प्रसार को पुष्ट करता है।[27]

वासुदेव के लिये नारायण का भी उल्लेख मिलता है। नारायण की नाडायन शब्द से व्यजना की गई है।[28] नर शब्द का व्यवहार वैदिक देवो के लिए भी हुआ है, इसलिए 'नारायण शब्द' देवो का आश्रय अर्थ अभिव्यक्त करता है.। मत्स्य[29], वायु[30], ब्राह्मण[31] पुराणो में नारायण को विष्णु का स्वरूप माना गया है। वैदिक युगीन अनेक ऐसे सदर्भ मिलते हैं जिनके अनुसार नारायण के मूल आधार का भान होता है। ऋग्वेद में उल्लिखित है कि स्वयंभू नारायण ने समस्त जीवो को धारण किया था।[32] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार नारायण में ही सभी लोक देव, वेद और प्राण प्रतिष्ठित हैं।[33] ऋग्वेद के पुरूषसूक्त[34] में एक ऋषि का नाम नारायण वर्णित किया गया है, जो संभवत· परवर्तीकाल में आकर

वासुदेव अथवा विष्णु से सबधित किया गया । विष्णु के रूप मे नारायण या वासुदेव का अस्तित्व वैदिक युगीन है। ऋग्वेद मे उनकी स्तुति अनेक सूक्तो मे की गई है, उनके विक्रम, पराक्रम और यश मे समस्त जगत समाविष्ट था इसलिए वे विश्व मे व्यापनशील थे।[35] तेरहवी चौदहवी शती मे ऋग्वेद पर भाष्य करते हुए सायण भी विष्णु को व्यापनशील बताते है।[36] उत्तरवैदिक काल के तत्कालीन समाज मे विष्णु का प्रभाव और आयाम बढने लगा, जो महाकाव्य-काल मे आकर और अधिक बढ गया, जिसने उन्हे सृष्टिकर्ता और जगन्नियन्ता का पद प्रदान किया। ब्राह्मण ग्रथो में विष्णु को सर्वोच्च पद प्रदान किया गया है।[37] महाभारत के अनेक स्थलो पर नारायण और विष्णु को परमेश्वर माना गया है तथा वासुदेव भगवान के रूप मे वर्णित किया गया है। युधिष्ठिर ने उनकी स्तुति करते हुए उन्हे 'विष्णु' भी कहा है।[38] पुराणो मे भी वासुदेव का तादात्म्य विष्णु से किया गया है, विष्णु पुराण में वासुदेव को विष्णु का नामधारी वर्णित किया गया है।[39]

पाचरात्रमत का विकास तीसरी सदी ई0पू0 के लगभग हुआ था, जो वैष्णवधर्म का प्रधान मत था। इस मत के अन्तर्गत वासुदेव और उनके स्वरूपो का पूजन-आराधन सन्निहित है। इस सिद्धान्त के अनुसार सकल विश्व का बीज, पौरूषी शक्ति (प्रलय) के रूप मे भगवान् वासुदेव मे समाहित है। उनकी शक्ति इच्छाशक्ति, क्रिया-शक्ति और भूतशक्ति, जो मन, प्राण और भौतिक प्रकृति की क्षमताओ के रूप में है, जागृत हुई । ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज उसके छ गुण हैं, जिनमे ज्ञान और बल, ऐश्वर्य और वीर्य तथा शक्ति और तेज तीन युगल है। ये युगल व्यूह के नाम से ज्ञात हैं। ये तीनों व्यूह सकर्षण (कृष्ण के भाई बलराम), प्रद्युम्न (उनका पुत्र) और अनिरूद्ध (उनका पौत्र) है। इन तीनों व्यूहो के ऊपर वासुदेव व्यूह है।' पॉचरात्र शब्द की उत्पत्ति प्राचीन काल में हुई थी, नारद के अनुसार इसमे परम तत्व, मुक्ति, युक्ति योग और विषय (संसार) जैसे पॉच पदार्थ है। इसलिए यह पॉचरात्र कहा गया है। इसका नियमन स्वंय नारायण ने समग्र प्राणियों के ऊपर आधिपत्य स्थापित करने के लिए किया था। इसका आचार पक्ष वैदिक सिद्धान्त पर आश्रित है। पॉचरात्र एकायन मोक्ष प्राप्ति विद्या का भी सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। भागवतमत और सिद्धान्त को व्यंजित करने वाले प्रधान ग्रंथ पाँचरात्र

सहिताएँ है इनमे से कुछ सहिताओ की रचना चौथी और सातवी सदी के बीच कश्मीर मे हुई है। अमरकोश मे पॉचरात्र मत के सभी व्यूहो का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि पॉचरात्र का मूल वैदिक सहिताओ से ही प्रारम्भ होता है मेधातिथि इसे अवैदिक मानते है, जोकि सत्य नहीं प्रतीत होता है।

शैवधर्म.

शिव की प्राचीनता प्रागैतिहासिक है। नवपाषण युग के अनेक स्थलो से लिंग पूजा के प्रमाण सामने आये है। गुडिमल्ल और भीटा से ऐसे लिग प्राप्त हुए है जिन पर मनुष्य की आकृति मे देवता अकित है। कुछ लोगो ने उनकी प्राचीनता की खोज सैधव सभ्यता मे की है और यह कहा है कि वहॉ से प्राप्त मुहरो पर श्रृगधारी मानवाकार बैठे हुए देवता पाशुपत शिव है और उनका प्रतीक लिग भी चित्रित है जिनके चारो ओर शेर, हाथी आदि पशु बैठे है किन्तु तारतम्य एव श्रृखला के अभाव मे यह मत स्वीकार करना तर्कसगत नही लगता है। ऋग्वेद में शिव के लिए 'रूद्र' नाम का व्यवहार हुआ है, जो अपनी कठोरता और रूद्रता के लिए ख्यात है। उनकी विध्वसकारी शक्ति से बचने के लिए ऋग्वैदिक आर्यों ने उनकी स्तुति और वन्दना प्रारम्भ की, जिससे वे प्रसन्न रहे और अपनी विनाशक शक्ति से मनुष्य को कष्ट न दे। वे अपने अस्त्र से मनुष्य और गाय को हत करते है[40]। अत ऋषियो ने उनकी प्रार्थना की कि वे अपने आयुधो को दूर रखे तथा द्विपदो और चतुष्पदो की रक्षा करे।[41] इस प्रार्थना द्वारा रूद्र के विनाश से लोग बच जाते थे, फलस्वरूप वे उन्हे पशुपति अथवा पशुओ का रक्षक कहते है। ऋग्वेद से ज्ञात है कि उनकी उपाधि पशुप थी।[42] उत्तरवैदिक काल में रूद्र का विकास अधिक तीव्र गति से हुआ। उन्हे शतरूद्रिय और शिवातनु. (मंगलमय) कहा गया और साथ ही पर्वत पर शयन करने के कारण उन्हें 'गिरिश' और गिरित्र नाम से अभिहित किया गया।[43] उन्हे पशुओं का स्वामी कहा गया[44] जो पशुपति (पशुनाम् पति) के रूप में उनका विशिष्ट नाम हो गया। चर्मधारण करने के कारण वे कृर्तिवासन: के रूप में ख्यात थे, उन्हे शर्व-भव भी कहा गया। संभवत· निषाद आदि अनार्यों से सम्बद्ध होने के कारण ही उनको चर्म परिधान धारण करने वाला माना गया था। इस प्रकार इस काल में उन्हे आर्यों के साथ-साथ अनार्यों के देवता के रूप में स्वीकार किया जाने

लगा था। समाज मे रूद्र की महत्ता विशिष्टता और उत्कृष्टता बढती गई। अर्थववेद[45] एव शतपथ ब्राह्मण[46] मे उन्हे सहस्त्राक्ष कहा गया था। निकटवर्ती और दूरवर्ती समस्त पदार्थ उन्ही के थे, साथ ही वे समस्त धनुर्धरो मे श्रेष्ठ थे। उनका आघात सभी देवताओ और मनुष्यो को आहत कर सकता था, अत उनके द्वारा अपनी रक्षा के लिए उनकी आराधना की जाती थी। रूद्र सर्वत्र था जल अग्नि, औषधि, वनस्पति और समस्त भूतो मे । आकाश और अतरिक्ष का वह स्वामी था, वह मूलपति और पशुपति था।[47] सूत्रकाल के ग्रथो मे रूद्र की अपनी अलग विशिष्टता है तथा उनके विवरण से यह पता चलता है कि उनका अनार्य तत्वो पर प्रभाव था। उनको प्रसन्न करने के लिए पशुबलि की व्यवस्था की गई थी जो ग्राम सीमा के बाहर आयोजित की जाती थी तथा अवशिष्ट ग्राम मे नही लायी जाती थी।[48] श्वेताश्वतर, अर्थवशिरस जैसे उपनिषदों मे शिव के दर्शन और ज्ञान तत्व की मीमासा की गई हैं तथा उनका संबध ईश्वर, जीव और प्रकृति के तत्वो से स्थापित किया गया है। महाभारत में शिव का उल्लेख सर्वोच्च और शक्तिशाली देवता के रूप में हुआ, जिनसे पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए अर्जुन को हिमालय जाना पडा था।[49] पाणिनी पर भाष्य करते हुए पतजलि ने शिव की मूर्ति बनाकर पूजा करने की बात कही है। शक शासक मोग की मुद्राओं पर त्रिशूलधारी शिव अंकित है। कुषाण शासक विमकडफिसस के सिक्को के पृष्ठभाग पर नन्दी और त्रिशूलग्राही, चर्मधारण किए हुए शिव की आकृति उत्कीर्ण है। गुप्तकाल मे ही पाशुपत सम्प्रदाय का अत्यधिक विकास हुआ। इसका उल्लेख महाभारत मे भी हुआ है।[50] जिसका उपदेश ब्रह्म के पुत्र भूतनाथ, श्रीकृष्ण, उमापति शिव ने शातचित्त होकर दिया था। पाशुपत मत का विकास क्रमश हुआ तथा इसका उल्लेख पुराणों और अभिलेखों मे मिलता है। वायु पुराण[51] और लिंग पुराण[52] के विवरणो के अनुसार पाशुपत मत का उद्भव लकुलिन अथवा लकुलीश नामक ब्रह्मचारी द्वारा हुआ था, जो शिव का अवतार था, कुषाण शासक हुविष्क (दूसरी सदी ई0) की मुद्रा पर इसी प्रकार का चित्र अंकित है जो इस सम्प्रदाय के विषय में ज्ञान प्रदान करने वाला सर्वाधिक प्राचीन प्रमाण है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (चौथी सदी) के मथुरा-स्तम्भलेख में उल्लिखित है कि उदिताचार्य नामक एक पाशुपत अनुयायी ने उपमितेश्वर

और कपिलेश्वर नामक दो लिगो की स्थापना की थी।[53] बाण ने पाशुपत सम्प्रदाय को शैवधर्म के रूप मे विवृत किया है, जिसके अनुयायी अपने ललाट पर भस्म लगाते और रूद्राक्ष की माला लिए रहते थे।[54] ह्वेनसाग ने लिखा है कि सिध और अहिच्छत्र के लोग बौद्ध नही थे, भस्म रमाने वाले पाशुपत मत के मानने वाले थे[55]। चाहमान शासक विग्रहपाल के एक अभिलेख मे पाशुपत सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है जिसके अनुसार शैव मतावलम्बी अल्लट ने एक शिव मंदिर का निर्माण कराया था जो पाशुपत शिव का सत्यनिष्ठ भक्त था।[56]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पाशुपत मत भी समाज में काफी प्रचलित था। शैवधर्म एव पाशुपतधर्म में कुछ आधारभूत भिन्नताएँ थी। पाशुपत सम्प्रदाय का प्रवर्तक लकुलीश एक ऐतिहासिक मनुष्य था।[57] वायु पुराण मे पाशुपत मत के सिद्धान्तो और उसके योग पक्ष पर विचार किया गया है तथा साधना और उपासना का भी सकेत किया गया है।[58] पाशुपत सूत्रों के भाष्यकार कौडिन्य ने पाशुपत चर्याओ को ब्राह्मण विरोधी बताया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाशुपत सम्प्रदाय जाति पांति के भेद को नही मानता था, इस कारण मेधातिथि को यह भ्रम हो गया होगा कि यह कि अनार्यधर्म है यद्यपि शैवधर्म के लिगोपासकों को अनार्यों से प्रेरित माना गया है किन्तु शैव धर्म मूलत. वैदिक सभ्यता से चला आ रहा है, एव पाशुपत धर्म जोकि शैव धर्म की एक शाखा है वह सिद्धान्तो एव दर्शनो पर आधारित है। पाशुपत सिद्धान्त के अर्न्तगत पाच पदार्थों को स्वीकार किया- (1) कार्य (2) कारण (3) योग (4) विधि और (5) दुखात ।

जैन धर्म या निग्रंथ :

जैन धर्म का विकास छठी सदी ई0 पू0 में हुआ, जब इसके चौबीसवे तीर्थकर महावीर स्वामी ने अपने नये विचारो, सिद्धान्तों और कार्यों से इसे नया जीवन दान दिया। हिन्दू धर्म के प्रतिरोधी धर्म के रूप में जैन धर्म का भी विकास हुआ था, इस धर्म के दर्शन एव सिद्धान्त हिन्दू धर्म से पूर्णत पृथक है।

जैन धर्मावलम्बियो के अनुसार जैन धर्म की प्राचीनता प्रागैतिहासिक है, उनके अनुसार मोहनजोदडो से प्राप्तयोगी की मूर्ति इस धर्म के आदि प्रवर्तक ऋषभदेव की है। वेदों में उल्लिखित कतिपय नामो

को जैन तीर्थकरो के नामो के साथ जोडा जाता है। ऋग्वेद[59] के एक स्थल पर ऋषभ शब्द आया है, जिसे ऋषभदेव के साथ समीकृत किया जाता है। यजुर्वेद मे भी उल्लिखित है कि ऋषभ धर्म प्रवर्तको मे सर्वश्रेष्ठ है।[60] अर्थववेद[61] एव गोपथ ब्राह्मण[62] मे सकेतित स्वयभू काश्यप का तादात्म्य ऋषभदेव से किया जाता है। ऋषभदेव का उल्लेख श्रीमद्‌भागवत मे भी हुआ है।[63] किन्तु किसी ठोस प्रमाण के अभाव मे इन्हे एकदम सत्य नही माना जा सकता था।

जैनधर्म मे कुल 24 तीर्थकर हुए, जिन्होने समय समय पर जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया तथा अपने नये सिद्धान्तो से लोगो को आकृष्ट किया। ऋषभदेव जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर थे, जिन्होने सर्वप्रथम शुद्ध आचरण, पावन चरित्र और पवित्र मन पर बल दिया। जैन धर्म के व्यवस्थित और सुनियोजित ज्ञानतत्व, चिन्तन पक्ष और दर्शन तत्व का स्वरूप ऐतिहासिक पुरूष तेईसवे तीर्थकर पार्श्वनाथ के निर्देशन मे पल्लवित और पुष्पित हुआ। उन्होने अपने उपदेशो से स्त्री पुरूष सभी लोगो को जीवन और जगत् की वास्वतिकता समझायी। साकेत, राजगृह, अहिच्छत्र, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, श्रावस्ती आदि विभिन्न नगरो का भ्रमण कर उन्होने अपने धर्मोपदेश से निस्पृह और सुधी लोगो को अपना अनुयायी बनाया। सासारिक बधनो और मोह-स्पृधाओं से अलग होकर उनके निर्देशो पर जो चलते थे, वे अनुयायी निर्ग्रन्थ (अर्थात् बंधनरहित) कहलाते थे । उनके सिद्धान्तो मे हिन्दू धर्म के देववाद, कर्मकाण्ड, हिसात्मक यज्ञ, वर्ग और जाति व्यवस्था का विरोध तथा अहिसा और अभेद का समर्थन है। उन्होने कायाक्लेश तपश्चर्या से मोक्ष प्राप्ति का मार्गदर्शन किया।

जैनधर्म के चौबीसवे तीर्थकर वर्धमान महावीर के नेतृत्व मे इस धर्म का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ । उन्होने अपनी अद्‌भुद प्रतिभा और बुद्धि से पार्श्वनाथ द्वारा प्रचारित्व सिद्धान्तो में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके उन्हे सवर्धित किया तथा उनके प्रचार-प्रसार में उन्होने अविस्मरणीय योग प्रदान किया। जैन धर्म के सिद्धान्तों मे निवृत्ति मार्ग का प्रधान स्थान है, जिसके माध्यम से व्यक्ति जगत की नाना प्रकार की व्यााधियो और तृष्णाओ से विमुक्त हो जाता है। प्रवृत्ति और वाछा मे लिप्त व्यक्ति सुख और समृद्धि के लिए सर्वदा भोग और तृष्णा मे व्यस्त रहता है।

सासारिक वस्तुओ को अधिकारिक प्राप्त करने से भी उसे सतोष नही मिलता, अत जगत के समस्त सुख ही दु ख का कारण है। प्रवृत्ति का त्याग करके निवृत्ति का अनुपालन ही वास्तविक और स्थायी सुख का-मूल है।[63] परिव्राजक की स्थिति मे ही शाति प्राप्त होती है, जब मनुष्य समस्त सुखोपभोग से अलग होकर निवृत्ति की ओर बढता है।

इस प्रकार जैन धर्म के सिद्धान्तो व दर्शन के मूल मे न जाते हुए भी हम यह कह सकते है कि जैन धर्म ब्राह्मणधर्म के विरोध मे उठ खडा हुआ था, सभवत इसी कारण मेधातिथि इसे अनार्यों का धर्म बताते है, किन्तु इससे इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल मे जैन धर्म का अस्तित्व बना हुआ था तभी मेधातिथि ने इसका उल्लेख किया है।

पातक :

पाप या पातक ऐसा शब्द है जिसका आचार शास्त्र की अपेक्षा धर्म से अधिक सबंध है। सामान्यत ऐसा कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा कृत्य है जो ईश्वर या उसके द्वारा प्रकाशित किसी व्यवहार (कानून) के उल्लघन अथवा जान बूझकर उसके विरोध करने से अद्भूत होता है; यह ईश्वर की उस इच्छा का विरोध है जो किसी प्रमाणिक ग्रथ मे अभिव्यक्त रहती है, अथवा यह उस ग्रथ मे पाये जाने वाले नियमों के पालन में असफलता का परिचायक है।[64]

विष्णुधर्म सूत्र[65] ने नौ प्रकार की त्रुटियॉ (दोष या पाप) गिनाये है, यथा- अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, जातिभ्रंशकर (जातिच्युत करने वाला) सकरीकरण (जिससे वर्णसकरता उत्पन्न होती है), अपात्रीकरण (किसी को शुभ कर्म के आयोग्य ठहराना) मलावह (गदा करना) एंव प्रकीर्णक। विष्णु[66] के अनुसार अतिपातक - माता या पुत्री या पुत्रवधू के साथ संभोग करने वाला है और इसके लिए अग्निप्रवेश ही एकमात्र प्रायश्चित है। कात्यायन ने दुष्कृत्यों को पांच कोटियों मे बाटा है- महापाप (प्राणहारी पाप), अतिपाप (जिनसे बढकर कोई अन्य महत्तम पाप न हो) पातक (ऐसे पाप जो महापातक के समान है), प्रासगिक पाप (जो संग या संसर्ग से उत्पन्न हो), एंव उपपातक (साधारण पाप)। वृद्ध हारीत[67] ने भी पांच प्रकार दिये है- यथा- महापाप, पातक, अनुपातक, उपपातक एंव प्रकीर्णक (अन्य नाना प्रकार) और कहा है[68] कि ये पाप जो

महापाप कहे जाते है, पातक है, अनुपातक से कम गम्भीर है, उपपातक अनुपातक से कम गम्भीर है तथा प्रकीर्णक सबसे कम अथवा हल्के पापमय कृत्य है। मनु ने अतिपातक एव अनुपातक का उल्लेख नही किया- है और इनमे से अधिकाश को उनकी सज्ञा दी है जो प्रसिद्ध चार महापातको मे गिने जाते है। हारीतधर्म सूत्र (मिताक्षरा द्वारा उद्दृत) को अनुपातक नामक पातको की कोटि ज्ञात थी, किन्तु उनके कतिपय पातको के अनुक्रम से प्रकट होता है कि उन्होने मनु के अतिपातक को महापातक से कम पाप समझा है। वसिष्ठ[69], मनु[70], याज्ञवल्क्य[71], विष्णु[72] एव वृद्ध हारीत[73] मे पातकों को गिनाया गया है, मनु, याज्ञवल्क्य एव विष्णु ने सभी प्रकार के पापो का विस्तृत विवरण उपस्थित किया है। किन्तु इन तीनो मे भिन्नता है। जैसे मनु[74] का कथन है कि उक्त बह्मोज्झता (वेदविस्मरण), वेद निदा, कौट साक्ष्य (गलत गवाही) सुहृदवध (मित्रहत्या), गर्हित एव न खाने योग्य (अनाद्य) भोजन करना, ऐसे कर्म सुरापान के समान पातक है। याज्ञवल्क्य[75] का कथन है कि इसमें प्रथम तीन (वेद निदा बहमोज्झता एंव मित्रहत्या) एव असत्य दोषो को मढकर गुरूनिदा करना ब्रहम हत्या के समान है।

1- ब्रह्महत्या

ब्रह्महत्या या वध शब्द का प्रयोग उस कर्म के लिए होता है जिसके करने से तुरन्त या कुछ समय उपरान्त बिना कोई अन्य कारण उपस्थित हुए जीवन की हानि होती है। अग्निपुराण[76], मिताक्षरा[77] एव प्रायश्चित विवेक[78] एंव अन्य ग्रन्थो में वध की परिभाषा दी है। ब्राह्मण या किसी की भी मृत्यु के लिए पाच प्रकारों से वध का कारण हो सकता है, यथा- वह स्वयं हत्या कर सकता है कर्ता, वह प्रयोजक हो सकता है (अर्थात् दूसरे को हत्या करने के लिए उकसा सकता है) अनुमंता अर्थात् वह अपने अनुमोदन द्वारा दूसरे को उत्साहित कर हत्या करा सकता है। अनुग्राहक अर्थात् जब हत्यारा हत्या करने से हिचकिचाये तो उसकी सहायता कर सकता है; निमित्त (कारण) होकर वह हत्या करा सकता है।

सामविधान ब्राह्मण[79], आपस्तम्ब धर्मसूत्र[80], वसिष्ठ[81], मनु[82] एंव याज्ञवल्क्य[83] का कथन है कि वेदज्ञ या सोमयज्ञ के लिए दीक्षित क्षत्रिय एंव वैश्य की हत्या भी हत्यारे को ब्रह्महत्या का अपराध लगाती है, किसी ब्राह्मण के अज्ञातलिंग भ्रूण तथा आत्रेयी (रजस्वला) नारी की हत्या भी

ब्रह्महत्या ही है। याज्ञवल्क्य के ऊपर टीका करते हुए विश्वरूप[84] का कथन है कि किसी स्त्री को जानबूझकर मार डालने पर किसी भी प्रायश्चित से पाप का छुटकारा नही हो सकता।

प्राचीनकाल से ही लेखको एव पूर्वमध्यकाल के लेखको के दृष्टिकोण मे एक बहुत बडा क्रातिकारी परिवर्तन तब दिखता है जब मिताक्षरा[85] ने आत्मरक्षा केलिए ब्राह्मण की हत्या को उचित ठहराया, राजा उसे (आत्मरक्षार्थी) को नही दण्डित करता, उसे केवल हल्का प्रायश्चित करना पडता है, अर्थात् वह ब्राह्महत्या का अपराधी नही होता था। जबकि प्राचीन काल मे कैसे भी ब्राह्मण, चोर, व्यभिचारी किसी को भी मारने की अनुमति नही थी, या मारने पर कठोर दण्ड का विधान था।

2- सुरापान

ऋग्वेद[86] मे इसे द्यूत के समान ही पापमय माना गया है। मनु[87] ने सुरापान को महापातको मे गिना है, याज्ञवल्क्य[88] ने मद्यप को पाच महापापियो मे गिना है। मनु[89] के मत से सुरा भोजन का मल है और यह तीन प्रकार की होती है- (1) जो गुड या सीरा से बने (2) जो आटे से बने (3) जो महुआ या मधु से बने। विष्णु[90] ने खजूर, पनसफल, नारियल, ईख आदि से बने सभी मद्य प्रकारो का वर्णन किया है। मिताक्षरा[91] ने सुरापान का निषेध उन बच्चों के लिए, जिनका उपनयन सस्कार नही हुआ रहता तथा अविवाहित कन्याओं के लिए माना है, जबकि मनु ने[92] सुरापान के लिए लिंग अन्तर नही बताया है और प्रथम तीन उच्च वर्णों के लिए इसे वर्ज्य माना है। भविष्यपुराण में स्पष्ट रूप से ब्राह्मण नारी के लिए सुरापान वर्जित बताया है। वसिष्ठ[93] एव याज्ञवल्क्य[94] का कथन है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य की सुरापान करने वाली पत्नी पति के लोकों को नहीं जाती और इस लोग में कुक्कुरी या शुकरी हो जाती है। मिताक्षरा[95] का कथन है कि यद्यपि शूद्र को मद्यसेवन मना नहीं है, किन्तु उसकी पत्नी को ऐसा नहीं करना चाहिए।

मिताक्षरा के कथन से ऐसा आभास मिलता है कि पूर्वमध्यकाल मे पुरूषों के साथ-साथ स्त्रियॉ भी सुरापान का आनन्द लेने लगी थी। यदि ऐसा प्रचलन न होता तो मिताक्षरा में अविवाहित कन्याओं के लिए इसे वर्ज्य न बताया जाता और न ही शूद्रों की पत्नी को

सुरापान न करने का विधान किया जाता अर्थात् इस काल मे सुरापान का प्रचलन बढता हुआ सा प्रतीत होता है।

3- स्तेय चोरी

टीकाकारो के अनुसार वही चोरी महापाप के रूप मे गिनी जाती है जिसका संबध ब्राह्मण के किसी भी मात्रा के हिरण्य (सोने) से हो। आपस्तम्ब धर्म सूत्र[96] के अनुसार स्तेय, एक व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति के लोभ एंव बिना स्वामी की अनुमति से उसके लेने से चोर हो जाता है, चाहे वह किसी भी स्थिति मे क्यो न हो । कात्यायन[97] के अनुसार जब कोई व्यक्ति गुप्त या प्रकट रूप से दिन या रात में किसी को उसकी सम्पत्ति से वचित कर देता है तो चोरी कहलाती है। यद्यपि मनु[98] एव याज्ञवल्क्य[99] ने केवल स्तेय (चौर्य), स्तेन (चोर) शब्दो का प्रयोग किया है किन्तु स्तेय के प्रायश्चिम के विषय में लिखते हुए मनु[100] (सुवर्णस्तेयकृत) एव याज्ञवल्क्य[101] (ब्राह्मणस्वर्णहारी) ने यह विशेषता जोड दी है कि उसे सोने के अपराध का चोर होना चाहिए। वसिष्ठ[102] एंव च्यवन[103] ने ब्राह्मण-सुर्वण हरण को महापातक कहा है। सवर्त[104] एंव विश्वामित्र[105] विश्वरूप[106], मिताक्षरा[107] मदनपारिजात[108], प्रायश्चित प्रकरण[109], प्रायश्चित विवेक[110] एंव अन्य टीकाकारों ने एक अन्य विशेषता भी जोड दी है कि चुराया हुआ सोना तोल मे कम से कम 16 मात्रा मे होना चाहिए, नही तो महापातक नही सिद्ध हो सकता अत: यदि कोई व्यक्ति किसी ब्राह्मण के यहॉ से 16 माशे से कम सोना चुराता है या अब्राह्मण के यहॉ से वह मात्रा में (16 माशे से अधिक भी) सोना चुराता है तो वह साधारण पाप (उपपातक) का अपराधी होता है।

गुरू अंगनागमन

मनु[111] ने गुरू अगनागमन शब्द का प्रयोग किया है किन्तु याज्ञवल्क्य[112] एव वसिष्ठ ने अपराधी को गुरूतल्पग (जो गुरू की शैय्या को अपवित्र करता है) एंव वसिष्ठ[113] ने इस पाप को गुरूतल्प (गुरू की शैय्या या पत्नी) की संज्ञा दी है। मनु[114] एव याज्ञवल्क्य[115] के अनुसार गुरू का मौलिक अर्थ पिता है, जबकि गौतम वेद के गुरू को गुरूओ में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। संवर्त[116] पराशर[117] एवं मिताक्षरा[118] का कथन है कि गुरू का मुख्य अर्थ पिता है । मिताक्षरा ण्वं मदनपारिजात[119] जैसे निबन्धो के

अनुसार गुरू अंगना का तात्पर्य स्वय अपनी माता है। प्रायश्चितमयूख[120] ने यह मत प्रकाशित किया है कि वेदाध्यापक गुरू की पत्नी के साथ सम्भोग भी एक महापातक है। इस विषय मे इसने याज्ञवल्क्य[121] का सहारा लिया है जहाँ पर (गुरूतल्पगमन नामक पाप गुरूपत्नी, पुत्री एंव अन्य सबधी स्त्रियो तक बढाया गया है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि गुरू- अंगनागमन का तात्पर्य गुरू पत्नी एव अन्य सबधियो के साथ सभोग से है।

महापाताकी संसर्ग

गौतम[122], वसिष्ठ[123], मनु[124], याज्ञ[125], विष्णु[126] एव अग्निपुराण[127] ने सक्षेप मे व्यवस्था दी है कि जो लगातार एक साल तक महापातकियो का अति ससर्ग करता है अथवा उनके साथ रहता है तो वह भी महापातकी हो जाता है, और उन्होने यह भी कहा है कि यह ससर्ग उस अर्थ मे भी प्रयुक्त है जब वह व्यक्ति पातकी के साथ ही वाहन या एक ही शैय्या का सेवन करता है या पातकी के साथ एक ही पंक्ति में खाता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति पातकी से आध्यात्मिक सबध स्थापित करता है या करती है (यथा-पातकी को वेद की शिक्षा देता है या उससे वेदाध्ययन करता है या उसकी पुरोहिती करता या उसे अपने लिए पुरोहित बनाता है) या उसके साथ सम्भोग सबध या वैवाहिक संबंध स्थापित करता है तो वह व्यक्ति उसी क्षण महापातक का अपराधी हो जाता है।

मध्यकाल के लेखको ने संसर्गदोष के क्षेत्र को क्रमश बहुत आगे बढा दिया है, सभवत इसका कारण था सस्कार सबधी शुचिता की भावना पर अत्याधिक बल देना। उदाहरणार्थ- स्मृत्यर्थसार[128] का कहना है कि जो व्यक्ति महापातकी के ससर्ग रखने वाले से ससर्ग रखता है, उसे प्रथम ससर्गकर्ता का आधा प्रायश्चित करना पडता है। जबकि मिताक्षरा[129] इससे भी आगे पहुँच जाती है एव बताती है कि यद्यपि ऐसा ससर्गकर्त्ता पतित नही हो जाता तथापि उसे प्रायश्चित करना पडता है और यहाँ तक कि चौथे एंव पाचवे ससर्गकत्ताओ को भी प्रायश्चित करना पडता है यद्यपि वह अपेक्षाकृत हल्का पडता जाता है। पराशर माधवीय[130] का कथन है कि पराशर ने महापातकियों के संसर्ग मे आने वालों के लिए इस भावना से कोई प्रायश्चित की व्यवस्था नहीं की क्योंकि कलियुग मे ससर्गदोष कोई पाप नही है और इसी से कलियुग में कलिवर्ज्यो की संख्या मे एक अन्य

स्मृति ने 'पतित के ससर्ग से उत्पन्न आशुचित' एक अन्य कलिवर्ज्य जोड दिया है। निर्णयसिन्धु[131] ने पतित ससर्ग को दोष आवश्य माना है किन्तु ससर्गकर्ता को पतित नही कहा है।

उपपातक (हल्के पाप)

उपपातको की सख्या विभिन्न युगो एव स्मृतियो मे भिन्न-भिन्न है। वसिष्ठ[132] ने केवल पाच उपपातक गिनाये है- अग्निहोत्र के आरम्भ के पश्चात उसका परित्याग, गुरू को कुपित करना, नास्तिक होना, नास्तिक से जीविकोपार्जन करना एव सोमलता की बिक्री करना। गौतम[133] का कथन है कि उनको उपपातक का अपराध लगता है, जो श्राद्ध भोजन के समय पंक्ति मे बैठने के आयोग्य घोषित होते है जैसे-पशुहन्ता, वेदविस्मरणकर्ता, जो इन के लिए वेदमन्त्रोच्चारण करते है, वे वैदिक ब्रह्मचारी जो ब्रह्मचर्य व्रत खण्डित करते है तथा वे जो उपनयन संस्कार का काल बिता देते है। मनुस्मृति[134], याज्ञवल्क्यस्मृति[135], वृद्ध हारीत[136], विष्णु धर्म सूत्र[137], एव अग्निपुराण[138] मे उपपातको की लम्बी सूचियां हैं। मिताक्षरा[139] का कथन है कि कुछ उपपातकों को बार-बार करने से मनुष्य पतित हो जाता है।[140]

मनु[141] एव विष्णु[142] ने कुछ दोषो को जातिभ्रशकर (जिनसे जातिच्युतता प्राप्त होती है) की सज्ञा दी है, यथा ब्राह्मण को (छडी या हाथ से) पीडा देना, ऐसी वस्तुओ जैसे लहसुन आदि को सूंघना जिसे नहीं सूघना चाहिए आसव या मद्य सूघना, धोखा देना (कहना कुछ करना कुछ) मनुष्य (पशु के साथ भी, विष्णु के मत से) के साथ अस्वाभिक अपराध करना। मनु[143] के मत से बदर, घोडा, ऊँट, हिरन, हाथी, बकरी, भेंड, मछली या भैस का हनन सकरीकरण के समान मानना चाहिए। अन्यत्र मनु[144] का कथन है कि निद्य लोग[145] से दानग्रहण, व्यापार, शूद्र सेवा एंव झूठ बोलने से व्यक्ति धर्म समान के अयोग्य (अपात्रीकरण) हो जाता है। विष्णु[146] ने इसमें ब्याज वृत्ति से जीविकोपार्जन भी जोड दिया है। मनु[147] ने व्यवस्था दी है कि छोटे या बड़े कीट पतंगों या पक्षियो का हनन, मद्य के समीप रखे पदार्थों का खाना, फलो ईंधन एंव पुष्पों को चुराना एंव मन की अस्थिरता मलावह (जिससे व्यक्ति अशुद्ध हो जाता है) कर्म कहे जाते हैं। यही बात विष्णु[148] ने भी कही है। विष्णु[149] का कथन

है कि वे दुष्कृत्य जो विभिन्न प्रकारो मे उल्लिखित नही है, उनकी प्रकीर्णक सज्ञा है। वृद्ध हारीत[150] ने बहुत से प्रकीर्णक दुष्कृत्य गिनाये है।

पापफलों को कम करने के साधन

आत्मापराध- स्वीकृति:

आपस्तम्बधर्मसूत्र[151] मे ऐसी व्यवस्था दी गई है कि व्यक्ति को अभिशस्तता के कारण प्रायश्चित करते समय या अन्याय पूर्वक पत्नी त्याग करने पर या विद्वान (विदज्ञ) ब्राह्मण की हत्या करने पर अपनी जीविका के लिए भिक्षा मागते समय अपने दुष्कृत्यो की घोषणा करनी चाहिए। मनु[152] एव गौतम[153] का मत है कि वैदिक विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) को संभोगापराधी होने पर सात घरों में भिक्षा मागते समय अपने दोषो की घोषणा करनी चाहिए।

अनुताप (पश्चाताप)

मनु[154], विष्णुधर्मोत्तर पुराण[155] ब्रह्मपुराण[156] का कथन है कि- व्यक्ति का मन जितना ही अपने दुष्कर्म को घृणित समझता है उतना ही उसका शरीर (उसके द्वारा किये गये)पाप से मुक्त होता जाता है। यदि व्यक्ति पाप कृत्य के उपरान्त उसके लिए अनुताप (पश्चाताप) करता है तो वह उस पाप से मुक्त हो जाता है। उस पाप का त्याग करने के संकल्प एव यह सोचने से कि, "मै यह पुन नही करूगा" व्यक्ति पवित्र हो उठता है। पूर्वमध्यकालीन निबन्धों जैसे प्रायश्चित प्रकाश का मत है कि केवल पश्चाताप पापो को दूर करने के लिये पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत उससे पापी प्रायश्चित करने के योग्य हो जाता है। अपरार्क[157] द्वारा उल्लिखित यम का वचन है कि अनुताप एव पापकर्म की पुनरावृत्ति न करना प्रायश्चितों के अंग (सहायक तत्व) मात्र है और वे स्वत. (स्वतन्त्र रूप से) प्रायश्चितो का स्थान नही प्राप्त कर सकते।

प्राणायाम (श्वासावरोध)-

मनु[158], बौधायन धर्मसूत्र[159] वसिष्ठ[160], अत्रि[161] शंखस्मृति[162] ने कहा है- यदि प्रतिदिन व्याहृतियो एव प्रणव (आकार) के साथ 16 प्राणायाम किये जायें तो एक मास के उपरान्त भ्रूण हत्या (विद्वान ब्राह्मण

की हत्या) छूट जाती है। यही बात विष्णुधर्मसूत्र[163], मिताक्षरा[164] एव अग्निपुराण[165] मे कही गई है। याज्ञवल्क्य[166] का कथन है कि उन सभी पापो के लिए तथा उन उपपातको एव पापो के लिए जिनके लिए कोई विशिष्ट प्रायश्चित न निर्धारित हो, एक सौ प्राणायाम नष्ट करने के लिए पर्याप्त है। शूद्र का भोजन कर लेने से लेकर ब्रह्महत्या तक के विभिन्न पापो के मोचन के लिए बौधायन धर्मसूत्र[167] ने एक दिन से लेकर वर्षभर के लिए विभिन्न सख्याओ वाले प्राणायामो की व्यवस्था दी है।

तप

ऋग्वेद[168] मे तप स्वर्ग ले जाने वाला एव अनाक्रमणीय माना गया है। गौतम[169] का कथन है कि ब्रह्मचर्य, सत्यवचन, प्रतिदिन तीन बार स्नान, गीले वस्त्र धारण एंव उपवास तप मे सम्मिलित है। बौधायन[170] ने इसमे अहिसा, अस्तैन्य (किसी को उसकी सम्पत्ति से वचित न करना) एव गुरूशुश्रूषा भी जोड दिये है। मनु[171] ने बताया कि जो महापातको एव अन्य दुष्कर्मों के अपराधी होते है वे सम्यक् तप से पापमुक्त हो जाते है तथा विचार, शब्द या शरीर से जो पाप हुए रहते है वे तप से जल जाते हैं।

होम

याज्ञवल्क्य[172] के अनुसार यदि कोई द्विज अपने को पापमुक्त करना चाहे तो उसे गायत्री मत्र द्वारा तिल से होम करना चाहिए। मिताक्षरा[173] ने यम के मत से तिल की एक लाख आहुतियों का उल्लेख किया है। मनु[174] एंव वसिष्ठ[175] के मत से ब्राह्मण व्यक्ति वैदिक मंत्रो के जप एव होम से सभी विपत्तियो से छुटकारा पा जाता है।मनु[176] एंव याज्ञवल्क्य[177] ने व्यवस्था दी है कि जब कोई साक्षी किसी को मृत्युदण्ड से बचाने के लिए झूठी गवाही देता है तो उसे इस कौटसाक्ष्य के प्रायश्चित के लिए संरस्वती को भातकी आहुतियॉ देनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि होम का परिणाम प्रायश्चित सबधी एव शुद्धीकरण सबंधी था अर्थात होम करने से पापी शुद्ध हो जाता था।

जप (प्रार्थना या स्तुति के रूप में वैदिक मंत्रों का पाठ)

जप के तीन प्रकार है वाचिक (स्पष्ट उच्चरित), उपांशु (अस्पष्ट उच्चरित) एंव मानस (मन से उच्चरित)। इनमें से प्रत्येक आगे

वाला दस गुना अच्छा माना जाता है।[178] जप के लिए तीन बाते आवश्यक है, हृदय (मन) की शुचिता, असगता (निष्कामता या मोहरहितता) एव परमात्मा मे आत्मसमर्पण ।

मनु[179] ने व्यवस्था दी है कि बिना जाने किये गये पाप का मार्जन प्रार्थना के रूप मे वैदिक वचनो के जप करने से हो जाता है, किन्तु जो पाप जानबूझकर किये जाते है उनका मार्जन प्रायश्चितो से ही होता है। मनु[180], वसिष्ठ[181] एव विष्णु[182] ने कहा है- जप का सम्पादन (विद के) नियमो से व्यवस्थित यज्ञो (दर्शपूर्णमास आदि) से दस गुना लाभकारी है, उपाशु-विधि से किया गया जप (यज्ञों से) सौ गुना अच्छा है और मानस जप सहस्त्र गुना अच्छा है। मनु[183], वसिष्ठ[184], अंगिरा[185] आदि का कथन है कि जिस प्रकार अधिक वेगवती अग्नि हरी घास को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार वेदाध्ययन की अग्नि दुष्कर्मों से प्राप्त अपराध को जला डालती है या वह ब्राह्मण, जो (पढे हुए) ऋग्वेद का स्मरण रखता है, अपराध से अछूता रहता है, भले ही उसने तीनो लोको का नाश कर दिया हो या उसने किसी का भी दिया हुआ भोजन कर लिया हो ।

दान

गौतम[186] का कथन है कि सोना, गौ, परिधान, घोडा, भूमि, तिल, घृत ऐसे दान है जो पाप का क्षय करते हैं, विकल्प से इनका उपयोग करना चाहिए यदि कोई स्पष्ट उल्लेख न हो। वसिष्ठ[187] का कथन है कि जीविकावृत्ति को लेकर अर्थात् वृत्ति या भरण पोषण से परेशान होकर जब मनुष्य कोई पाप कर बैठता है तो वह गोचर्म के बराबर भूमि भी देकर पवित्र हो सकता है। संवर्त[188] मे आया है कि सोने, गाय, भूमि का दान इस जन्म एव अन्य जन्मों में किये गये पापो को काट देता है। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[189] कहते हैं कि हिसा करने से जो पाप होते है उनके प्रायश्चितों के लिये व्यवस्थित उपायो में दान प्रमुख है। वृहस्पति[190] ने व्यवस्था दी है कि राजा को भूमि दानपत्रकों में यह लिखित करा देना चाहिए कि उसने यह दान अपने माता पिता के पुण्य के लिए किया है। राजतरंगिणी[191] ने विहारों की स्थापना की ओर संकेत किया है।

उपवास

उपवास करने का वास्तविक अर्थ है अन्न जल का पूर्ण त्याग, किन्तु साधारणत इसका अर्थ है थोडी मात्रा मे हल्का भोजन करना। गौतम[192] ने उपवास को पापमोचन की कई विधियो मे रखा है उसके अनुसार तप भी एक साधन है। मनु[193] विष्णु[194] का कथन है कि एक दिन का उपवास वेद व्यवस्थित कृत्यो (यथा दशपूर्णमास यज्ञ या सन्ध्या वदन) से छोड देने एव स्नातक के विशिष्ट कर्मों को प्रमाद से छोड देने पर प्रायश्चित रूप मे किया जाता है। देवल[195] एव स्मृति चन्द्रिका[196] के अनुसार उपवास करते समय कई कर्म छोड देने पडते है। बार-बार पानी पीने से उपवास का फल जाता रहता है, इसी प्रकार पान (ताम्बूल) खाने, दिन मे सोने एंव सभोग से इसका फल नष्ट हो जाता है।

मनु[197] एव अग्निपुराण[198] के अनुसार घास, ईधन, वृक्ष, सूखे भोज्य पदार्थ (चावल आदि) वस्त्र, खाल एव मास की चोरी के प्रायश्चितके लिए तीन दिनो का उपवास निर्धारित किया है।

तीर्थयात्रा

ऐसा विश्वास था कि तीर्थयात्रा करने एंव पवित्र नदियों जैसे गगा मे स्नान करने से मनुष्य के पाप कटते है। विष्णु[199] मे आया है कि महापातकी लोग अश्वमेध से या पृथ्वी पर पवित्र स्थानों की यात्रा करने से पवित्र हो जाते हैं। देवल ने कहा कि यज्ञों के सम्पादन या तीर्थों की यात्रा द्वारा जानबूझकर न की गई ब्रह्महत्या के पाप से मुक्ति मिल सकती है। पराशर[200] का कथन है कि चारो वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण की हत्या करने वाले को सेतुबन्ध (रामेश्वर) जाना चाहिए।[201] मत्स्यपुराण[202] ने कहा है कि मेरू या मन्दर नामक पर्वत से भी भारी पाप की गठरी अविमुक्त (वाराणसी) में पहुचने से कट जाती है। स्मृत्यर्थसार[203] मे आया है कि पुराणो से पता चलता है कि ब्रह्मा, विष्णु एंव शिव जैसे देवों, भृगु, वसिष्ठ एव विश्वामित्र जैसे महान ऋषियों हरिश्चन्द्र, नल एव सागर जैसे राजाओं ने तीर्थों द्वारा ही इतनी महत्ता प्राप्त की । पाण्डवों, कृष्ण तथा नारद, व्यास आदि ऋषियों ने राज्य प्राप्ति एंव पापमोचन के लिए तीर्थयात्रायें की थी।

2– प्रायश्चित

अधिकाश निबधो एव टीकाओ ने प्रायश्चित की व्युत्पत्ति प्राय (अर्थात् तप) एव चित्त (अर्थात सकल्प या दृढ विश्वास) से की है। इसका तात्पर्य यह है कि इसका सबध तप करने के सकल्प से है या इस विश्वास से है कि इससे पाप मोचन होगा।

पराशरमाधवीय[204] ने एक स्मृति का उल्लेख करके कहा है कि वह प्रायश्चित है जिसके द्वारा अनुताप (पश्चाताप) करने वाले पापी का चित्त (मन) सामान्यत (प्रायश) पार्षद (विद्वान ब्राह्मणो की परिषद या सभा) द्वारा विषम के स्थान पर समकर दिया जाता है अर्थात् साधारण स्थिति मे कर दिया जाता है। मिताक्षरा[205] का कथन है प्रायश्चित शब्द रूढ रूप से उस कर्म या कृत्य का द्योतक है जिसे नैमित्तिक कहा जाता है, अर्थात् इसका उपयोग तभी होता है जब कि उसके लिए कोई अवसर आता, यह पाप-नाश के लिए भी प्रयुक्त होता है अत यह काम्य भी है। पराशरमाधवीय[206] बालम्भट्टी[207] एव जाबाल[208] के मत से प्रायश्चित का सबध नैमित्तिक एव काम्य दोनों कर्मो से है।

बृहस्पति आदि ने पापो के दो प्रकार दिये हैं कामकृत (अर्थात् जो जानबूझकर किया जाय) तथा अकामकृत (अर्थात् जो यो ही बिना जाने बूझे हो जाय) । कामकृत पापो को प्रायश्चितो द्वारा नष्ट किया जा सकता है कि नही, इस विषय में काफी मतभेद है। मनु[209] एंव याज्ञवल्क्य[210] ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अनजान मे किये गये पापो का नाश प्रायश्चितो अथवा वेदाध्ययन से किया जा सकता है। जानबूझकर किये गये पापों के विषय मे गौतम[211] ने दो मत दिये है जिनमें से एक मे कहा गया है कि दुष्कृत्यो के लिए प्रायश्चित नही किये जाने चाहिए, क्योकि उनका नाश नही होता। किन्तु दूसरे मत मे कहा गया है कि पाप के प्रभावों (फलो) को दूर करने के लिए प्रायश्चित का सम्पादन होना चाहिए। दूसरे मत का आधार वैदिक उक्तियो मे खोजा गया जैसे कोई व्यक्ति पुन. स्तोम के सम्पादन-उपरान्त पुन: सोमयज्ञ में आ सकता है (अर्थात् वह सामान्य वैदिक कृत्य कर सकता है) एंव जो व्यक्ति अवश्मेध करता है वह सब पापो को पारकर जाता है और ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाता है। इस संबध में मनु[212] का कथन अवलोकनीय है कि कुछ लोगो के मतानुसार वेदों के संकेत से जानबूझकर किये गये पापों के शमनार्थ

प्रायश्चित किये जा सकते है। एक स्थल पर याज्ञवल्क्य[213] भी कहते है कि प्रायश्चितो से पाप मोचन होता है। मेधातिथि[214] ने तैत्तिरीय सहिता[215], काठक सहिता[216] एव ऐतरेय ब्राह्मण[217] मे वर्णित गाथा की ओर ध्यान आकृष्ट किया है इन्द्र ने यतियो को शालवृको (कुत्तो या भेडियो) को अर्पित कर दिया और उसे उस पाप से मुक्ति पाने के लिए उपहत्य नामक कृत्य करना पडा । मनु[218] ने अपना मत भी दिया है कि अनजान मे किये गये पापो का शमन वेद वचनो के पाठ से होता है और जानबूझ कर किये गये पाप विभिन्न प्रायश्चितो से ही नष्ट किये जाते है।

याज्ञवल्क्य[219] का कथन है कि प्रायश्चित जान-बूझकर किये गये पापों को नष्ट नही करते, किन्तु पापी प्रायश्चित कर लेने से अन्य लोगो के संसर्ग मे आ जाने के योग्य हो जाता है यही बात मनु[220] के कथन से भी झलकती है- प्रायश्चित न करने वाले पापियो से सामाजिक सबध नहीं रखना चाहिए।

स्मृतियो द्वारा उपस्थापित विभिन्न मतो का समाधान मिताक्षरा[281] ने किया है, जो सभी मध्यकाल के लेखको को मान्य है। उसकी उक्ति है- पापों के फल एंव शक्ति दो प्रकार के है । यथा नरक की प्राप्ति एंव पापी का समाज के सदस्यों द्वारा बहिष्कार। अत यदि प्रायश्चित पापी को नरक से न बचा सके तो भी उसके द्वारा समाज-ससर्ग स्थापन अनुचित नही कहा जा सकता। जो पापकृत्य पतनीय (जातिच्युत करने वाले) नही है वे मनु[222] के कथन द्वारा प्रायश्चित से अवश्य नष्ट हो जाते है। वे पाप भी जो पतनीय है और जानबूझकर किये गये है आपस्तम्ब धर्मसूत्र[223] के कथन से मृत्यु पर्यन्त चलने वाले प्रायश्चितो से दूर हो सकते है। मनु[224] याज्ञवल्क्य[225] गौतम[226], ब्राह्मण हत्या के लिए, मनु[227], याज्ञवल्क्य[228] एव गौतम[229] सुरापान के लिए, गौतम[230], मनु[231] एव याज्ञवल्क्य[232] गुरू पत्नी से संभोग के लिए, मनु[233], एव याज्ञवल्क्य[234] ब्राह्मण के सोने की चोरी के लिए। प्रायश्चित्तमुक्तावली जैसे मध्यकाल के निबधो का कथन है कि ब्राह्मण पापियो के विषय मे मृत्यु पर्यन्त चलने वाला प्रायश्चित कलिवर्ज्य के मतानुसार वर्जित है अत· हत्यारे ब्राह्मण के लिए केवल बारह वर्षों का प्रायश्चित ही पर्याप्त है।

मनु[235] एव विष्णु[236] मे आया है कि जो बच्चों की हत्या करता है, जो अच्छा करने पर बुरा करता है, जो शरण में आगत की

हत्या कर डालता है, जो स्त्रियो का हन्ता है, ऐसे व्यक्ति के साथ, भले ही उसने उचित प्रायश्चित कर लिया हो, तब भी ससर्ग नही रखना चाहिए। मिताक्षरा एव विश्वरूप से लेकर आगे के सभी धर्मशास्त्रकारो द्वारा स्मृतिवचनो को न्यायसगत सिद्ध करने का प्रयास किया गया । चाहे वे तर्कसगत न हो और अतिश्योक्ति से भरे हो।

प्रायश्चित के योग्य पातको, एव विद्वानो, ब्राह्मणो की परिषद् द्वारा व्यवस्था प्राप्त राजा द्वारा दण्डित किये जाने वाले अपराधियो के अपराधों मे क्या अन्तर है? प्रायश्चित एव दण्ड की प्रक्रिया पूर्ण करने मे राजा का क्या योगदान होता था? आरम्भिक काल से ही न्याय सबंधी कार्यों एव शासन प्रबंध सम्बधी कार्यों मे अन्तर विशेष प्रकट कर दिया गया था। बृहस्पति (विवादरत्नाकर मे उद्धृत) का कथन है- यदि किसी सच्चरित्र एव वेदाभ्यासी व्यक्ति ने चोरी का अपराध किया है तो उसे बहुत समय तक बंदी गृह में रखना चाहिए और धन को लौटा देने के उपरान्त उससे प्रायश्चित कराना चाहिए।[237]

परिषद प्रायश्चितो के लिए स्वय अपने नियम निर्धारित करती थी और राजा दण्ड देता था। सभवत परिषद के धार्मिक न्याय क्षेत्र में राजा दखल नहीं देता था और ब्राह्मण लोग न्यायाधीशों के रूप मे एव दण्ड संबंधी सम्मतियॉ देकर राजा को न्यायशासन में सहायता देते थे। वसिष्ठ[238] गौतम[239] ने शतपथ ब्राह्मण[240] के शब्दो के समान ही कहा है। राजा एंव बहुश्रुत ब्राह्मण ससार की नैतिक व्यवस्था को धारण करने वाले है। देवल[241] का कथन है- राजा कृच्छों का दाता है (अर्थात् व्यवस्थित प्रायश्चितो के वास्तविक सम्पादन मे उसकी सम्मति आवश्यक है) विद्वान धर्मपाठक, (धर्मशास्त्रज्ञ) प्रायश्चितो के व्यवस्थापक है, पापी प्रायश्चित-सम्पादन करता है और राज्यकर्मचारी प्रायश्चित सम्पादन की देखरेख करने वाला है । पराशर[242] का कथन है कि राजा की अनुमति ले लेने के उपरान्त परिषद को उचित प्रायश्चित का निर्देश करना चाहिए, बिना राजा को बताये निर्देश स्वय नहीं करना चाहिए, किन्तु हल्का प्रायश्चित बिना राजा की अनुमति के भी किया जा सकता है।

विशिष्ट पापों के विशिष्ट प्रायश्चित:

स्मृतियों मे एक ही प्रकार के पाप के लिए कई प्रकार के प्रायश्चितों की व्यवस्था है, अत सभी मतों का समाधान करना दुष्कर है।

टीकाएँ एव मिताक्षरा तथा प्रायश्चित-विवेक जैसे निबध विशिष्ट प्रायश्चितो की व्यवस्था अन्य परिस्थितियो की जाच करके देते है अर्थात् वे 'विषयव्यवस्था' पर ध्यान देते है। यथा प्रायश्चित के लिए कामत एव अकामत पर ध्यान देना, स्थान, समय, जाति एव प्रथम बार या कई बार इत्यादि तथ्यो को ध्यान मे रखकर ही प्रायश्चित का निर्धारण करते थे।

महापातकों के लिए प्रायश्चित

शख[243], अपरार्क[244] एव पराशरमाधवीय[245] ने चार महापातको के लिए निम्न प्रायश्चित निर्धारित किये है- महापातकी को दिन में तीन बार स्नान करना चाहिए, वन में पर्णकुटी (घास फूस पत्तियों आदि से निर्मित झोपडी) बना लेनी चाहिए; पृथ्वी पर सोना चाहिए, पर्ण, मूल, फल पर ही रहना चाहिए, ग्राम मे भिक्षाटन के लिए प्रवेश करते समय महापातक की घोषणा करनी चाहिए, दिन मे केवल एक बार ही खाना चाहिए। जब इस प्रकार 12 वर्ष व्यतीत हो जाते है तो सोने का चोर, सुरापान करने वाला, ब्रह्महत्यारा एव व्यभिचारी (माता, बहिन, पुत्रवधू, गुरू पत्नी आदि से व्यभिचार करने वाला) महापाप से मुक्त हो जाता है। विष्णु[246] ने माता, पुत्री, पुत्रवधू के साथ संभोग करने को अतिपाप कहा है और उसके लिए[247] अग्नि मे प्रवेश से बढकर कोई अन्य प्रायश्चित नही ठहराया है। किन्तु मनु[248] एंव याज्ञवल्वक्य[249] आदि कुछ स्मृतियो मे मातृगमन को महापातक (गुरूतल्पगमन एव पुत्री तथा पुत्र वधू के साथ गमन) को गुरू शैय्या अपवित्र करने के समान माना है।[250] महापातकों में प्रथम स्थान ब्रह्महत्या को दिया गया है। गौतम[251], आपस्तम्बधर्मसूत्र[252], वसिष्ठ[253], विष्णु[254], मनु[255], याज्ञवल्क्य[256], अग्निपुराण[257] संवर्त[258] आदि मे विभिन्न प्रायश्चितो की व्यवस्था दी है। भविष्यपुराण, कुल्लूकभट्ट[259], अपरार्क[260] एंव प्रायश्चित विवेक[261] ने ब्रह्महत्या के विषय मे मनु द्वारा स्थापित 13 विभिन्न प्रायश्चित गिनाये है। सामान्यत: यह नियम था कि ब्रह्महत्यारों को मृत्युदण्ड मिल जाना चाहिए। प्रायश्चित विवेक की अपनी टीका तत्वार्थकौमुदी मे गोविन्दानन्द ने 13 प्रायश्चितों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है।

1 ब्रह्मघातक को वन मे पर्णकुटी बनाकर 12 वर्षों तक रहना चाहिए; उसे भिक्षा पर जीना चाहिए और एक दण्ड पर मृत व्यक्ति के मस्तक अस्थि का एक टुकडा सदैव रखकर चलना चाहिए।

मिताक्षरा[262] एव कुल्लकभट्ट[263] का कथन है कि यदि ब्रह्म हत्या अनजान मे हुई तो यह व्रत 12 वर्षों तक चलना चाहिए, किन्तु जानबूझकर की गई ब्रह्महत्या के लिए अवधि दूनी अर्थात् 24 वर्षों की होती है। मिताक्षरा[264] ने मनु एव देवल का साक्ष्य देते हुए कहा है कि यदि दो ब्रह्महत्याओ के लिए 24 वर्षों, तीन हत्याओ के लिए 36 वर्षो का व्रत होना चाहिए और चार हत्याओ के लिए केवल मृत्युदण्ड ही प्रायश्चित है।

2 आपस्तम्ब धर्मसूत्र[265],गौतम[266], मनु[267] एव याज्ञवल्क्य[268] के मत से यदि ब्रह्मघातक क्षत्रिय हो और उसने जानबूझकर हत्या की हो तो वह चाहे तो युद्ध करने चला जाये, उसके साथ युद्ध करने वाले लोग उसे ब्रह्मघातक समझकर मार सकते है। यदि हत्यारा मर जाये या घायल होकर संज्ञाशून्य हो जाये और अन्त मे बच भी जाये तो वह महापातक से मुक्त हो जाता है।

3 आपस्तम्ब धर्मसूत्र[269],वसिष्ठ[270], गौतम[271], मनु[272] एव याज्ञवल्क्य[273] का कथन है कि हत्यारा किसी कुल्हाडी से अपने बाल, चर्म, रक्त, मांस, मांसपेशियां, वसा, अस्थिया एंव मज्जा काट-काट कर साधरण अग्नि में (उसे मृत्यु देवता समझकर) आहुतियो के रूप में दे दे और अत मे अपने को अग्नि मे (मनु[274] के अनुसार तीन बार सिर नीचा करके) झोक दे। मदनपारिजात एव भविष्य पुराण[275] के मत से यह प्रायश्चित क्षत्रिय द्वारा की गई ब्रह्महत्या के लिए व्यवस्थित है। ब्रह्मघातक अश्वमेध या गोसव या अभिजित या विश्वजित या तीन प्रकार वाला अग्निष्टुत (मनुस्मृति[276]) यज्ञ कर सकता है। अश्वमेध केवल राजा या सम्राट कर सकता है, अन्य यज्ञ तीन उच्च वर्णों का कोई घातक कर सकता है। ये यज्ञ केवल उसके लिए है जो अनजान में ही ब्रह्महत्या करता है। (कुल्लूकभट्ट)[277], (9) मनु[278] के अनुसार ब्रह्महत्या के महापातक से छुटकारा पाने के लिए व्यक्ति सीमित भोजन करते हुए आत्मनिग्रहपूर्वक चारो में से किसी एक वेद के पाठ के साथ 1000 योजनों की पैदल यात्रा कर सकता है। कुल्लूकभट्ट[279] का कथन है कि प्रायश्चित केवल उसके लिए है जिसने किसी साधारण ब्राह्मण (जो वेदज्ञ या विद्वान आदि न हो) की हत्या अनजान मे की है।

(10) मनु[280] के मत से ब्रह्मघातक किसी वेदज्ञ को अपनी सारी सम्पत्ति दान मे देकर छुटकारा पा सकता है। (11) मनु[281] एव याज्ञ0[282] का कथन है कि घातक किसी सदाचारी एव वेदज्ञ ब्राह्मण को उतनी सम्पत्ति दान दे सकता है जिससे वह ब्राह्मण जीवन भर एक सुसज्जित घर मे रहकर जीविका चला सके। मिताक्षरा[283] का मत है कि (10) एव (11) प्रायश्चित एक ही है (स्मृत्यर्थसार[284])। मनु[285], याज्ञवल्क्य[286] के मत से घातक नीवार, दूध या घृत पर जीवन यापन करता हुआ सरस्वती नदी की शाखाओ की यात्रा कर सकता है। भविष्यपुराण एव कुल्लूक[287] के मत से यह व्रत उस व्यक्ति के लिए जिसने किसी साधारण ब्राह्मण (जिसने विद्यार्जन न किया हो) की हत्या जान बूझकर की हो और जो स्वंय धनवान हो किन्तु वेदज्ञ न हो। (13) मनु[288] एव याज्ञवल्क्य[289] ने व्यवस्था दी है कि उसको वन मे सीमित भोजन करते हुए वेद की संहिता का तीन बार पाठ करना चाहिए।

यदि कोई क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जानबूझकर स्वय किसी ब्राह्मण को मार डाले तो उसके लिए मृत्यु ही प्रायश्चित है, किन्तु अज्ञान मे हुई ब्रह्महत्या के लिए उसी पाप मे ब्राह्मण को जो प्रायश्चित करना पडता है उसका उनके लिए क्रम से दूना, तिगुना या चौगुना प्रायश्चित होता है। यदि कोई ब्राह्मण किसी क्षत्रिय, वैश्य,या शूद्र को मार डालता है तो केवल उपपातक लगता है, किन्तु यदि क्षत्रिय या वैश्य सोमयज्ञ मे लगे हो और उन्हे कोई ब्राह्मण मार डाले तो पाप बडा होता है और प्रायश्चित भी भारी होता है (सामविधान ब्राह्मण[290] याज्ञवल्क्य[291] वसिष्ठ[292])। याज्ञवल्क्य[293] मनु[294] एव आपस्तम्ब धर्म सूत्र के मत से क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र को मारने वाले के लिए अन्य प्रायश्चित भी है। क्षत्रिय के क्षत्रिय हत्यारे को क्षत्रिय के ब्राह्मण हत्यारे से कुछ कम अर्थात 1/4 भाग कम प्रायश्चित करना पडता है। याज्ञवल्क्य[295] एव मनु[296] के अनुसार मृत स्त्रियो को क्षत्रिय वैश्य एंव शूद्रों पुरूषों के समान ही माना जाता था किन्तु गौतम[297], आपस्तम्बधर्म सूत्र[298], बौधायनधर्मसूत्र[299] वसिष्ठ[300] एव विष्णु[301] के अनुसार आत्रेयी या गर्भवती स्त्री के विषय मे ऐसी बात नही थी, उनके हत्यारे को भारी प्रायश्चित करना पडता था। यदि द्विज पत्नी सोमयज्ञ कर रही हो और उसे कोई मार डाले तो उसके हत्यारे को ब्रह्मघातक के

समान ही प्रायश्चित करना पडता था। व्यभिचारिणी को मारने पर प्रेमी हत्यारे एव उस स्त्री की जाति के अनुसार ही भारी प्रायश्चित करना पडता था। (गौतम[302], मनु[303] एव याज्ञवल्क्य[304] के अनुसार)।

मनु[305], विष्णु[306] एव याज्ञवल्क्य[307] के मत से ब्राह्मण को धमकी देने या पीटने पर कम से कृच्छ्र या अतिकृच्छ तथा रक्त निकाल देने पर कृच्छ्र एव अतिकृच्छ्र प्रायश्चित करने पडते थे।

सुरापान करने पर ब्राह्मण को अति कठोर प्रायश्चित करने पर ही जीवन रक्षा मिल सकती थी। गौतम[308], आपस्तम्बधर्मसूत्र[309], बौधायनधर्मसूत्र[310] वसिष्ठ[311], मनु[312] एव याज्ञवल्क्य[313] के मत से यदि कोई ब्राह्मण अन्न से बनी सुरा को ज्ञान मे केवल एक बार पी ले तो उसका प्रायश्चित मृत्यु ही है, अर्थात् उसे उसी खोलती हुई सुराको, या खोलते हुए गोमूत्र को या खौलते हुए दूध, घी, जल या गीले गोबर को पीना पडता था और जब वह पूर्णरूपेण इस प्रकार जल उठता था और उसके फलस्वरूप मर जाता था तो वह सुरापान के महापातक से मुक्त हो जाता था। मिताक्षरा[314], अपरार्क[315], एव प्रायश्चित प्रकरण[316] का भी यही मत है। हरदत[317] ने कहा है कि यह भयानक प्रायश्चित उसके लिए है जो जानबूझकर लगातार सुरापान करता है।

ऋषियो ने क्षत्रियो एंव वैश्यों के लिए भी सुरापान करने पर यही प्रायश्चित बताया है। मदनपारिजात[318], प्रायश्चित विवेक[319], प्रायश्चित प्रकरण[320], मिताक्षरा[321] आदि के मत से 12 वर्षों का प्रायश्चित उस व्यक्ति के लिए है जो अज्ञानवश या बलवश आटे से बनी हुई सुरा पी लेता है। गौतम[322], याज्ञवल्क्य[323], मनुस्मृति[324] अत्रि[325] के मत से अज्ञान मे मद्यो, मानववीर्य, मलमूत्र को पी जाने वाले तीन उच्च वर्णों के व्यक्तियो का तपकृच्छ्र नामक प्रायश्चित करके पुन. उपनयन सस्कार करना पडता है।

कोई ब्राह्मण आटे से बनी सुरा के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के मद्य का सेवन करता है तो उसके लिए कई प्रकार के हल्के प्रायश्चितों (यथासमुद्रगामिती नदी पर चन्द्रायण व्रत रखना, ब्रह्मभोज देना, एक गाय एंव बैल का दान करना) की व्यवस्था दी हुई है। पराशर[326] एंव मिताक्षरा[327] के अनुसार क्षत्रियों एंव वैश्यों को सुरा (पैष्टी, आटे से बनी) के अतिरिक्त अन्य मद्य पीने से कोई पाप नहीं लगता है और शूद्र

पैष्टी सुरा भी पी सकता है। मिताक्षरा[328] का कथन है कि मनु[329] ने यद्यपि ब्राह्मणो, क्षत्रियो एव वैश्यो के लिए सुरा वर्जित मानी है, किन्तु उन बच्चो के लिए जिनका उपनयन कृत्य नही हुआ है तथा अविवाहित लडकियो के लिए भी सुरापान वर्जित है।

स्मृतियो ने खानपान के विषय मे दोषों के लिये विभिन्न प्रायश्चितो की व्यवस्था दी है, यथा सुरा के लिए प्रयुक्त किसी पात्र मे जल पीना, किसी चाण्डाल या धोबी या शूद्र के घर के पात्र मे जल पीना, न पीने योग्य दूध का सेवन आदि (गौतम[330], याज्ञवल्क्य[331], मनु[332])। सामविधान ब्राह्मण[333] मनु[334] आदि ने एक सामान्य नियम प्रतिपादित किया है कि यदि कोई व्यक्ति आंतरिक शुचिता चाहता है तो उसे निषिद्ध भोजन नही करना चाहिए, यदि वह अज्ञानवश ऐसा भोजन कर ले तो उसे प्रयास करके वमन कर देना चाहिए और यदि वह ऐसा न कर सके तो उसे शीघ्रता से प्रायश्चित कर लेना चाहिए। (अज्ञान से निषिद्ध भोजन कर लेने पर हल्का प्रायश्चित होता है)

सोने की चोरी

आपस्तम्ब धर्मसूत्र[335] अनुसार चोर को एक गदा लेकर राजा के पास पहुँचना होता था और राजा उसे एक ही बार मे मार डालने का प्रयास करता था एव विकल्प में[336] अग्नि प्रवेश या कम खाते-खाते मर जाने की व्यवस्था दी है। मनु[337] एव याज्ञवल्क्य[338] के अनुसार 80 रत्तियो की तोल या इससे अधिक की तोल तक (ब्राह्मण के) सोने की चोरी । सभी वर्णों के लिए चोरो का प्रायश्चित मृत्यु के रूप मे था, किन्तु ब्राह्मण को इस महापातक के लिए वन मे बारह वर्षों तक चीथडों मे लिपटकर प्रायश्चित स्वरूप रहना पडता था, या वही प्रायश्चित करना पडता था जो ब्रह्महत्या (मनु[339]) या सुरापान (याज्ञवल्क्य[340]) के लिए व्यवस्थित था। मिताक्षरा[341] के अनुसार सोने की चोरी में चोर अपने भार के बराबर सोना भी दे सकता था या उसे इतना धन देना पडता था कि किसी ब्राह्मण के कुल का ब्राह्मण के जीवनकाल तक भरण पोषण हो सके।

यदि 80 रत्तियो से कम (ब्राह्मण के भी) सोने की चोरी हुई हो, या किसी क्षत्रिय या किसी अन्य अब्राह्मण का सोना किसी भी

मात्रा मे चोरी हो गया हो तो चोर को उपपातक का प्रायश्चित लगता है। मनु[342], मत्स्य[343] एव विष्णु[344] ने कई प्रकार के प्रायश्चितो की व्यवस्था दी है। यथा- अनाज, पके भोजन या धन की चोरी मे एक वर्ष का-कृच्छ्र, पुरूषो या स्त्रियो को भगाने या किसी भूमि को हडप लेने या कूपो और जलाशयो के जल का अनुचित प्रयोग करने पर चन्द्रायण प्रायश्चित, विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थों, गाडी या शैय्या या आसन या पुष्पो या फल मूलो की चोरी पर पचगव्य प्राशन का प्रायश्चित; घास, लकडी, पेडो, सूखे भोजन, खॉड, परिधानो, चर्म या (कवच), एव मास की चोरी पर तीन दिनो एव रातो को उपवास, रत्नो, मोतियो, मूगा, ताम्र, चादी, लोहा, कास्य या पत्थरो की चोरी पर कोदो चावलो का 15 दिनो तक भोजन; रूई, रेशम, ऊन, फटे खुरो वाले पशुओ (गाय आदि) की चोरी पर केवल दुग्ध पान। चोर को चोरी की वस्तु लौटाकर ही प्रायश्चित करना पडता था। मनु[345] एंव विष्णु[346] के अनुसार मेधातिथि[347] का कथन है कि यदि चोरी गई वस्तु न लौटाई जा सके तो प्रायश्चित दूना होता है। इसके अतिरिक्त चोरी के कुछ मामलो मे यदि राजा द्वारा शारीरिक दण्ड या मृत्युदण्ड नही दिया जाता था तो चोरी गई वस्तु का ग्यारह गुना अर्थ दण्ड देना पडता था। (मनु[348] एव विष्णु[349] अनुसार)।

गुरूपत्नी के साथ व्यभिचार करने के विषय में आदिकाल से ही प्रायश्चित की व्यवस्था रही है। गौतम[350] आपस्तम्बधर्मसूत्र[351], बौधायनधर्मसूत्र[352] वसिष्ठ[353] एंव मनु[354] ने व्यवस्था दी है कि अपराधी को अपना अपराध स्वीकार कर लेना चाहिए और तब उसे तप्तलोह पर शयन करना होगा या नारी की तप्तलौह मूर्ति का आलिंगन करना होगा या उसे अपने लिंग एंव अण्डकोषो को काटकर उन्हे लिए हुए दक्षिण या दक्षिणपूर्व की दिशा मे तब तक सीधे चलते जाना होगा जब तक वह मृत होकर गिर न पडे और तभी वह (इस प्रकार की मृत्यु से) शुद्ध हो सकेगा। मिताक्षरा[355] के मत से उपर्युक्त तीनो पृथक प्रायश्चित नहीं हैं किन्तु इनमें दो तप्तलौह पर शयन एंव तप्त नारी मूर्ति का आलिगन एक ही प्रकार का प्रायश्चित है। मेधातिथि[356] ने भी ऐसा ही प्रायश्चित सही माना है।

मनु[357] याज्ञवल्क्य[358], संवर्त[359] ने गुरू पत्नी (आचार्याणी) उच्च जाति की कुमारी, पुत्रवधू, सगोत्र नारी, सहोदरा नारी (बहिन) या अन्त्यज नारी के साथ संभोग करने को गुरूतल्प गमन के समान ही माना है

और प्रायश्चित उससे थोडा ही कम ठहराया है। पराशर[360] ने तीन प्रायश्चितो की व्यवस्था दी है लिग काट लेना, तीन कृच्छ्र या तीन चान्द्रायण, जब कि व्यक्ति अपनी माता, बहिन या पुत्री से व्यभिचार करता है। मिताक्षरा[361] ने शख का उद्धरण देकर कहा है कि चारो महापातको के लिए बारह वर्षों का प्रायश्चित होता है, अत यह नियम सजातीय गुरू पत्नी के साथ सभोग करने पर भी लागू होता है। मनु[362], विष्णु[363], अग्निपुराण[364], एव शातिपर्व[365] का कथन है कि वह पाप, जिसमें द्विज किसी वृषली (चाण्डाल नारी) के साथ एक रात सभोग करता है, तीन वर्षो तक भीख मागकर खाने एव गायत्री आदि मत्रो के जप से दूर हो जाता है। याज्ञवल्क्य[366] के मत से यदि कोई पुरूष चाची, मामी, पुत्रवधू, मौसी आदि से उनकी सहमति से सभोग करता है तो उस व्यभिचारिणी नारी को मृत्यु का राजदण्ड मिला है और उसे वही प्रायश्चित करना पडता है जो पुरूष के लिये व्यवस्थित है। मनु[367], लघुशातातप[368], अग्निपुराण[369] का कथन है कि यदि कोई ब्राह्मण अज्ञान मे चाण्डाल स्त्री या म्लेच्छ स्त्री से सभोग करता है, या चाण्डाल या म्लेच्छ के यहॉ खाता है या दान लेता है तो उसे पतित होने के बाद का प्रायश्चित करना पडता है और यदि वह ऐसा ज्ञान मे करता है तो उन्ही के समान हो जाता है। वसिष्ठ[370] एंव विष्णु[371] का भी यही मत है। प्राचीनकाल के व्यवस्थाकारों ने महापातकियों के ससर्ग मे आने वाले व्यक्तियो के लिए भी प्रायश्चित की व्यवस्था की है। मनु[372], विष्णु[373] एव याज्ञवल्क्य[374] का कथन है कि जो भी कोई महापातकियों का संसर्ग (याज्ञवल्क्य के मतानुसार वर्षभर) करता है उसे ससर्ग पाप से मुक्त होने के लिए महापातक वाला ही व्रत (प्रायश्चित) करना पडता है। कुल्लूकभट्ट[375] एंव प्रायश्चितसार[376] का कथन है कि यहा व्रत शब्द प्रयुक्त हुआ अत. केवल 12 वर्षो वाला प्रायश्चित करना पडता है, मृत्यु का आलिगन नही करना पडता है[377]। यदि संसर्ग अज्ञानवश हो तो प्रायश्चित आधा होता है, व्यास ने ज्ञान मे किये गये संसर्ग के लिए 3/4 प्रायश्चित की व्यवस्था दी है।[378] प्रायश्चित विवेक[379] के मत से ब्राह्मण एंव शूद्र के संसर्ग के विषय में प्रत्येक वर्ण के लिए 1/4 छूट दी जाती थी।

मनु[380], याज्ञवल्क्य[381] एंव विष्णु[382] ने व्यवस्था दी है कि सभी उपपातको से शुद्धि (केवल अवकीर्णी को छोडकर) उस प्रायश्चित से जो

गोवध के लिए व्यवस्थित है, या चान्द्रायण से या एक मास तक केवल दुग्ध प्रयोग से या पराक या गोसव से हो जाती है।

श्राद्वकर्म:

आपस्तम्बधर्मसूत्र[383] से सूचना मिलती है कि "पुराने काल मे मनुष्य एंव देव इसी लोक मे रहते थे। देव लोग यज्ञो के कारण (पुरस्कार स्वरूप) स्वर्ग चले गये किन्तु मनुष्य रह गये। जो मनुष्य देवो के समान यज्ञ करते है वे परलोक (स्वर्ग) मे देवो और ब्रह्म के साथ निवास करते है तब (मनुष्यो को पीछे रहते देखकर) मनु ने उस कृत्य का आरम्भ किया, जिसे श्राद्ध की सज्ञा मिली है। जो मानव जाति को श्रेय (मुक्ति या आनन्द) की ओर ले जाता है। इस कृत्य में पितरलोग देवता (अधिष्ठाता) हैं, किन्तु ब्राहमण लोग (जिन्हे भोजन दिया जाता है) आहवनीय अग्नि (जिसमे यज्ञो के समय आहुतिया दी जाती है) के स्थान पर माने जाते है''। ब्रह्मण्ड पुराण[384] ने मनु को श्राद्ध के कृत्यो का प्रवर्तक एव विष्णु पुराण[385], वायुपुराण[386] एव भागवत पुराण[387] ने श्राद्धदेव कहा है। इसी प्रकार शातिपर्व[388] एव विष्णुधर्मोत्तर[389] पुराण में आया है कि श्राद्ध-प्रथा का सस्थापन विष्णु के वराहावतार के समय हुआ और विष्णु को पिता, पितामह एव प्रपितामह को दिये गये तीन पिण्डो मे अवस्थित मानना चाहिए। इस साक्ष्य एव आपस्तम्ब धर्मसूत्र के वचन से ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की कई शताब्दियो पूर्व श्राद्ध प्रथा का प्रतिष्ठापन हो चुका था एव यह मानव जाति के पिता मनु के समान ही प्राचीन है।[390] किन्तु यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि श्राद्ध शब्द किसी भी प्राचीन वैदिक साहित्य मे नही पाया जाता है। कठोपनिषद[391] में श्राद्ध शब्द आया है, इससे स्पष्ट है कि इस काल मे पितरो से संबंधित कोई कृत्य नही किये जाते थे, किन्तु जब पितरो के सम्मान में किये गये कृत्यो की संख्या में अधिकता हुई तब श्राद्ध शब्द की उत्पित्ति हुई।

श्राद्ध की प्रशसा के अनेक उल्लेख मिलते हैं। बौधायनधर्मसूत्र[392] का कथन है कि पितरो के कृत्यों से दीर्घ आयु, स्वर्ग, यश एंव पुष्टिकर्म (समृद्धि) का उदय होता है। हरिवंश[393] में आया है कि "श्राद्ध से यह लोक प्रतिष्ठित है और इससे योग (मोक्ष) का उदय होता है। सुमन्तु[394] का कथन है श्राद्ध से बढकर श्रेयस्कर कुछ भी नही है।'' वायुपुराण[395] का कथन है कि "यदि कोई श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करता है तो

वह ब्रह्म, इन्द्र, रूद्र एव अन्य देवो, ऋषियो, पक्षियो, मानवो, पशुओ, रेगने वाले जीवो एव पितरो के समुदाय तथा उन सभी को जो जीव कहे जाते है, एव सम्पूर्ण विश्व को प्रसन्न करता है।'' यम[396] ने कहा है कि पितृपूजन से आयु, पुत्र, यश, स्वर्ग, कीर्ति, पुष्टि (समृद्धि), बल, श्री, पशु, सौख्य, धन, धान्य की प्राप्ति होती है।''

श्रद्धासार[397] एव श्रद्धाप्रकाश[398] द्वारा उद्वत विष्णु धर्मोत्तर मे ऐसा कहा गया है कि प्रपितामह को दिया गया पिण्ड स्वय वासुदेव घोषित करता है, पितामह को दिया गया सकर्षण तथा पिता को दिया गया प्रद्युम्न घोषित है और पिण्डकर्ता स्वय अनिरूद्ध कहलाता है।

अति प्राचीनकाल मे मृत पूर्वजो के लिए केवल तीन कृत्य किये जाते थे (1)पिण्ड पितृयज्ञ (उनके द्वारा किया गया जो श्रौताग्नियो मे यज्ञ करते थे) या मासिक श्राद्ध (उनके द्वारा जो श्रौताग्नियो मे यज्ञ नही करते थे) आश्वलायन[399], हिरण्यकेशिगृहसूत्र[400], आपस्तम्ब गृहसूत्र[401], विष्णुपुराण[402] आदि। (2) महापितृ यज्ञ एंव (3) अष्टकाश्राद्ध।

श्राद्ध करने का अधिकारी कौन होता है? इस प्रश्न पर भी प्राचीन लेखको मे एक मत नही है। कुछ धर्मशास्त्र ग्रंथों (यथा-विष्णुधर्मसूत्र) ने यह व्यवस्था दी है कि जो कोई मृतक की सम्पत्ति लेता है उसे उसके लिए श्राद्ध करना चाहिए, और कुछ ने ऐसा कहा है कि जो भी कोई श्राद्ध करने की योग्यता रखता है अथवा श्राद्ध का अधिकारी है वह मृतक की सम्पत्ति ग्रहण कर सकता है। वायुपुराण[403] ने म्लेच्छो को पितरो के लिए श्राद्ध करते हुए वर्णित किया है। गोभिलस्मृति[404] ने एक सामान्य नियम यह दिया है कि पुत्रहीन पत्नी को (मरने पर) पति द्वारा पिण्ड नही दिया जाना चाहिए, पिता द्वारा पुत्र को तथा बडे भाई द्वारा छोटे भाई को पिण्ड नही दिया जाना चाहिए। अपरार्क[405] ने षटत्रिशन्मत का एक श्लोक उदृत कर कहा है कि पिता को पुत्र एवं बडे भाई को छोटे भाई का श्राद्ध नही करना चाहिए, किन्तु बृहत्पराशर[406] ने कहा है कि कभी-कभी यह सामान्य नियम भी नही माना जाता था। बौधायन[407] एव वृद्धशतातप[408] ने किसी को स्नेहवश किसी के लिए भी श्राद्ध करने की, विशेषता· गया में, अनुमति दी है। ऐसा कहा गया है कि केवल वही पुत्र कहलाने योग्य है, जो पिता की जीवितावस्था मे उसके वचनो का पालन करता है, प्रतिवर्ष (पिता की मृत्यु के उपरान्त) पर्याप्त

भोजन (ब्राह्मणो को) देता है और जो गया मे (पूर्वजो को) पिण्ड देता है[409]। एक सामान्य नियम यह था कि उपनयन विहीन बच्चा शूद्र के समान है और वह वैदिक मत्रो का उच्चारण नही कर सकता (आपस्तम्ब धर्मसूत्र[410], गौतम[411], वसिष्ठ,[412] विष्णु[413] एव मनु[414]) किन्तु इसका एक अपवाद स्वीकृत था. उपनयनविहीन पुत्र अन्त्येष्टि कर्म से संबधित वैदिक मत्रो का उच्चारण कर सकता है। इस सबध मे मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[415] ने भी विचार व्यक्त किये हैं; उनके अनुसार अल्पवयस्क पुत्र भी यद्यपि अभी वह उपनयनविहीन होने के कारण वेदाध्ययन रहित है, अपने पिताको जलतर्पण कर सकता है। नवश्राद्ध कर सकता है और शुन्धन्ता पितर जैसे मत्रो का उच्चारण कर सकता है, किन्तु श्रौताग्नियो या गृहयाग्नि के अभाव मे वह पार्वण जैसे श्राद्ध नही कर सकता।

इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल मे उपनयन विहीन बच्चा, जो कि अल्पवयस्क भी हो सकता था, पिता की अन्त्येष्टि मे भाग ले सकता था, एंव केवल इसी समय के वैदिक मत्रों का उच्चारण कर सकता था, नवश्राद्ध तो वह कर सकता था किन्तु पार्वण श्राद्ध नही कर सकता था, इस प्रकार वह श्राद्ध में भाग ले सकता था।

श्राद्ध किस काल में की जानी चाहिए ? इस विषय पर भी प्राचीनकाल के विद्वानो से लेकर पूर्वमध्यकाल के लेखको के मध्य मतवैभिन्य है। शतपथ ब्राह्मण एव तैत्तिरीय आरण्यक[416] से पता चलता है कि वह आह्निक यज्ञ जिसमे पितरों को स्वधा (भोजन) एंव जल दिया जाता है, पितृयज्ञ कहलाता है, भी एक प्रकार से श्राद्ध है। मनु ने व्यवस्था दी है कि प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन भोजन या जल या दूध, मूल एंव फल के साथ श्राद्ध करना चाहिए और पितरो को सतोष देना चाहिए। गौतम[418] के अनुसार प्रारम्भिक रूप मे श्राद्ध पितरो के लिए अमावस्या के दिन किया जाता था। अमावस्या दो प्रकार की होती है सिनीवाली एंव कुहू। आहितग्नि (अग्निहोत्री) सिनीवाली मे श्राद्ध करते है, तथा इनसे भिन्न एव शूद्र लोग कुहू अमावस्या में श्राद्ध करते हैं।

श्राद्ध तीन कोटियों मे विभाजित किये गये है, नित्य, नैमित्तीक एंव काम्य। वह श्राद्ध नित्य कहलाता है जिसके लिए ऐसी व्यवस्था दी हुई हो कि वह किसी निश्चित अवसर पर किया जाये जैसे

आन्हिक, अमावस्या के दिन वाला या अष्टका के दिन वाला। जो ऐसे अवसर पर किया जाय जो अनिश्चित सा हो जैसे- पुत्रोत्पित्त आदि पर, उसे नैमित्तीक कहा जाता है। जो किसी विशिष्ठ फल के लिए किया जाये उसे काम्य कहते है यथा स्वर्ग, सतति आदि की प्राप्ति के लिए कृत्तिका या रोहिणी पर किया गया श्राद्ध। पचमहायज्ञ कृत्य, जिसमे पितृयज्ञ भी सम्मिलित है, नित्य कहे जाते है, अर्थात् उन्हें बिना किसी फल की आशा से करना चाहिए, उनके न करने से पाप लगता है ऐसा नही है कि वे अपरिहार्य नही है और उनका सम्पादन तभी होता है जब व्यक्ति किसी विशिष्ठ फल की आशा रखता है अर्थात् इन कर्मों का सम्पादन काम्य अथवा इच्छाजनित नहीं है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र[419] ने श्राद्ध के लिए निश्चित कालों की व्यवस्था दी है, जैसे इनका सम्पादन प्रत्येक मास के अंतिम पक्ष मे हो जाना चाहिए, अपराह्न को श्रेष्ठता मिलनी चाहिए और पक्ष के आरम्भिक दिनो की अपेक्षा अंतिम दिनो को अधिक महत्व देना चाहिए। गौतम[420] एंव वसिष्ठ[421] का कथन है कि श्राद्ध प्रत्येक मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्थी को छोडकर किसी भी दिन किया जा सकता है एव गौतम ने पुन कहा है कि यदि विशिष्ठ रूप मे उचित सामग्रिया या पवित्र ब्राह्मण उपलब्ध हों या कर्ता किसी पवित्र स्थान (यथा-गया) मे हो तो श्राद्ध किसी भी दिन किया जा सकता है। अग्नि पुराण [422] एव कूर्मपुराण[423] मे भी कहा गया है कि गया मे किसी भी दिन श्राद्ध किया जा सकता है। मनु[424] ने व्यवस्था दी है कि मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को छोडकर दशमी से आरंभ करके किसी भी दिन श्राद्ध किया जा सकता है। किन्तु यदि कोई चन्द्रसम तिथि (दशमी एंव द्वादशी) और सम नक्षत्रो (भरणी, रोहिणी आदि) में श्राद्ध करे तो उसकी इच्छाओ की पूर्ति होती है, किन्तु जब कोई विषम तिथि (एकदशी, त्रयोदशी आदि) में पितृपूजा करता है और विषम नक्षत्रो (कृत्रिका, मृगशिरा आदि) मे ऐसा करता है तो भाग्यशाली सतति प्राप्त करता है। विष्णु धर्मसूत्र[425] के मत से अमावस्या, तीन अष्टकाए एव तीन अन्वष्टकांए, भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की त्रियोदशी, जिस दिन चन्द्र मघा नक्षत्र मे होता है, शरद् एंव बसत श्राद्ध के लिए नित्य कालो के द्योतक है और जो व्यक्ति इन दिनो श्राद्ध नहीं करता वह नरक मे जाता है। विष्णु धर्मसूत्र[425] का कहना है कि जब सूर्य एक राशि से दूसरी में जाता

है, दोनो विषुवतीय दिन विशेषत उत्तरायण एव दक्षिणायन के दिन, व्यतीपात कर्ता के जन्म की राशि, पुत्रोत्पत्ति आदि के उत्सवो का काल-आदि काम्य काल है और इन अवसरो पर किया श्राद्ध (पितरो को) असीम आनन्द देता है।आपस्तम्ब धर्मसूत्र[427], विष्णु धर्मसूत्र[428] कूर्म पुराण[429], ब्रह्माण्ड पुराण[430], भविष्यपुराण[431] एव मनु[432] ने रात्रि, सध्या (गोधूलि-काल), या जब सूर्य का तुरत उदय हुआ हो तब ऐसे कालो मे श्राद्ध-सम्पादन मना किया है, किन्तु चन्द्रग्रहण के समय छूट दी है। आपस्तम्ब ने इतना जोड दिया है कि यदि श्राद्ध सम्पादन अपराह्न मे आरम्भ हुआ हो और किसी कारण से देर हो जाये तथा सूर्य डूब जाय तो कर्ता को श्राद्ध सम्पादन के शेष कृत्य दूसरे दिन करने चाहिए और उसे दर्भों पर पिण्ड रखने तक उपवास रखना चाहिए। विष्णुधर्मसूत्र का कथन है कि ग्रहण के समय किया गया श्राद्ध पितरो को तब तक सृष्टि करता है जब तक चन्द्र एव तारों का अस्तित्व है और कर्ता की सभी सुविधाओं एव सभी इच्छाओ की पूर्ति होती है। कूर्मपुराण का कथन है कि जो व्यक्ति ग्रहण के समय श्राद्ध नही करता वह पक मे पड़ी हुई गाय के समान डूब जाता है। याज्ञ0 पर टीका करते हुए विज्ञानेश्वर अपनी मिताक्षर[433] में सावधानीपूर्वक कहते है कि यद्यपि ग्रहणो के समय भोजन करना निषिद्ध है, तथापि यह निषिद्धता केवल भोजन करने वाले (उन ब्राह्मणो को जो ग्रहण काल मे श्राद्ध भोजन करते) को प्रमाणित करती है किन्तु कर्ता को नही, जो उससे अच्छे फलो की प्राप्ति करता है। इस सबध में मेधातिथि[434] ने एक स्मृतिवचन उद्वत किया है "पूर्वाहने दैविक कार्यमपराह्नेतु पैतृकम। एकादिष्ट तु मध्याह्ने प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम।

इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल से चली आ रही श्राद्ध परम्परा ने पूर्वमध्यकाल में भी अपना स्थान बना रखा था, इस काल में भी श्राद्ध के पूर्वाह्न या अपराह्न मे करने से अच्छे फलो के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस काल में भी लोग श्राद्ध करके अच्छे फलों को प्राप्त करने का प्रयास करते थे।

श्राद्ध सम्पादन के लिए उपयुक्त स्थल के विषय पर भी मनु[435] ने विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार कर्त्ता को प्रयास करके दक्षिण की ओर ढालू भूमि खोजनी चाहिए, जो पवित्र हो और जहा मनुष्य अधिकतर न जाते हों: उस भूमि को गोबर से लीप देना चाहिए, क्योंकि

पितर लोग वास्तविक स्वच्छ स्थलो नदी-तटों एव उस स्थान पर किये गये श्राद्ध से प्रसन्न होते है जहाँ लोग बहुधा कम जाते है। याज्ञवल्क्य[436] ने सक्षित रूप से कहा है कि श्राद्ध स्थल चतुर्दिक आवृत्त, पवित्र एव दक्षिण की ओर ढालू होना चाहिए। शख, पराशरमाधवीय[437], श्राद्धप्रकरण[438] एव स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्ध[439] कथन है- बैलो, हाथियो एव घोडों की पीठ पर, ऊची भूमि या दूसरे की भूमि पर श्राद्ध नही करना चाहिए। ब्रह्मपुराण[440] ने भी नदीतीरो, तालाबो, पर्वतशिखरो एव पुष्कर जैसे पवित्र स्थलो को श्राद्ध के लिए उचित स्थल माना है। वायुपुराण[441] एवं मत्स्यपुराण[442] मे भी श्राद्ध के लिए पूत स्थलो, देशो, पर्वतो की लम्बी सूचिया पायी जाती है।

श्राद्ध करते समय किस प्रकार के व्यक्ति एव पशु को देखने से श्राद्ध फल नष्ट हो जाता है इसक विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[443] ने कहा है कि विद्वान लोगों ने कुत्तो, पतितो, कोढी, खल्वाट व्यक्ति, परदादा से यौन सबध रखने वाले व्यक्ति, आयुधजीवी ब्राह्मण के पुत्र तथा शूद्रा से उत्पन्न ब्राह्मण पुत्र द्वारा देखे गये श्राद्ध की भर्त्सना की है- यदि ये लोग श्राद्ध भोजन करते है तो वे उस पंक्ति में बैठकर खाने वाले व्यक्तियों को अशुद्ध कर देते हैं। मनु[444] ने कहा है कि चाण्डाल, गाव के सुअर या मुर्गी, कुत्ता, राजस्वला एव क्लीव स्त्री को भोजन के समय देखने की अनुमति ब्राह्मणो को नही मिलनी चाहिए। इन लोगो द्वारा यदि होम (अग्निहोत्र) दान (गाय एव सोने का) कृत्य देख लिया जाय, या जब ब्राह्मण भोजन कर रहे हो तब या किसी धार्मिक कृत्य (दर्श-पूर्णमास आदि) के समय या श्राद्ध के समय ऐसे लोगो की दृष्टि पड जाये तो सबकुछ फलहीन हो जाता है। विष्णुधर्मसूत्रो[445] में श्राद्ध के निकट आने की अनुमति न पाने वाले 30 व्यक्तियों की सूची है। कूर्मपुराण[446] का कथन है कि किसी अगहीन, पतित, कोढी, पूयव्रण (पके हुए घाव) से ग्रस्त, नास्तिक, मुर्गा, सूअर, कुत्ता आदि को श्राद्ध से दूर रखना चाहिए, घृणास्पद रूप वाले, अपवित्र, वस्त्रहीन, पागल, जुआरी, राजस्वला, नीलरंग या पीतलोहित वस्त्र धारण करने वालो एंव नास्तिको को श्राद्ध से दूर रखना चाहिए। मार्कण्डेय[447], वायुपुराण[448], विष्णुपुराण[449], एंव अनुशासन पर्व[450] में भी निषिद्ध व्यक्तियो की लम्बी सूची दी हुई है। सदियों बाद लगभग 7-8वीं शती के स्कन्दपुराण में भी श्राद्ध के समय निषिद्धों की सूची पर प्रकाश पडता है स्कन्दपुराण[451] में लिखा है कि

कुत्ते, रजस्वला, पतित एव वराह (सूअर) को श्राद्धकृत्य देखने की अनुमति नही देनी चाहिए।

इस प्रकार श्राद्ध के समय निषिद्धता की परम्परा प्राचीन काल से पूर्वमध्यकाल तक ज्यो की त्यो चली आ रही थी।

श्राद्ध भोजन के लिए आमंत्रित लोग

श्राद्धकर्ता चाहे जो भी हो, श्राद्ध भोजन मे आमत्रण पाने के अधिकारी केवल ब्राह्मण होते थे यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि गृहसूत्रो मे बहुत कम योग्यताए वर्णित है किन्तु स्मृतियों एव पुराणो के काल मे निमन्त्रित होने वाले लोगो की योग्यताओ की सूची बढती ही चली गई। उदाहरणार्थ आश्वलायन गृहसूत्र[452], शाखायन गृहसूत्र[453], आपस्तम्ब गृहसूत्र[454], आपस्तम्ब धर्मसूत्र[455], हिरण्यकेशी गृहसूत्र[456], बौधायन गृहसूत्र[457], गौतम[458] ने कहा है कि आमत्रित ब्राह्मणों को वेदयज्ञ, अत्यन्त सयमी (क्रोध एव वासनाओ से मुक्त) तथा मन एव इन्द्रियो पर संयम करने वाले एव शुद्धाचरण वाले, पवित्र होना चाहिए और उन्हे न तो किसी अंग से हीन होना चाहिए और न अधिक अंग (यथा 6 अगुली) वाले होना चाहिए। हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र[459], बौधायनधर्मसूत्र[460], कूर्मपुराण[461] का कथन है कि श्राद्धकर्ता को ऐसे व्यक्ति आमंत्रित नही करना चाहिए जो विवाह से संबंधित हो (यथा–मामा) और जो सगोत्र या वेदाध्ययन से सबंधित हो (अर्थात् गुरू या शिष्य), या जो मित्र है या जिससे वह धन की सहायता पाने का इच्छुक हो.। मनु[462] ने व्यवस्था दी है कि श्राद्ध भोजन मे मित्र को नही बुलाना चाहिए, (अन्य अवसरो पर) बहुमूल्य दान देकर व्यक्ति किसी को मित्र बना सकता है। श्राद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण को आमत्रित करना चाहिए जो न मित्र हो और न शत्रु, जो व्यक्ति केवल मित्र बनाने के लिए श्राद्ध करता है और देवार्पण करता है, वह उन श्राद्धों या अर्पवो द्वारा मृत्यु के उपरान्त कोई फल नही पाता। किन्तु मनु[463] एंव कूर्म पुराण[464] ने कहा है विद्वान शत्रु की अपेक्षा मित्र को आमत्रित किया जा सकता है। मनु[465] ने कहा है कि मुख्य या अत्युत्तम नियम यह है कि श्राद्ध भोजन उनको दिया जाये जो आध्यात्मिक ज्ञान में लीन रहते हो। जिसनें सम्पूर्ण वेद का अध्ययन कर लिया हो किन्तु जिसका पिता श्रोत्रिय न रहा हो और जो स्वयं श्रोत्रिय न हो किन्तु उसका पिता श्रोत्रिय हो इन दोनों मे अंतिम अपेक्षाकृत अधिक योग्य है।

मेधातिथि मनु[466] पर टीका करते हुए कहते है कि वैसा विद्वान ब्राह्मण, जिसने वेद का अध्ययन कर लिया हो, जो साधु आचरण वाला है, जो प्रसिद्ध कुल का है, जो श्रोत्रिय पिता का पुत्र है और जो कर्ता का संबधी नहीं है, उसे अवश्य आमन्त्रित करना चाहिए और शेष केवल अर्थवाद (प्रशसा मात्र) है। मनु[467] का कथन है कि सर्वोत्तम विधि यह है कि जो ब्राह्मण सभी लक्षणो[468] को पूरा करता हो उसे ही आमंत्रित करना चाहिए, किन्तु यदि किसी ऐसे ब्राह्मण को पाना असभव हो तो अनुकल्प (उसके बदले कुछ कम लक्षण वाली विधि) का पालन करना चाहिए, अर्थात् कर्ता अपने ही नाना, मामा, बहिन के पुत्र, श्वसुर, वेदगुरू, दौहित (पुत्री के पुत्र) दामाद, किसी बन्धु (यथा मौसी के पुत्र), साले या सगोत्र या कुल पुरोहित या शिष्य को बुला सकता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[469] ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि यदि दूसरे लोगो के पास आवश्यक योग्यताये न हो तो, अपने भाई (सहोदर्य) को, जो सभी गुणो (विदविद्या एव अन्य सदाचार आदि) से सम्पन्न हों एंव शिष्यो को श्राद्ध भोजन देना चाहिए। बौधायन धर्मसूत्र[470] ने सपिण्डो को भी खिलाने की अनुमति दी है।

अन्यत्र मनुस्मृति[471] मे आया है कि उस ब्राह्मण को जो केवल गायत्री मत्र जानता है किन्तु नियमो से युक्त जीवन बिताता है, वरीयता मिलनी चाहिए, किन्तु उसे नही जो तीन वेदो का ज्ञाता है, किन्तु नियम नियंत्रित नही है और जो चाहे (निषिद्ध या वर्जित खाद्य पदार्थ) खा लेता है तथा सभी प्रकार की वस्तुओ का विक्रेता है। कई शताब्दियों बाद स्कन्दपुराण मे भी थोडे बहुत परिवर्तन से श्राद्ध मे आमंत्रित करने वाले ब्राह्मणो के गुण बताये गये है। स्कन्द पुराण[472] मे आया है कि ब्राह्मणों के कुल उनके शील एव अवस्था को जानना चाहिए और यह देखना चाहिए कि वे किससे विवाह करते है या किन्हे अपनी पुत्रियॉ देते है।

प्राचीनकाल मे शील, विद्या एव सदाचरण सबधी योग्यताये श्राद्धकर्ता को आमंत्रित होने वाले ब्राह्मणों के अतीत जीवन, गुणो एंव दोषो को जानने के लिए स्वाभाविक रूप से प्रेरित करती है। मनु आदि ने आमंत्रित होने वाले ब्राह्मणों की परीक्षा के कुछ नियम दिये है। मनुस्मृति[473] एंव विष्णुधर्मसूत्र[474] ने व्यवस्था दी है- देवकर्मों में (आमंत्रित करने के लिए) ब्राह्मण (के गुणों की) परीक्षा नहीं ली जानी चाहिए

किन्तु पितृ श्राद्ध मे (गुणो की) भली भाति छानबीन उचित एव न्यायसगत घोषित है। अन्यत्र[475] आया है कि भले ही ब्राह्मण वेद का पूर्ण ज्ञाता हो, उसकी (पूर्वजवश परम्परा) मे पूर्ण छानबीन करनी चाहिए।

धीरे-धीरे यह विचार विकसित हुआ कि आमत्रित अतिथि के गुणो की छानबीन करने को अच्छा नही बताया है। यहॉ तक कि पुराणो मे इसकी भर्त्सना की गई है। उदाहरणार्थ स्कन्दपुराण[476], अपरार्क[477] कल्पतरू, श्राद्धपर्व[478] मे आया है- वैदिक कथन तो यह है कि (विद्या एव शील की) छानबीन के उपरान्त ही (किसी ब्राह्मण को) श्राद्धार्पण करना चाहिए। किन्तु छानबीन की अपेक्षा सरल सीधा व्यवहार अच्छा माना जाता है। जब कोई बिना किसी छानबीन के सीधे तौर पर पितरो को श्राद्धार्पण करता है तो वे और देवगण प्रसन्न होते है।

कुछ दशाओ मे ब्राह्मण लोग अपाक्तेय (पंक्ति मे बैठने के अयोग्य या पंक्ति को अपवित्र करने वाले) कहे गये हैं, यथा-शरीरिक एव मानसिक दोष तथा रोगव्याधि, कुछ विशिष्ट जीवन वृत्तियों (पेशो), नैतिक दोष, अपराधी होने के कारण नास्तिक अथवा पाषण्ड धर्मों का अनुयायी होना, कुछ विशिष्ट देशो का वासी होना। आमंत्रित न होने योग्य ब्राह्मणो और अपाक्तेय या पक्तिदूषक ब्राह्मणो मे अतर दिखाया गया है। जैसे मित्र या सगोत्र ब्राह्मणो को साधारणतया नही बुलाना चाहे वे विद्वान ही क्यो न हो, किन्तु ये लोग अपाक्तेय नही है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[479] का कहना है कि धवल या रक्ततदोष-ग्रस्त, खल्वाट, परदादा से सबध रखने वाला, आयुधजीवी पुत्र, शूद्र समब्राह्मण का पुत्र (शूद्रा से उत्पन्न ब्राह्मण का पुत्र) ये पंक्तिदूषक कहलाते है। इन्हे श्राद्ध मे आमत्रित नही करना चाहिए। गौतम[480], मनु[481], याज्ञवल्क्य[482], विष्णुधर्मसूत्र[483], अत्रि[484], गृहद्यम[485], बृहत्पराशर[486], वृद्ध गौतम[487], वायुपुराण[488], मत्स्यपुराण[489], कूर्मपुराण[490], स्कन्दपुराण[491], वराहपुराण[492], ब्रह्मपुराण[493], ब्रह्माण्ड पुराण[494], मार्कण्डेय पुराण[495], विष्णुपुराण[496], नारद पुराण[497], एंव सौर पुराण[498] आदि ग्रथो मे आमंत्रित न किये जाने योग्य ब्राह्मणों की लम्बी सूची दी है।

मनु[499] ने यह संकेत किया है कि किस प्रकार ऐसे अयोग्य ब्राह्मणो को खिलाने से पितरों की सतुष्टि की हानि होती है, और यह भी बताया है कि किस प्रकार ऐसे अयोग्य व्यक्तियो द्वारा खाया गया भोजन अखाद्य वस्तुओं के समान समझा जाना चाहिए।

मनु[500] एव पद्मपुराण का यह विचार आज भी सर्वमान्य है कि पितर लोग आमत्रित ब्राह्मणो मे प्रविष्ट हो जाते है, अत उन्हे पितरो के प्रतिनिधि के रूप मे मानना चाहिए। गरूड पुराण[501] ने कहा है कि यमराज मृतात्माओ एव पितरो को श्राद्ध के समय यमलोक से मृत्युलोक मे आने की अनुमति देते है। श्राद्ध मे आमत्रित ब्राह्मणो की सख्या के विषय मे कई मत है। वशिष्ठ[502], मनु[503], बौधायन धर्मसूत्र[504], याज्ञवल्क्य[505], मत्स्यपुराण[506] एव विष्णुपुराण[507] ने कहा है कि देवकृत्य मे दो एंव पितृकृत्य मे तीन या दोनो मे एक ब्राह्मण को अवश्यमेव खिलाना चाहिए, धनी व्यक्ति को भी चाहिए कि वह अधिक ब्राह्मणो को न खिलाये। इससे प्रकट होता है कि आमंत्रितो की सख्याकर्ता के साधनो पर नही निर्भर होती, प्रत्युत वह आमंत्रित करने वालो की योग्यता पर निर्भर होती है जिस से वह उचित रूप मे एव सुकरता के साथ आमंत्रित का सम्मान कर सके।

यद्यपि इन प्राचीन ग्रथो ने श्राद्ध-कर्म मे अधिक व्यय नही करने का कहा है तथापि कुछ स्मृतियो ने अधिक परिमाण मे सम्पत्ति व्यय की व्यवस्था दी है। जैसे बृहस्पति ने कहा है- उत्तराधिकारी को दाय का आधा भाग मृत के कल्याण के लिए पृथक रख देना चाहिए और उसे मासिक, छमाही एव वार्षिक श्राद्धो में व्यय करना चाहिए। पूर्वमध्यकाल मे आकर जीमूतवाहन[508] की दायभाग में इस दाय का समर्थन मिलता है इससे स्पष्ट होता है कि इस काल तक आते-आते श्राद्धो मे आडम्बर, दिखावे एव अधिक व्यय ने अपना स्थान बना लिया था। अति प्राचीनकाल से श्राद्धो मे प्रयुक्त होने वाले पदार्थों एव पात्रो तथा उसमे प्रयुक्त न होने वाले पदार्थों के विषय मे विस्तृत नियम चले आ रहे है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[509] में आया है-श्राद्ध के द्रव्य ये है, तिल, माष, चावल, यव, जल, मूल एंव फल, किन्तु पितर लोग घृतमिश्रित भोजन से बहुत काल के लिए सतुष्ट हो जाते हैं; उसी प्रकार वे न्यायपूर्ण विधि से प्राप्त धन से और उसे योग्य व्यक्तियों को दिये जाने से संतुष्ट होते हैं। मनु[510] ने व्यवस्था की है कि जगल में यात्रियों द्वारा खाया जाने वाला भोजन (गाय का दूध) सोमरस, बिना मसालों से बना मास (जो खराब गध से मुक्त हो) एंव पर्वतीय नमक स्वभावत. यज्ञिय भोजन (हविष्य) है

वायुपुराण[511] ने विभिन्न प्रकार के अन्नो, ईख, घृत एव दूध से बनाये जाने वाले खाद्य पदार्थों का उल्लेख किया है।

मत्स्यपुराण[512] मे आया है कि दूध एव दही तथा गाय के घृत एव शक्कर से मिश्रित भोजन सभी पितरो को केवल एक महीने तक सतुष्टि देता है। ब्रह्मपुराण[513] मे कहा गया है कि वह खाद्य पदार्थ जो मीठा एव तैलिक हो और थोडा खट्टा या तीता हो तो उसे श्राद्ध मे देना चाहिए और ऐसे खाद्य पदार्थ जो अति खट्टे या नमकीन या तीते हो त्याज्य है, क्योंकि वे आसुर है। उडद के विभिन्न व्यजनो पर अधिक बल दिया गया है। यह परम्परा पूर्वमध्यकाल तक चलती रही। 13वी शती के देवण्णभट्ट की स्मृतिचन्द्रिका[514] ने एक स्मृतिवचन उद्वत करते हुए कहा है कि वह श्राद्ध जिसमे माष के व्यजन नही दिये जाते, असम्पादित सा है।

अतिप्राचीनकाल से ही लेखको के बीच श्राद्ध के समय मास दिये जाने के विषय मे मतभेद रहा है। आपस्तम्बधर्मसूत्र[515] ने व्यवस्था दी है कि नैयमिक श्राद्ध (प्रतिमास सम्पादित) मे मांसमिश्रित भोजन अवश्य चाहिए, सर्वोत्तम ढग है घृत और मास देना, इन दोनो के अभाव में तिल के तेल एंव शाको का प्रयोग किया जा सकता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र[516] यह भी कहता है कि श्राद्ध मे गोमास खिलाने से पितर लोग एक वर्ष के लिए सतुष्ट हो जाते है, भैस का मास खिलाने से पितृसतुष्टि एक साल से अधिक की हो जाती है। विष्णुधर्मोत्तर[517] में त्रिपिव, वार्ध्रीणस के मांस खिलाये जाने का उल्लेख है। वार्ध्रीणस को लाल बकरा कहा गया है जो त्रिपिब (जिसके कान इतने लम्बे होते है कि जल पीते समय जल स्पर्श करते है) कहा गया है। मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि[518] भी ऐसे ही विचार व्यक्त करते है। (त्रिपिब पानी पीते समय मुख एव दोनो कानों से मानो पानी पिया जाता है। इसी से बकरे का नाम त्रिपिब पडा) ।

मनुस्मृति[519], याज्ञवल्क्य[520], कूर्मपुराण[521], वायुपुराण[522], मत्स्यपुराण[523], विष्णु पुराण[524] पद्मपुराण[525], ब्रह्मण्ड पुराण[526], विष्णुधर्मोत्तरपुराण[527] ने विस्तार के साथ श्राद्ध भोजन में विभिन्न प्रकार के पशुओं के मांस प्रयोग से पितरों की सतुष्टि का वर्णन किया है। पूर्वमध्यकाल के लेखको ने भी श्राद्ध के समय मांस का भोजन देने पर बल दिया है। हेमाद्रि[528] ने कहा है कि कालविषयक बातों को यथाश्रुत

शाब्दिक रूप मे नही लेना चाहिए, केवल इतना ही स्मरण रखना यथेष्ट है कि मास प्रकार के अर्पण से उसी प्रकार की अधिकतर सतुष्टि होती है। पुलस्त्य[529] ने मिताक्षरा एव अपरार्क से उद्धरण लेकर यही बताया है कि ब्राह्मण द्वारा सामान्यत श्राद्ध मे यति भोज अर्पण करना चाहिए क्षत्रिय या वैश्य द्वारा मास अर्पण, शूद्र द्वारा मधु का अर्पण करना चाहिए। चाहे कोई भी कर्ता हो, भोजन करने वाले ब्राह्मण ही होते है, इससे स्पष्ट है कि क्षत्रिय या वैश्य द्वारा आमत्रित ब्राह्मण को मास खाना पडता था। यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि मिताक्षरा एंव कल्पतरू (1100-1120ई0) ने स्पष्टत यह नही कहा है कि कलियुग मे कम से कम ब्राह्मणो के लिए मास प्रयोग सर्वथा वर्जित है। इससे स्पष्ट होता है कि श्राद्ध मे मास अर्पण को अब कम पसद किया जाने लगा था, आगे चलकर यह वर्जित हो गया।

पिण्डदान किस समय करना चाहिए? इसके उत्तर में कई मत प्रस्तुत किये जा सकते है। शांखायन गृहसूत्र[530] आश्वलायन गृहसूत्र[531], शख[532], मनु[533], याज्ञवल्क्य[534] आदि के मत से जब श्राद्ध भोजन ब्राह्मण समाप्त कर लेते है तो कर्ता पिण्डदान करता है। यहॉ पर भी दो मत है (1)ब्राह्मणो के भोजन कर लेने के उपरान्त आचमन करने के पूर्व पिण्डदान होता है[535] (2) ब्राह्मणो द्वारा मुख धो लेने एंव आचमन कर लेने के उपरान्त पिण्डदान होता है। विष्णुधर्मसूत्र[536] ने व्यवस्था दी है कि पितरो को तब पिण्ड देना चाहिए, जब ब्राह्मण खा रहे हों। चौथा मत यह है कि[537] कर्ता को, जब ब्राहमण खाकर जा चुके हो और जब वह उनका अनुसरण कर प्रदक्षिणा करके लौट आया हो, तब पिण्डदान करना चाहिए। पूर्वमध्यकाल तक आते-आते मतभेदो के कारण लेखको ने समझौतावादी दृष्टिकोण विकसित किया जो कि मध्य का मार्ग प्रस्तुत करता है। हेमाद्रि एंव मदन-पारिजात का कहना है कि लोगों को अपनी शाखा की विधि का पालन करना चाहिए। हेमाद्रि[538] ने आगे जोडा है कि कि यदि किसी के गृहसूत्र में पिण्डदान के काल का उल्लेख न हो तो उसे उस मत के अनुसार चलना चाहिए जो यह व्यवस्थित करता है कि ब्रह्मभोज एंव आचमन के उपरान्त पिण्डदान करना चाहिए। याज्ञवल्क्य पर टीका करते हुए अपरार्क[539] का कथन है कि सभी दशाओ में (बिना किसी

अपवाद के) पिण्डो का दान उन पात्रो के पास होना चाहिए, जिनसे ब्राह्मणो को खिलाया जाता है।

अमावास्या को किये जाने वाले श्राद्ध मे किन किन पूर्व पुरूषो को पिण्ड देना चाहिए? इस विषय मे भी मतैव्य नही है। क्या पिता के साथ माता के पितर भी अपनी पत्नियो के साथ बुलाये जाते थे? वेदो एव ब्राह्मणो मे इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है। तैत्रिरीय संहिता[540], तैत्रिरीय ब्राह्मण[541] वाजसनेयी सहिता[542], शतपथ ब्राह्मण[543] मे केवल पितरो एंव तीन पैतृक पूर्व पुरूषो के नाम ही आये है। आगे चलकर लगभग पूर्वमध्यकाल मे विचार मे परिवर्तन दिखाई पडता है। कात्यायन[544] ने पैतृक पितरो के लिए तीन पिण्डो एंव मातृक पितरो के लिए भी तीन पिण्डों के निर्माण का बात कही है। गोभिलस्मृति[545] ने व्यवस्था दी है कि अन्वष्टका श्राद्ध प्रथम श्राद्ध (11वे दिन), 16 श्राद्धों एंव वार्षिक श्राद्ध को छोडकर अन्य श्राद्धों मे छ पिण्डो का दान होना चाहिए। धौम्य, श्राद्ध प्रकाश[546] एव स्मृतिचन्द्रिका[547] मे आया है कि जहा पैत्रक पूर्वजो को पूजा जा रहा हो, मातामहो (मातृक पूर्व पुरूषों) को भी सम्मानित करना चाहिए, किसी प्रकार का अन्तर प्रदर्शित नही करना चाहिए, यदि कर्त्ताविभेदकरता है तो वह नरक मे जाता है। विष्णु पुराण[548], ब्रह्माण्ड पुराण[549] एव वराहपुराण[550] कहते हैं कि कुछ लोगो के मत से मातृक पुरूषो का श्राद्ध पृथक रूप से करना चाहिए, और कुछ लोगो का ऐसा कहना है कि पैतृक एव मातृक पूर्वपुरूषो के लिए एक ही समय एव एक ही श्राद्ध करना चाहिए। बृहस्पति[551] का कथन है कि श्राद्ध के लिए बने भोजन पदार्थों से एव तिल और मधु से अपनी गृहयसूत्र विधि के नियमो के अनुसार पिण्डो का निर्माण मातृ-पितृ पक्षों के पूर्व-पुरूषो के लिए होना चाहिए। बृहत्पराशर[552] ने इस विषय मे कई मत दिये है यह संभव है कि जब पुत्रों को गोद लेने की प्रथा कम प्रचलित हुई या सदा के लिए विलीन हो गई तो पार्वणश्राद्ध में मातृ पितर पित्रय पितरों के साथ ही संयुक्त हो गये। वैदिक साहित्य में पितरों की पत्नियो पूर्व पुरूषों के साथ संयुक्त नहीं थी, सूत्रकाल मे पत्निया के सम्मिलित होने के सकेत मिलते हैं। जैसे-हिरण्यकेशि ग्रह्यसूत्र[553] ने कृष्ण पक्ष के मासिक श्राद्ध में माता, मातामही एंव प्रमातामही को उनके पतियो के साथ संबंधित रखा है। इसी प्रकार बौधायन गृहसूत्र[554] ने अष्टका श्राद्ध मे न

केवल मातृपक्ष के पितरो को पितृपक्ष के पितरो के साथ रखा है, बल्कि उनकी पत्नियो को भी साथ रखा है। शातातप मे आया है- सपिण्डीकरण के उपरान्त पितरो को जो दिया जाता है उसमे सभी स्थानो पर माता आती है अन्वष्टका कृत्यो, वृद्धि श्राद्ध गया मे एव उसकी वार्षिक श्राद्ध क्रियाओं में माता का अलग से श्राद्ध किया जा सकता है। किन्तु अन्य विषयो मे उसके पति के साथ ही उसका श्राद्ध होता है। (श्राद्ध प्रकाश[555], स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्ध वृहस्पति[556] मे ऐसा आया है कि माता अपने पति (कर्ता के पिता)के साथ श्राद्ध ग्रहण करती है और यही नियम पितामही एव प्रपितामही के लिए भी लागू है। स्मृतिचन्द्रिका[557], हेमाद्रि[558], श्राद्धप्रकाश[559]) इससे स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे भी सूत्रकाल के समान श्राद्ध मे माता का पिता के समान स्थान था।

पिण्डदान के सबधी मत्रीपाठ के विषय मे भी अति प्राचीन काल से कुछ मतमतान्तर है। कुछ लेखको के मत से पिण्डदान का रूप यह है-हे पिता, यह तुम्हारे लिए है, नाम---गोत्र---वाले। तैत्रिरीय संहिता[560] एंव आपस्तम्ब[561] मत्रपाठ आदि ने यह और जोड दिया है और उनके लिए भी जो तुम्हारे पश्चात आते है। अपरार्क[562] हेमाद्रि[563], श्राद्धप्रकाश[564] मे आया है कि पूर्व पुरूष को पिण्ड नाम, गोत्र एव कर्ता सबंध कहकर दिया जाता हैं। गोभिलगृहसूत्र[565] हेमाद्रि[566] एंव श्राद्ध प्रकाश[567] ने व्यवस्था दी है कि जब कर्ता अपने पितरों के नाम नहीं जानता तो उसे प्रथम पिण्ड 'पृथ्वी पर रहने वालो पितरों' को स्वधा यह कहकर रखना चाहिए, दूसरा पिण्ड उनको जो वायु में निवास करते है स्वधा कहकर और तीसरा पिण्ड 'स्वर्ग में रहने वाले पितरो की स्वधा' कहकर रखना चाहिए और मद स्वर मे उसे यह कहना चाहिए-हे पिता, यहा आनन्द मनाओ और अपने-अपने भाग्य पर जुट जाओ। मेधातिथि[568] ने आश्वलायन श्रौतसूत्र आदि का अनुसरण करते हुए कहा है कि यदि पितरो के नाम न ज्ञात हो तो केवल ऐसा कहना चाहिए- हे पिता पितामह आदि। यदि गोत्र न ज्ञात हो तो कश्यप का प्रयोग करना चाहिए। यही बात स्मृतिचन्द्रिका[569] मे भी कही गई है।

इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल मे भी प्राचीनकाल के समान ही कर्मकाण्डों सहित श्राद्ध किया जाता था। जिसमें पितृक एंव मातृक दोनो के पितर समान रूप से श्राद्ध पाने के अधिकारी होते थे। प्राचीनकाल से पूर्वमध्य काल के श्राद्ध में एक महत्वपूर्ण अन्तर श्राद्ध मे मांस परोसने के

मतो को लेकर है जहाँ प्राचीनकाल के लेखको का मत था कि मास अर्पण करने से पितर सतुष्ट होते है। वहीं पूर्वमध्यकाल मे श्राद्ध मे केवल क्षत्रिय ही मास अर्पण करते थे, किन्तु ब्राह्मण को खाने की मनाही नहीं थी अर्थात् उसे वर्जित पदार्थ की श्रेणी मे रखा जा चुका था. आज भी केवल बंगाल इत्यादि प्रातो को छोडकर पूरे उत्तर भारत मे कहीं भी पितरो को श्राद्ध मे मास नहीं अर्पित किया जाता है।

4- तीर्थस्थल.

पूर्वमध्यकाल के सामाजिक एव आर्थिक जीवन मे तीर्थ एक महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। ज्यादातर तीर्थस्थल प्राकृतिक सुन्दरता वाले स्थान जैसे पर्वत की चोटियो, पहाडियो, जगलो, नदियो के उद्‌गम, समुद्र के मध्य, झरनो, एवं गर्म पानी के स्त्रोतो के पास स्थित है, जोकि सामान्य जनता से लेकर उच्चवर्ग तक के आकर्षण के केन्द्र है। सन्यासियो एव ऋषियो के लिए यह धार्मिक कार्यस्थल एव ध्यान लगाने की दृष्टि से उपयुक्त थे जबकि सामान्य जनता जीवन मे एकबार इन्हे देखने की इच्छा रखती है। भारतीय हिन्दूओं की जीवन व्यवस्था में तीर्थयात्रा एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है[570], इस परम्परा की प्राचीनता सूत्रकाल तक देखी जा सकती है[571]। पुराणो एव उपपुराणों के साथ ही इनकी प्रसिद्धि और महत्ता में वृद्धि हुई है[572] जोकि 11वी शती मे अलबरूनी द्वारा ध्यान दी गई थी[573]। वृहस्पत्य अर्थशास्त्र[574] मे भारत की लम्बाई एंव चौडाई बताने के लिए तीर्थों का प्रयोग किया गया है कि बंद्रिका से रामेश्वर 1000 योजन एव द्वारिका से पुरूषोत्तम एव सालग्राम 700 योजन तक है। तीर्थ स्थलो का प्राचीनतम उल्लेख महाभारत के वनपर्व में मिलता है। पुराणो मे भी तीर्थ स्थलो का उल्लेख मिलता है। तीर्थों के सबंध में न केवल अभिलेखीय साक्ष्य, बल्कि 11-12वी शती मे लिखित साहित्य से भी प्रमाण मिलते है।

देववमदिव के चरखारी अभिलेख (1108-1051 ई0) से पता चलता है कि चदेल राजा विद्याधर देव के पौत्र देववर्मा देव ने पूर्णिमा के दिन कोटितीर्थ मे स्नान किया था, शिव की पूजा अर्चना की एव यमुना के किनारे एक गांव एक ब्राह्मण को दान में दिया।[575] काणे[576] बताते है कि यहाँ दस से ज्यादा कोटितीर्थ हैं, किन्तु यमुना के किनारे केवल मथुरा ही है। वराहपुराण[577] में भी ऐसा दिया हुआ है। धारा के जयसिह ने 1055 ई0 मे पवित्र अमरेश्वर की देखभाल के लिए एक ब्राह्मण को एक ग्राम

दान मे दिया था। 12वी शती मे लक्ष्मीधर[578] ने कृत्यकल्पतरू नाम की पुस्तक आठ खण्डो मे रचित की, जिसमे तीर्थों का उल्लेख होने के कारण इसका नाम तीर्थ विवेचन खण्ड मिलता है। यह अपनी तरह का प्रथम प्रयास था जिसमे तीर्थस्थल जैसी सस्था का क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत किया गया था। ऐसा विवरण पुराणो, उपनिषदो यहॉ तक कि धर्मशास्त्रो मे भी प्राप्त होता है। ऐसा विश्वास था कि तीर्थयात्रा करने से पाप नष्ट होता है, नैतिकता मे वृद्धि एव मानसिक सयम, प्रसन्नता एव चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त होता है। अलबरूनी[579] के अनुसार सामान्य जनता केवल तीर्थ पर उनके महत्व के बारे मे बिना पूछ ताछ किये विश्वास करती थी।

उद्योतकेसरी के राज्यकाल के 18वे वर्ष के ब्रह्मेश्वर मदिर अभिलेख[580] (1055-1080 ई0) से पता चलता है कि इकाम्रा के सिद्धतीर्थ में एक चार स्तम्भो पर स्थित बादलो को छूता हुआ एक मंदिर बनवाया गया। इससे सभवत: भुवनेश्वर का 11वी शती के मध्य मे तीर्थस्थल के रूप में परिचय प्राप्त होता है। चालुक्य नरेश विक्रमादित्य VI 1082 ई0 के एक अभिलेख में वाराणसी, कुरूक्षेत्र, अर्घतीर्थ, प्रयाग एव गया जैसे पवित्र स्थानो के विशेष संदर्भ दिये हुए हैं। इन तीर्थ स्थानो मे अर्घतीर्थ का लेख कलचुरि नरेश कर्ण (1047) के गोहर्वा उल्लेख से प्राप्त होता है, किन्तु अभी तक इसकी पहचान नही हो पायी है, बाकि के चार तीर्थ अपने धार्मिक महत्व के कारण आज भी प्रचलित है। अयोध्या की तीर्थ के रूप मे महत्ता चन्द्रवती लेख 1093 से पता चलती है। इस लेख मे गहडवाल नरेश चन्द्रदेव कहते है कि उन्होने 23 अक्टूबर 1093 ई0, अश्विन माह मे सूर्यग्रहण के दिन सरयू एव घाघरा नदियों के मध्य स्थित स्वर्ग द्वारतीर्थ मे स्थान किया, जिससे कि सभी पाप नष्ट हो जाते है यही स्थल अयोध्या एंव उत्तरकोसल कहलाता है[581]। मदनपाल एक अभिलेख 1107 ई0[582] एव जयचन्द्र अपने बेनारस ताम्र अनुदान पत्र 1175 ई[583] मे दावा करता है कि चन्द्रदेव ने काशी, कुशिका, उत्तरकोशल एंव इन्द्रस्थान को बचाया। तीर्थस्थलों का सरक्षण इस काल में एक बहुत बडा कार्य था क्योंकि जहॅा एक तरफ तुर्कों के आक्रमण का भय था वही दूसरी तरफ लुटेरे तीर्थों के समृद्व होने के कारण इन्हें लूटने के लिए तैयार बैठे रहते थे। पृथ्वीराज विजय[584] से भी ज्ञात होता है कि चाहमानो ने पुष्कर तीर्थ को मंतगों एंव मलेच्छों से बचाया। चहमानों का उत्कर्ष ही पुष्कर तीर्थ

के सरक्षण के लिए हुआ था। सोमेश्वर अपनी कीर्तिकौमुदी[585] मे वस्तुपाल के तीर्थस्थल का उल्लेख करते हुए कहते है कि यहॉ शातिप्रिय यात्रियो से अधिक लुटेरो का दल आता है। एक अन्य अभिलेख शक सवत 1059/1137-38 का मे पुरूषोत्तम नाम के एक अन्य महत्वपूर्ण तीर्थ का उल्लेख है। बिहार के कवि गगाधर गया जिले के उपजिले नवादा के गोविन्दपुर से यात्रा करते हुए कहता है कि उसके पिता मनोरथ ने पुरी की यात्रा की थी।[586] यहॉ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इससे पहले पुरी का तीर्थ के रूप मे उल्लेख कही नही मिल रहा था। महाभारत, बल्लालसेन के धगसागर एव लक्ष्मीधर के तीर्थ विवेचन खण्ड मे इसका उल्लेख नही मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि पुरी प्राचीनकाल से तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध नही था। लगभग 12वी शती से इसने महत्व प्राप्त करना शुरू किया जीमूतवाहन के कलाविवेक से भी पुरी तीर्थ के रूप मे स्थान प्राप्त करता है। जहॉ पर कहा गया है कि पुरूषोत्तम ज्येष्ठ के माह के पूर्णिमा के दिन विशेष रूप से प्रशसा प्राप्त करता था।[587]

जबलपुर प्रस्तर अभिलेख 1174 ई0 से पता चलता है कि विमलाशिव, जो कि एक शैव शिक्षक था एव कलचुरियो के दरबार मे रहता था, ने प्रभास, गोकर्ण, गया एंव अन्य तीर्थों मे घूम-घूम कर धार्मिक कृत्य सम्पन्न किये थे।[588] सारंगदेव के राज्य से प्राप्त चिन्त्रा प्रशास्ति 1287 ई0 में शैव सन्यासियो के तीर्थस्थलो का उल्लेख प्राप्त होता है। त्रिपुरान्तक ने केदार मे शिव की अराधना की थी, गगा एंव यमुना के सगम प्रयाग में की एंव श्रीपर्वत पर जाकर भगवान मल्लीनाथ के दर्शन किये, रेवा एंव गोदावरी के जल में स्नान किया, त्रयंबक की यात्रा की एंव रामेश्वरम पहुंचे पुन. प्रभास के दर्शन किये एव देवपत्तन के रास्ते लौट आये।[589]

इस काल के साहित्यिक साक्ष्यो से भी तीर्थस्थलो के बारे मे उल्लेख मिलता है। अलबरूनी ने इस काल के तीर्थस्थलों मे मुल्तान[590] थानेश्वर, कश्मीर मे स्थित शारदा मदिर[591], बनारस[592], पुष्कर, मथुरा[593] एंव कश्मीर[594]। सोमदेव की कथासरित्सागर में, जोकि 11वी शती की पुस्तक है, बद्री[595], विंध्याचल की पहाडियों[596] मे दुर्गा मंदिर, पुष्कर[597], प्रयाग[598], बनारस[599] एंव चित्रकूट[600] प्रमुख तीर्थ गिनाये गये है।

लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरू का नाम ही तीर्थ विवेचन खण्ड है, इसमे तीर्थों का विशद विवरण प्राप्त होता है। लक्ष्मीधर[601] ने प्रयाग, गया, मथुरा, कुरूक्षेत्र पुष्कर, श्रीकर उज्जैन, हरिद्वार, सालग्राम, स्तुतस्वामिन, द्वारका, केदार, कोकामुख, पृथूदक, मदरा, लोहरगला, नैमिषा का उल्लेख किया है, किन्तु इनके ग्रथ मे कई प्रमुख तीर्थों का विवरण नही मिलता है जैसे- पुरूषोत्तम, भुवनेश्वर, कोणार्क, काची, चिदाम्बरम, श्रीरगम, रामेश्वर, कन्याकुमारी एव जालधर।

जीमूतवाहन के कलाविवेक[602] मे भी तीर्थों के विषय मे महत्वपूर्ण सूचना मिलती है। इस ग्रथ मे किस तीर्थ में किस माह मे जाना चाहिए इसका भी उल्लेख मिलता है। 1169 मे वल्लालसेन[603] द्वारा लिखित दानसागर मे भी तीर्थों की सूची का उल्लेख मिलता है। इसमें पवित्र नदियों का भी उल्लेख मिलता है जैसे- जहान्वी, यमुना, नर्मदा, ताप्ती, गोमती या गोदावरी, सरस्वती, बनजारा, भीमरथी या भीमा, कृष्णा, वृहन्नदी (महानदी), मालप्रभा। अन्य तीर्थों मे पुष्कर, शुक्लतीर्थ, जोकि भडौच के उत्तरपूर्वी भाग मे स्थित है, प्रभास, केदार, प्रयाग एव वाराणसी प्रमुख है[604]। जैन लेखक हेमचन्द्र की द्वयाश्रयकाव्य[605], ब्रह्स्पत्य अर्थशास्त्र मे भी तीर्थों की सूची मिलती है।

तीर्थ यात्रा का समाजिक महत्व:

संभवत तीर्थ यात्रा न केवल द्विजो बल्कि शूद्रो एव चण्डालों के लिए भी सभव थी, क्योंकि किसी भी साक्ष्य से ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है कि तीर्थस्थलो पर शूद्रों या अन्य अस्पृश्यो को जाने की मनाही थी। लक्ष्मीधर[606] मत्स्यपुराण का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि चारों जातियो के लोगों को तीर्थस्थलो पर जाने की अनुमति थी, यहॉ तक कि चण्डालो को भी काशी जैसे तीर्थ पर जाने के योग्य समझा जाता था, ऐसा विश्वास किया जाता था कि यहॉ आने से उनके सभी पाप नष्ट हो जायेगें। ऐसी सामान्य धारणा थी[607] कि अस्पृश्यता के नियम तीर्थों पर लागू नही होते थे, साथ ही तीर्थों तक पहुॅचने के मार्ग की यात्रा मे भी भेदभाव नहीं होता था। यह स्वाभाविक ही था कि तीर्थयात्राओं से थोडी ही देर के लिए सही स्तर का भेदभाव, जातियों का विभेदीकरण एंव सामाजिक वैभिन्न समाप्त हो जाता था। इसके साथही धार्मिक तीर्थस्थलों पर विभिन्न धर्मों

एव क्षेत्रो के लोगो का परस्पर सम्मिलन होता है जिससे के विभिन्न क्षेत्रो मे परस्पर सास्कृतिक सम्पर्क होता था और एव समाज मे धार्मिक एव नैतिक स्तर उच्च बना रहने मे सहायता मिलती थी।

तीर्थ विभाग

तीर्थों के विभाजन की प्राचीन धारणा[609] ब्रह्मपुराण मे दी हुई है, इसी धारणा को लक्ष्मीधर ने भी प्रतिपादित किया है, जो कि आज भी समाज मे उसी रूप मे प्रचलित है। तीर्थों के चार विभाजन किये गये है- दैव, असुर, आर्ष एव मानुष। दैव तीर्थ वे है जो ब्रह्मा, विष्णु एंव शिव के लिए बनाये गये है। काशी, पुष्कर एव प्रभास, तीन तीर्थ ऐसे थे जो इन तीनों ईश्वरों के लिए प्रमुख थे एव सबसे पवित्र माने जाते थे। पवित्र नदियॉ जैसे गगा, यमुना एव सरस्वती भी दैव तीर्थ मानी जाती है। प्राकृतिक झील इत्यादि को दैवाटक (ईश्वर द्वारा खोदे हुए) कहा जाता है। गया को असुर माना गया है। आर्ष तीर्थ उन्हे कहा जाता है जोकि अपना उद्गम एव पवित्रता किसी ऋषि से सबधित रखते है। मानुष या मनुष्य तीर्थ सूर्य एव चन्द्रवशीय राजाओं के राजवश को कहते है[610] लक्ष्मीधर के ग्रथ[611] में मुख्य तीर्थ इस प्रकार दिये गये है- कुब्जार्मका (हरिद्वार), कुरूक्षेत्र, केदार, द्वारका, नर्मदा, प्रयाग, बद्रीकाश्रम, मथुरा, वाराणसी[612] सुक्रातीर्थ(आधुनिक गगा पर स्थित सोरन) एव पुष्करक्षेत्र।

बौद्धो[613] के अपने तीर्थों के केन्द्र थे, जोकि बुद्ध के जीवन, सघ की कार्यविधियो एव बुद्ध के अवशेषों से संबधित थे। जैनों[614] में भी तीर्थ पंथ पनपने लगा था जो महत्वपूर्ण जैन तीर्थ तीर्थकरो के जीवन एव प्रसिद्ध जैन मंदिरो के स्थलो से संबधित है। हिन्दूओं में भी तीर्थयात्राओ ने महत्ता प्राप्त कर ली थी। शाक्तधर्म का बढता प्रचलन एव शक्तिपीठों[615] की स्थापना से पूर्वमध्यकाल में तीर्थ स्थलों की संख्या मे वृद्धि हो रही थी।

हिन्दूओं द्वारा तीर्थस्थलों पर किये जाने वाले कृत्य

तीर्थस्थलों पर किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों मे व्रत, मुण्डन, पितृपूजा एव दान प्रमुख है।[616] 12वी शती मे लक्ष्मीधर[617] ने तीर्थों के धार्मिक कृत्यों को कुछ सरल बना दिगा, जैसे व्रत को वैकल्पिक कर मुण्डन को समाप्त कर, पितृ पूजा को केवल धनी लोगों

का कर्मकाण्ड बताकर, एव तीर्थ यात्रा के मार्गों के लिए साधनो का प्रयोग, वैकल्पिक तीर्थों की अनुमति देकर, एव यहाँ एक तीर्थ पर एक दिन मे जितना श्राद्ध हो सकते है उतने श्राद्ध करने की अनुमति देकर। उन्होंने धार्मिक कृत्यो से ज्यादा महत्व भक्ति एव मन की शुद्धता को दिया है। आगे चलकर 17वी शती मे वीरमित्रोदय[618] के लेखक जैसे विद्वानो ने कर्मकाण्ड की सरलता को बनाये रखा एव तीर्थयात्रा मे अस्पृश्यो की मनाही को अस्वीकार कर दिया।

किन्तु व्रत एव मुण्डन की परम्परा चलती रही जैसा कि अलबरूनी[619] ने सकेत किया है कि पूर्वमध्यकाल में ये धार्मिक कृत्य काफी प्रचलित थे। अलबरूनी बताता है कि एक तीर्थस्थान तीर्थ प्रतीक के रूप मे जोकि तीर्थ स्थल की तरह के बने होते है, पूजे जाते है। यहाँ पर अनेक प्रार्थनाये इत्यादि मत्रो का पाठ होता है, व्रत उपवास, ब्राह्मणो, पुजारियो को दान दिये जाते थे और सिर एंव दाढी का मुण्डन करवाये जाते थे।

तीर्थो पर जाकर दान करने की परम्परा न केवल सामान्य जन मे प्रचलित थी बल्कि राजा भी इस धार्मिक कृत्य मे सम्मिलित होते थे। 7वी शती मे हर्ष का प्रयाग जाकर सब कुछ दान कर देने का उदाहरण इसका प्रमाण है। पूर्वमध्यकाल के कई भूमि अनुदान पत्रों से पता चलता है कि राजा एंव सामंत तीर्थों पर जाकर ब्राह्मण एव पुजारियो को दान देते थे।

सभी तीर्थो मे 'गया' एक ऐसा तीर्थ था जोकि विशेष रूप से श्राद्ध के कारण जाना जाता है[620]। लक्ष्मीधर[621] इसके लिए पौराणिक आधार प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन महाराजा विशाल ने जब गया मे श्राद्ध किया, तब उन्हे पुत्र प्राप्त हुआ, तब से ही गया मे श्राद्ध करने का प्रचलन चल पडा। जिस तरह से नैषधचरित मे चार्वाक ने गया मे श्राद्ध करने की परम्परा की निदा की है इससे भी यही सिद्व होता है कि 12वीं शती में भी यह परम्परा काफी प्रचलित थी।

आत्महत्या:

गंगा एंव यमुना नदियो के सगम जैसे पवित्र स्थल पर आत्मदाह करने की प्रथा काफी प्राचीनकाल से चली आती प्रतीत होती

है[622]। ह्वेनसाग[623] बताता है कि आम लोगो मे ऐसा विश्वास था कि जो व्यक्ति वटवृक्ष से नदी मे कूद जाता था एव उसी मे डूबकर प्राण दे देता था उसके लिए स्वर्ग का सीधा मार्ग खुल जाता था। प्रयाग मे राजकीय आत्महत्या के अभिलेखीय प्रमाण प्राप्त होते है जैसे चदेल वंशीय धग[624] (1000 ई0) चेदिवशीय गागेयदेव[625] (1042 ई0) चालुक्य वशी सोमेश्वर[626] (1068 ई0)।

लक्ष्मीधर के ग्रथ तीर्थ-विवेचनखण्ड के एक अध्याय महापथयात्रा[627] मे लेखक ने हिन्दू एव शाक्त पुराण (जैसे देविपुराण) का उद्वरण देते हुए कहा है कि इस अध्याय मे धार्मिक आत्महत्या के विभिन्न मार्ग बताये गये है, कि एक विशाल अग्निकुण्ड का निर्माण करे, भैरव की प्रतिभा का पूजन कर एंव स्वय को अग्नि की बलि चढाकर भेट करे।[628] पुराणो मे काशी मे किये जाने वाली आत्महत्या का उल्लेख लक्ष्मीधर करते है।[629] अलबरूनी[630] भी वाराणसी को ऐसा स्थान मानते है जहॉ महापुरूष आकर रहते थे एव जीवन का अत कर लेते थें। इसके अनुसार इस शहर के अन्दर प्रवेश करने मात्र से सब पाप धुल जाते थे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल के समाज मे तीर्थों ने एक विशिष्ठ स्थान प्राप्त किया था, इसकाल की यह प्रमुख विशेषता थी कि न केवल तीर्थों को, बल्कि तीर्थ के प्रतीकों की भी उपासना की जाती थी जोकि इस से पहले के समाज मे कभी भी संभव नही था। तीर्थभ्रमण एंव तीर्थ तक पहुॅचने के मार्ग अस्पृश्यता का नियम लागू न होना एक बहुत ही विशेष तथ्य है, क्योंकि इसकाल मे भी अस्पृश्यता का नियम काफी कठोरता से समाज मे लागू होता था। इससे शूद्रो एव अन्य निम्न जातियो को भी अपने अराध्य की उपासना का स्वतन्त्र अवसर मिलता था, तथा उच्च एंव निम्न तबके के मध्य भेद कम होता था।

मनुस्मृति के टीकाकार पूर्वमध्यकालीन तीर्थो के विषय मे मौन है, किन्तु इस काल के अन्य साहित्यिक एंव अभिलेखीय साक्ष्यो से इस काल के तीर्थों की महत्ता का पता चलता है।

(1) ऋग्वेद 1 22 18, 5.26 6. 7 43 24. 9 64 1

(2) अर्थववेद 9 9 17

(3) ऐतरेय ब्राह्मण 7 17

(4) छान्दोग्य उपनिषद 2 23

(5) तैत्रिरीय उपनिषद 1 11

(6) मनुस्मृति 1 2

(7) मनुस्मृति 2 6

(8) याज्ञवल्क्य स्मृति 1 1

(9) तन्त्रवार्तिक पृष्ठ 237

(10) मेधातिथि मनु पर 2 25

(11) गोविन्दराज मनु पर 2 25

(12) गौतमधर्मसूत्र 1 1 2

(13) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1 1 2

(14) वशिष्ठधर्मसूत्र 1 4 6

(15) मनुस्मृति 2 6

(16) याज्ञवल्क्य स्मृति 1 7

(17) मेधातिथि मनु पर 2 6

(18) ऋग्वेद 8 7 10

(19) ऋग्वेद 1 154 1

(20) शतपथ ब्राह्मण 2 8 1 1

(21) तत्रैव 7 5 1.5, जैमिनी ब्राह्मण 3 272

(22) तैत्तिरीय सहिता 7 1.5 1, शतपथ ब्राह्मण 14 1 2 11

(23) रामायण बालकाण्ड 15 15 16

(24) महाभारत शांतिपर्व 43 5

(25) अष्टाध्यायी 4 3.93

(26) लिस्ट आफ ब्रह्मी इन्स्क्रिपशन्स सं0 669

(27) तत्रैव सं0 1112

(28) अष्टाध्यायी 4.1 81

(29) मत्स्यपुराण 132 4

(30) वायुपुराण 23 95

(31) ब्राह्मण पुराण 4 10 34

(32) ऋग्वेद 10 82 56

(33) शतपथ ब्राह्मण 13 3 4 11

(34) ऋग्वेद पुरूषसूक्त

(35) ऋग्वेद 1 154 2

(36) सायण का भाष्य ऋग्वेद पर 1 54 2

(37) ऐतरेय ब्राह्मण 1 1

(38) महाभारत: शांतिपर्व 43 18

(39) विष्णु पुराण 1 2 7-12

(40) ऋग्वेद 1 114 10

(41) तत्रैव 1 114 1

(42) तत्रैव 1 114 9

(43) तैत्तिरीय सहिता 4 5 1 1 वाजनेयी संहिता 16 1

(44) वाजसनेयी सहिता 16 1

(45) अर्थववेद 11.27

(46) शतपथ ब्राह्मण 9 1 1 6

(47) अर्थववेद 6 93 2, 11 2 1,4

(48) आश्वलायन गृह्सूत्र 4.9

(49) महाभारत, वनपर्व 38 40

(50) महाभारत, शांतिपर्व 349 64

(51) वायु पुराण अध्याय 33

(52) लिंग पुराण अध्याय 24

(53) इपि0 इ0 19, पृ0 8

(54) बाण, कादम्बरी

(55) वाटर्स 2 पृ0 257-62

(56) इपि0 इ02 पृ0 123

(57) वायु पुराण, अध्याय 33, लिग पुराण अध्याय 24

(58) वायुपुराण अध्याय 11-45

(59) ऋग्वेद 1 896

(60) अर्थववेद 11 5 24-26

(61) गोपथ ब्राह्मण 2 8

(62) श्रीमद् भागवत 5 28

(63) उत्तराध्ययन 13 6 17,14,13,13 26, जैनसूत्र 2 301-4

(64) सिनएण्ड दि न्यू साइकॉलोजी पृ0 19 बारबोअर

(65) विष्णुधर्म सूत्र 33/3-5

(66) विष्णुधर्मसूत्र 34/1

(67) वृद्ध हारीत 9/215-216

(68) वृद्ध हारीत 9/216-218

(69) वसिष्ठ 1/9-20

(70) मनुस्मृति 11/55 एव 180

(71) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/227-261

(72) विष्णु 35/1-5

(73) वृद्ध हरित 9/174

(74) मनुस्मृति 11/56

(75) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/288

(76) अग्नि पुराण 173/1

(77) मिताक्षरा, याज्ञ 3/227-243

(78) प्रायश्चित विवेक, पृ0 47

(79) सामविधानब्राह्मण 1/7/5

(80) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/24/6-9

(81) वसिष्ठ 20/34

(82) मनुस्मृति 9/87

(83) याज्ञवल्क्य 3/251

(84) विश्वरूप, याज्ञ0 3/264

(85) मिताक्षरा, याज्ञ 2/21

(86) ऋग्वेद 7/86/6

(87) मनुस्मृति 11/54

(88) याज्ञवल्क्य 3/227

(89) मनुस्मृति 11/93

(90) विष्णु 22/83-84

(91) मिताक्षरा 3/253

(92) मनुस्मृति 11/93

(93) वसिष्ठ 21/11

(94) याज्ञवल्क्य 3/256

(95) मिताक्षरा 3/256

(96) आपस्तम्बधर्मसूत्र 1/10/28/1

(97) कात्यायन पृ0 810

(98) मनुस्मृति 11/54

(99) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/227

(100) मनुस्मृति 11/99

(101) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/257

(102) वसिष्ठ 20/41

(103) च्यवन (प्रायश्चितविवेक) पृ0 117

(104) सवर्त पृ0 112

(105) विश्वामित्र प्रायश्चित विवेक पृ0 108

(106) विश्वरूप याज्ञवल्क्य 3/252

(107) मिताक्षरा याज्ञवल्क्य 3/257

(108) मदनपारिजात पृ0 827-28

(109) प्रायश्चित प्रकरण पृ0 72

(110) प्रायश्चित विवेक पृ0 111

(111) मनुस्मृति 59/154

(112) याज्ञवल्क्य 3/227

(113) वसिष्ठ 20/13

(114) मनुस्मृति 2/141

(115) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/34 शख 3/2

(116) सवर्त 160

(117) पराशर 10/13, पितृ दाशन समारूह्य

(118) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/259

(119) मदनपारिजात पृ0 835

(120) प्रायश्चितमयूख पृ0 73

(121) याज्ञवल्क्य 3/233

(122) गौतम 21/3

(123) वसिष्ठ 1/21-22

(124) मनुस्मृति 11/180 शांतिपर्व 165/37

(125) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/261

(126) विष्णु पुराण 35/3

(127) अग्पिुराण 170/1-2

(128) स्मृत्यर्थसार पृ0 112

(129) मिताक्षरा, याज्ञ0 3/261

(130) वसिष्ठ 1/23

(131) गौतम 21/11

(132) पराशर माधवीय भाग 2 पृ0 90

(133) निर्णयसिन्धु 3 पृ0 368

(134) मनुस्मृति 11/59-66

(135) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/234-242

(136) वृद्ध हारीत 9/208-210

(137) विष्णुधर्मसूत्र 37

(138) अग्निपुराण 168-29-37

(139) मिताक्षरा, याज्ञ0 3/242

(140) गौतम 21/1

(141) मनुस्मृति 11/67- अग्नि पुराण 168/37-38

(142) विष्णु पुराण 38/1-6

(143) मनुस्मृति 11/68- अग्निपुराण 168/38-39

(144) मनुस्मृति 11/69

(145) मनुस्मृति 4/84

(146) विष्णु पुराण 40/1

(147) मनुस्मृति 11/70

(148) विष्णु पुराण 41/1-4

(149) विष्णु पुराण 42/1

(150) वृद्ध हारीत 9/210-215

(151) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/24/15, 1/10,28/19

(152) मनुस्मृति 11/122

(153) गौतम 23/18

(154) मनुस्मृति 11/229-30

(155) विष्णुधर्मोत्तर पुराण 2/73/231-233

(156) ब्रह्मपुराण 218/5

(157) अपरार्क पृ0 1231

(158) मनुस्मृति 11/248

(159) बौधायन धर्मसूत्र 4/1/31

(160) वसिष्ठ 26/4

(161) अत्रि 2/5

(162) शंखस्मृति 12/18-19

(163) विष्णुधर्मसूत्र 55/2

(164) मिताक्षरा, याज्ञ0 3/305

(165) अग्नि पुराण 173/21

(166) याज्ञवल्क्य 3/305

(167) बौधायन धर्मसूत्र 4/1/5-11

(168) ऋग्वेद 10/154/2

(169) गौतम 19/15

(170) बौधायन धर्मसूत्र 3/10/13

(171) मनुस्मृति 11/239-341

(172) याज्ञवल्क्य 3/309

(173) मिताक्षरा 3/309

(174) मनुस्मृति 11/34

(175) वसिष्ठ 26/16

(176) मनुस्मृति 8/105

(177) याज्ञवल्क्य 2/83

(178) लघु हारीत 4 पृ0 186, स्मृतिचन्द्रिका 1 पृ0 149

(179) मनुस्मृति 11/46

(180) मनुस्मृति 2/85-87

(181) वसिष्ठ 26/9-11

(182) विष्णु 55/10-21

(183) मनुस्मृति 11/262

(184) वसिष्ठ 27/1-3

(185) अंगिरा 101

(186) गौतम 19/16

(187) वसिष्ठ 29/16

(188) संवर्त 204

(189) मेधातिथि मनु पर 9/139

(190) बृहस्पति मदनरत्न व्यवहार, पृ0 66

(191) राजतरंगिणी (1/143)

(192) गौतम 19/11

(193) मनु 11/203

(194) विष्णु 54/29

(195) देवल, अपरार्क पृ0 199

(196) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 355

(197) मनुस्मृति 11/166

(198) अग्निपुराण 169/31

(199) विष्णु 35/6

(200) पराशर 12/58

(201) अपरार्क पृ0 1061, प्रायश्चित विवेक पृ0 45

(202) मत्स्य पुराण

(203) स्मृत्यर्थसार

(204) पराशरमाधवीय 2 भाग 1 पृ0 3

(205) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/220

(206) पराशरमाधवीय 2, भाग 1, पृ0 7

(207) बालम्भट्‌टी याज्ञवल्क्य 3/206

(208) जाबाल (प्रायश्चित प्रकरण)

(209) मनुस्मृति 11/45

(210) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/226

(211) गौतम 19/3-6, वसिष्ठ 22/2-5

(212) मनुस्मृति 11/45

(213) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/226

(214) मेधातिथि 11/45

(215) तैत्तिरीय संहिता 6/2/7/5

(216) काठक सहिता 8/5

(217) ऐतरेय ब्राह्मण 35/2

(218) मनुस्मृति 11/46

(219) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/226

(220) मनुस्मृति 11/189

(221) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/226

(222) मनुस्मृति 11/46

(223) आपस्तम्बधर्मसूत्र 1/9/24-25 एव 1/10/28/18

(224) मनुस्मृति 11/73

(225) याज्ञवल्क्य 3/247-48

(226) गौतम 22/2-3

(227) मनुस्मृति 11/90-91

(228) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/253

(229) गौतम 23/1

(230) गौतम 23/8-11

(231) मनुस्मृति 11/103-104

(232) याज्ञवल्क्य 3/259

(233) मनुस्मृति 11/99-100

(234) याज्ञवल्क्य 3/257

(235) मनुस्मृति 11/190

(236) विष्णु 54/32

(237) बृहस्पति (विवादरत्नाकर मे उद्धत) पृ0 331

(238) वसिष्ठ 5/194

(239) गौतम 8/1

(240) शतपथ ब्राह्मण 5/4/4/5

(241) देवल, मदनपारिजात पृ0 277

(242) पराशर 8/28

(243) शख 17/1-3

(244) अपरार्क पृ0 10-53-54

(245) पराशर माधवीय 2 भाग 1 पृ0 320-321

(246) विष्णु 34/1

(247) तत्रैव 34/2

(248) मनुस्मृति 11/58

(249) याज्ञवल्क्य 3/227

(250) मनु 11/58 एंव याज्ञ0 3/233-234

(251) गौतम 22/2-10

(252) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/24/10-25 एव 1/9/25/12-13

(253) वसिष्ठ 20/25-28

(254) विष्णु 35/6 एव 50/1-6 एव 15

(255) मनुस्मृति 11/72-82

(256) याज्ञवल्क्य 3/243-250

(257) अग्निपुराण 169/1-4 एव 173/7-8

(258) सवर्तपृ0 110-115

(259) कुल्लूकभट्ट मनु पर 11/72-82

(260) अपरार्क पृ0 1055

(261) प्रायश्चित विवेक पृ0 63

(262) मिताक्षरा याज्ञवल्कय 2/243

(263) कुल्लूकभट्ट मनु पर 11/72

(264) मिताक्षरा याज्ञ 2/243

(265) आपस्तम्ब धर्म सूत्र 1/9/25/12

(266) गौतम 22/3

(267) मनुस्मृति 11/72

(268) याज्ञवल्क्य 3/248

(269) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/25/13

(270) वसिष्ठ 20/25-26

(271) गौतम 22/8

(272) मनुस्मृति 11/74

(273) याज्ञवल्क्य 3/247

(274) मनुस्मृति 11/73

(275) मदनपारिजात एव भविष्यपुराण (प्रायश्चित प्रकाश द्वारा उद्धृत)

(276) मनुस्मृति 11/74

(277) कुल्लूक भट्ट मनु पर 11/74

(278) मनुस्मृति 11/75

(279) कुल्लूक भट्ट मनु पर 11/75

(280) मनुस्मृति 11/76

(281) मनुस्मृति 11/76
(282) याज्ञवल्क्य 3/250
(283) मिताक्षरा याज्ञ0 3/250
(284) स्मृत्यर्थसार पृ0 105
(285) मनुस्मृति 11/77
(286) याज्ञवल्क्य 3/249
(287) कुल्लूकभट्ट मनु पर 11/77
(288) मनुस्मृति 11/77
(289) याज्ञवल्क्य 3/249
(290) सामविधान ब्राहमण 1/7/5
(291) याज्ञवल्क्य 3/251
(292) वसिष्ठ 20/34
(293) याज्ञवल्क्य 3/266-67
(294) मनुस्मृति 11/126-130
(295) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/236
(296) मनुस्मृति 11/66
(297) गौतम 22/17
(298) आपस्तम्बधर्मसूत्र 1/9/24/5 एव 9
(299) बौधायन धर्मसूत्र 2/1/10, 12-13
(300) वसिष्ठ 20/34
(301) विष्णु 50/7-9
(302) गौतम 22/26-27
(303) मनुस्मृति 11/138
(304) याज्ञवल्क्य स्मृति 11/268-69
(305) मनुस्मृति 11/208
(306) विष्णु पुराण 54/30
(307) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/293
(308) गौतम 23/1

(309) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/25/3

(310) बौधायन धर्मसूत्र 2/1/21

(311) वसिष्ठ 20/22

(312) मनुस्मृति 11/90-91

(313) याज्ञवल्क्य 3/253

(314) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/253

(315) अपरार्क, पृ0 1071

(316) प्रायश्चित प्रकरण पृ0 43

(317) हरदत्त, गौतम 23/1

(318) मदनपारिजात पृ0 818

(319) प्रायश्चितविवेक पृ0 104

(320) प्रायश्चितप्रकरण पृ0 43

(321) मिताक्षरा याज्ञ 3/24

(322) गौतम 23/2-3

(323) याज्ञवल्क्य 3/255

(324) मनुस्मृति 11/146

(325) अत्रि 75

(326) पराशर 12/75-76

(327) मिताक्षरा याज्ञवल्क्य 3/255

(328) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/243

(329) मनुस्मृति 11/93

(330) गौतम 17/22-26

(331) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/170

(332) मनुस्मृति 5/8-10

(333) समाविधान ब्राह्मण 1/5/13

(334) मनुस्मृति 11/160

(335) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/25/4

(336) तत्रैव 1/9/25/6-7

(337) मनुस्मृति 8/134

(338) याज्ञवल्क्यस्मृति 1/363

(339) मनुस्मृति 11/101

(340) याज्ञवल्क्य 3/258

(341) मिताक्षरा याज्ञवल्क्य 3/258

(342) मनुस्मृति 11/162-168

(343) मत्स्यपुराण 227/41-47

(344) विष्णुपुराण 52/5-13

(345) मनुस्मृति 11/164

(346) विष्णु पुराण 52/14

(347) मेधातिथि 11/164

(348) मनुस्मृति 8/321,323

(349) विष्णु 5/82

(350) गौतम 23/8-11

(351) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/9/25/1-2

(352) बौधायन धर्मसूत्र 2/1/14-16

(353) वसिष्ठ 20/13-14

(354) मनुस्मृति 11/103-104

(355) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/259

(356) मेधातिथि, मनुपर 11/103

(357) मनुस्मृति 11/58 एव 170-171

(358) याज्ञवल्क्य 3/231

(359) सवर्त 159

(360) पराशर 10/10-11

(361) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 3/259

(362) मनुस्मृति 11/178

(363) विष्णु 53/9

(364) अग्निपुराण 169/41

(365) शातिपर्व 165/29

(366) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/233

(367) मनुस्मृति 11/175

(368) लघु शातातप 155

(369) अग्निपुराण 169/38

(370) वसिष्ठ 23/41

(371) विष्णु पुराण 53/5/6

(372) मनुस्मृति 11/181

(373) विष्णुपुराण 54/1

(374) याज्ञवल्क्य स्मृति 3/261

(375) कुल्लूकभट्ट मनु पर 11/181

(376) प्रायश्चितसार पृ0 61

(377) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य पर 3/261, मदनपारिजात पृ0 853

(378) व्यास (मिताक्षरा, याज्ञ पर 3/261, कुल्लूक मनु पर 11/181

(379) प्रायश्चित विवेक पृ0 171

(380) मनुस्मृति 11/171

(381) याज्ञवल्क्य 3/265

(382) विष्णुपुराण 37/35

(383) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/7/16/1-3

(384) ब्रह्माण्ड पुराण (उपोद्घात पाद 9/14 एंव 10/99)

(385) विष्णुपुराण 3/1/30

(386) वायुपुराण 44/38

(387) भागवतपुराण 3/1/22

(388) शांतिपर्व (345/14-21)

(389) विष्णुधर्मोत्तर पुराण (1/139/14-16)

(390) ऋग्वेद 8/63/1 एंव 8/30/3

(391) कठोपनिषद 1/3/17

(392) बौधायन धर्मसूत्र 2/8/1

(393) हरिवश 1/21/1

(394) सुमन्तु, स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्ध पृ0 333

(395) वायुपुराण 3/14/1-4

(396) यम, स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्ध पृष्ठ 333 एव श्राद्धसार पृ0 5

(397) श्राद्धसार पृ0 6

(398) श्रद्धाप्रकाश पु0 11-12

(399) आश्वलायन गृहसूत्र 2/5/10

(400) हिरण्यकेशि गृह सूत्र 2/10/17

(401) आपस्तम्ब गृहसूत्र 8/21/1

(402) विष्णुपुराण 3/14/3

(403) वायुपुराण 83/112

(404) गोभिलस्मृति 3/70 एव 2/104

(405) अपरार्क पृ0 588

(406) बृहत्पराशर पृ0 153

(407) बौधायन (स्मृतिचन्द्रिका श्राद्ध)

(408) वृद्ध शतातप पृ0 337

(409) त्रिस्यली सेतु पृ0 (319)

(410) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/6/15/19

(411) गौतम 2/4-5

(412) वशिष्ठ 216

(413) विष्णु पुराण 28/40

(414) मनु 2/172

(415) मेधातिथि मनु पर 2/172

(416) शतपथ ब्राह्मण एव तैत्तिरीय आरण्यक 2/10

(417) मनुस्मृति 3/83

(418) गौतम 15/1-2

(419) आपस्तम्ब धर्म सूत्र 2/7/16/4-6

(420) गौतम 15/3

(421) वशिष्ठ11/16

(422) अग्निपुराण 115/8

(423) कूर्मपुराण 2/20/23

(424) मनुस्मृति 3/276-278

(425) विष्णु धर्म सूत्र 76/1-2

(426) विष्णुधर्मसूत्र 77/1-7

(427) आपस्तम्ब धर्म सूत्र 7/17/23-25

(428) विष्णु धर्म सूत्र 77/8-9

(429) कूर्मपुराण 2/16/3-4

(430) ब्रह्माण्ड पुराण 3/14/3

(431) भविष्यपुराण 1/188/1

(432) मनुस्मृति 3/280

(433) मिताक्षरा (याज्ञ0 1/217)

(434) मेधातिथि मनु पर 31243

(435) मनुस्मृति 2 (206-207)

(436) याज्ञवल्क्य 1/227

(437) पराशरमाधवीय 1/2 पृ0 303

(438) श्राद्ध प्रकरण प्र0 140

(439) स्मृतिचन्द्रिका श्राद्ध, पृष्ठ 385

(440) ब्रह्मपुराण 220/5-7

(441) वायुपुराण अध्याय 77

(442) मत्स्य पुराण 22

(443) आप0ध0 सूत्र 7/17/23-24

(444) मनुस्मृति 3 (239-242)

(445) विष्णुधर्मसूत्र 82/3

(446) कूर्मपुराण 2/22/34-35

(447) मार्कण्डेय पुराण 32/20-24

(449) विष्णुपुराण 3/16/12-14

(450) अनुशासन पर्व 91/43-44

(451) स्कन्दपुराण 6/217/43

(452) आश्वलायन गृहसूत्र 4/7/2

(453) शाखायन गृहसूत्र 4/1/2

(454) आपस्तम्ब गृहसूत्र 8/21/2

(455) आपस्तम्ब गृहसूत्र 2/7/17/4

(456) हिरण्यकेशि गृहसूत्र 2/10/2

(457) बौधायन गृहसूत्र /2/10/5-6 एव 2/8/2-3

(458) गौतम 15-9

(459) हिरण्यकेशि गृहसूत्र 2/10/2

(460) बौधायन धर्मसूत्र 2/2/7

(461) कूर्म पुराण 2/21/14

(462) मनुस्मृति 3/138-139

(463) मनुस्मृति 3/144

(464) कूर्मपुराण 2-21-22

(465) मनुस्मृति 3/135-36 एव 145-147

(466) मेधातिथि 3/147

(467) मनुस्मृति 3/147

(468) मनुस्मृति 3/132-146

(469) आप0 धर्म सूत्र 2/7/17/5-6

(470) बौधायनधर्म सूत्र 2/8/5

(471) मनुस्मृति 2/118

(472) स्कन्दपुराण 6/217/27

(473) मनुस्मृति 3/349

(474) विष्णु धर्मसूत्र 82/1-2

(475) मनुस्मृति 3/330

(476) स्कन्दपुराण 6/217/3

(477) अपरार्क पृ0 455

(478) कल्पतरू श्राद्ध पर्व पृ0 102

(479) आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/7/17/21

(480) गौतम 15/16/19

(481) मनु स्मृति 3/250 126

(482) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/222-224

(483) विष्णुधर्म सूत्र 82/3/29

(484) अत्रि (श्लोक 345-349 एव 385- 388

(485) बृहद्यम 3/34-38

(486) बृहत्पराशर (पृ0 149-150)

(487) वृद्ध गौतम (पृ0 580-583)

(488) वायु पुराण 83/61-70

(489) मत्स्य पुराण 16/14-17

(490) कूर्मपुराण 2/21/23-47

(491) स्कन्द पुराण 7/1/205/58-72 एव 6/217/11-20

(492) वराह पुराण 14/4-6

(493) ब्रह्मपुराण 220/127-135

(494) ब्रह्माण्डपुराण (उपोद्घात 15/39-44 एंव 19/30/41

(495) मार्कण्डेय पुराण 28/26-30

(496) विष्णुपुराण 3/15/5-8

(497) नारदपुराण (पूर्वाद्ध 28/11-18)

(498) सौरपुराण (19/7-9

(499) मनुस्मृति 3/170-182

(500) मनुस्मृति 3/189

(501) गरूडपुराण (प्रेतखण्ड, 10,28-29

(502) वशिष्ठ 11/27

(503) मनुस्मृति 3/125

(504) बौधायनधर्म सूत्र 2/8/29

(505) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/228

(506) मत्स्य पुराण 17/13-14

(507) विष्णुपुराण 3/15/14

(508) जीमूतवाहन 11/12

(509) आप0धर्म सू0 2/7/16/22-24

(510) मनुस्मृति 3/257

(511) वायुपुराण 8 /42-48

(512) मत्स्यपुराण 2/48

(513) ब्रह्मपुराण 3/59

(514) स्मृतिचन्द्रिका, देवण भट्ट पृ0 530

(515) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/8/19/13-15

(516) आप0 धर्म सूत्र 2/7/16/25 एव 2/7/17/3

(517) विष्णुधर्मोत्तर-त्रिपिबमिद्रियक्षीण यूथस्याग्रचर तथा ।
रक्तवर्ण तु राजेन्द्र छाग वार्धीणस विदु । (1/141/48)

(518) मेधातिथि मनु पर 3/27

(519) मनुस्मृति 3/267-272

(520) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/258-260

(521) कूर्मपुराण 2/20/40-42 एव 29/2-8

(522) वायुपुराण 83/3-9

(523) मत्स्यपुराण 17/31-35

(524) विष्णुपुराण 3/16/1-3

(525) पद्मपुराण सृष्टि0 9/158-164

(526) ब्रह्माण्ड पुराण 220/23-29

(527) विष्णुधर्मोत्तर पुराण 1/141-47

(528) हेमाद्रि, चर्तुवर्ग चिंतामणि, श्राद्ध पृ0 590

(529) पुलस्त्य(मिताक्षरा एव अपरार्क पृ0 555)

(530) शांखायन गृहसूत्र 4/1/9

(531) आश्वलायन गृहसूत्र 4/8/12

(532) शख 14/11

(533) मनुस्मृति 3/260-261

(534) याज्ञवक्ल्य 1/242

(535) आश्वलायन गृहसूत्र 4/8/12-13, कात्यायनकृत श्राद्ध सूत्र कण्डिका 3

(536) आपस्तम्ब गृहसूत्र 24/9, हिरण्यकेशि गृहसूत्र 2/12/2-3

(537) मदनपारिजात पृ0 600

(538) हेमाद्रि, श्राद्ध, पाृ0 1408

(539) अपरार्क, याज्ञ0 1/24

(540) तैत्तिरीय सहिता 1/8/5/1

(541) तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/3/10, 2/6/16

(542) वाजसनेयी सहिता 19/36-37

(543) शतपथ ब्राह्मण 2/4/2/16

(544) कात्यायन, श्राद्धसूत्र, 3

(545) गोभिल स्मृति 3/73

(546) श्राद्ध प्रकाश पृ0 14

(547) स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्ध, पृ0 337

(548) विष्णु पुराण 3/15/17

(549) ब्रह्माण्डपुराण उपोदघातपाद 11/61

(550) वराहपुराण 14/12

(551) बृहस्पति (कल्पतरू, श्राद्व पृ0 204)

(552) वृहत्पराशर, अध्याय 5 पृ0 153

(553) हिरण्येकेशि गृहयसूत्र 2/10

(554) बौधायन गृहसूत्र 2/11-34

(555) श्राद्ध प्रकाश पृ0 9

(556) स्मृतिचन्द्रिका,श्राद्ध, पृ0 369

(557) स्मृतिचन्द्रिका, श्राद्ध,पृ0 369

(558) हेमाद्रि, श्राद्ध पु0 99

(559) श्राद्ध प्रकाश, पृ0 9

(560) तैत्तिरीय सहिता 1/8/5/1

(561) आपस्तम्ब 2/10/13

(562) अपरार्क पृ0 506

(563) हेमाद्रि, श्राद्ध पृ0 1434

(564) श्राद्ध प्रकाश पृ0 258

(565) गोभिल गृहसूत्र पृ0 4/3/10-11

(566) हेमाद्रि, श्राद्ध पृ0 1443

(567) श्राद्ध प्रकाश पृ0 260

(568) मेधातिथि मनुस्मृति पर 3/194

(569) स्मृतिचन्द्रिका (श्राद्ध पृ0 481)

(570) तीर्थ विवेचन खण्ड, लक्ष्मीधर पृ0 22

(571) कात्यायन श्रोत्र सूत्र, लक्ष्मीधर पृ0 15

(572) तीर्थविवेचन खण्ड, पृ0 61

(573) अलबरूनी, सचाउ भाग 2 पृ0 142

(574) बृहस्पत्य अर्थशास्त्र 379-80

(575) इपि0 इण्डि 20,20,127

(576) काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र भाग 4 पृ0 770

(577) वराहपुराण अनु0 152, 154, 62, 29

(578) लक्ष्मीधर, कृत्यकल्पतरू

(579) अलबरूनी, सचाउ, खण्ड 2 पृ0 146

(580) जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (पत्र) 13

(581) इपि0 इण्डि 14 पृ0 194

(582) जरनल ऑफ उत्तर प्रदेश हिस्टोरिकल सोसाइटी 14

(583) इण्डि एण्टि 18 130, इपि0 इण्डि 9 304

(584) पृथ्वीराज विजय सर्ग। 2

(585) कीर्तिकौमुदी 9 2

(586) इपि0 इण्डि 2 330-42 पंक्ति 12 पृ0 334

(587) कलाविलास क्षेमेन्द्र पृ0 351

(588) इपि0 इण्डि 25 312-313

(589) इपि0 इण्डि 1 271-287 पक्ति 23-33

(590) अलबरूनी, सचाउ 1 116

(591) तत्रैव 1, 117

(592) तत्रैव 2, 146

(593) तत्रैव 2, 147

(594) तत्रैव 2, 148

(595) कथासरित्सागर (तावने द्वारा सस्करणकृत) भाग 1 पृ0 31

(596) तत्रैव 1 384, 533

(597) तत्रैव 1 418

(598) तत्रैव 2 195

(599) तत्रैव 234, 293

(600) तत्रैव 335

(601) प्रस्तावना पृ0 18 से तीर्थ विवेचन खण्ड

(602) कलाविवेक, पृ0 323, 351

(603) दानसागर, वल्लासेन पृ0 35, 40

(604) दानसागर पृ0 45

(605) इण्डियन एटीक्वैरी 4 76

(606) बृहस्पत्य अर्थशास्त्र 3,110-133

(607) तीर्थ विवेचन खण्ड पृ0 26

(608) कृत्यकल्पतरू, शुद्धिखण्ड पृ0 169

(609) काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 3 पृ0 567

(610) तीर्थ विवेचन खण्ड पृ0 26

(611) तत्रैव अनुक्रमणिका पृष्ठ 226

(612) 300 तीर्थों का उल्लेख वाराणसीक्षेत्र तत्रैव पृ0 268

(613) आर के मुखर्जी, द फन्डामेण्टल यूनिटी आफ इण्डिया पृ0 49

(614) जिनप्रभासूरि, विविध तीर्थकल्प प0 आई0 सिधी जैन ग्रथमाला न0 10

(615) डी0सी0 सरकार, शक्ति पीठ

(616) तीर्थ विवेचन खण्ड पृ0 9, 10, 11 काणे धर्मशास्त्र का इतिहास पृ0 572

(617) तत्रैर्व पृ0 9, 10, 11

(618) वीरमित्रोदय मे तीर्थ प्रकाश बनारस 1917 पृ0 26,27,35,41,59

(619) अलबरूनी सचाऊ 2 पृ0 142

(620) काणे, धर्मशास्त्र का इति0 भाग 3 पृ0 654

(621) तीर्थ विवेचन खण्ड पृ0

(622) काणे धर्मशास्त्र का इति0 पृ0 603

(623) बील, भाग एक पृ0 232

(624) इपि0 इण्डि 1 140

(625) इपि0 इण्डि 12 211

(626) इण्डियन कल्चर 2, 136

(627) महापथ अर्थात तीर्थो की सहायता से दुसरी दुनिया में पहुच सकते थे

(628) तीर्थ विवेचन खण्ड पृ0 261

(629) तत्रैव पृ0 302

(630) अलबरूनी सचाऊ 2 पृ0 146-147

राजनय/राजनैतिक संगठन का स्वरुप

राजधर्म:

मनुस्मृति मे सातवे अध्याय के आरम्भ मे राजधर्म पर चर्चा की गई है। राजधर्म को सभी धर्मो का तत्व या सार कहा गया है।[1] गौतम[2] आपस्तम्ब धर्मसूत्र[3], वसिष्ठ[4], विष्णु[5] नारद प्रकीर्णक[6], शांतिपर्व[7], मत्स्यपुराण[8], मार्कण्डेयपुराण[9] मे राजा के कर्त्तव्यो की ओर सकेत मिलता है। इन ग्रथो के अवलोकन से पता चलता है कि राजधर्म विश्व का सबसे बडा उददेश्य था और इसके अर्न्तगत आचार, व्यवहार, प्रायश्चित आदि के सभी नियम आते है। ऐसा उल्लेख उद्योगपर्व[10], शातिपर्व[11] एंव शुक्रनीतिसार[12] मे भी मिलता है।

शासन-शास्त्र के लिए कपितय अन्य शब्दो एंव नामो का प्रयोग हुआ है। महाभारत मे इसे राजशास्त्र कहा गया है। नीतिप्रकाशिका[13] ने शासन पर लिखने वाले मानव एव देवलेखको को "राजशास्त्राणां प्रणेतारः" की उपाधि दी है। अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित[14] मे इसी नाम का प्रयोग किया है। इसका एक अन्य नाम दण्डनीति है। शांतिपर्व[15] ने इस शब्द का अर्थ किया है यह विश्व दण्ड के द्वारा अच्छे मार्ग पर लाया जाता है, या यह शास्त्र दण्ड देने की व्यवस्था करता है। इसी से इसे दण्डनीति की सज्ञा मिली है और यह तीनो लोको मे छाया हुआ है। अर्थशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य[16] ने इसकी इस प्रकार व्याख्या दी है- दण्ड वह साधन है जिसके द्वारा आन्वीक्षिकी, त्रयी (तीनो वेदो) एंव वार्ता का स्थायित्व एंव रक्षण अथवा योगक्षेम होता है, जिसके द्वारा उपलब्ध की प्राप्ति होती है, लब्ध का परिरक्षरण होता है, रक्षित का विवर्धन होता है और विवर्धित का सुपात्रो मे बंटवारा होता है। इसी अर्थ से मिलती उक्ति महाभारत मे भी पाई जाती है।[17] मनुस्मृति[18] मे भी लगभग इसी प्रकार राजा के कत्तर्वव्य गिनाये गये है- जो (भूमि, रत्न आदि) नही पाया है उसके पाने की इच्छा करें, और जो धन मिल गया है, उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करे और रक्षित धन को बढायें और बढे हुए धन का सुपात्रो में दान दें। नीतिसार[19] का कहना है कि दम (नियन्त्रण या शासन) को

दण्ड कहा जाता है, राजा को दण्ड की सज्ञा इसीलिए मिली है कि उसमे नियन्त्रण केन्द्रित है, दण्ड की नीति या नियमो को दण्डनीति कहा जाता है और 'नीति' यह सज्ञा इसीलिए है कि वह (लोगो को) ले चलती है।[20] मनु के टीकाकार मेधातिथि[2] ने दण्डनीति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह चाणक्य एव अन्य लोगो द्वारा प्रणीत थी। याज्ञवल्क्य की टीका मिताक्षरा[22] मे दण्डनीति को अर्थशास्त्र के अर्थ मे लिया गया है। शुक्रनीतिसार[23] मे आया है- "अर्थशास्त्र वह है, जिसमे राजाओ के आचरण आदि के विषय मे ऐसा अनुशासन एव शिक्षण हो जो श्रुति एंव स्मृति से भिन्न हो और जिसमे बडी दक्षता के साथ सम्पत्ति प्राप्ति के लिए शिक्षा दी गई हो। कामसूत्र[24] मे अर्थ की परिभाषा शिक्षा, भूमि स्वर्ग, पशु, धान्य, बरतन-भाण्ड एव मित्र तथा वाञ्छित वस्तुओ के परिवर्धन से समन्वित की गई है। किन्तु मेधातिथि[24] के विचार कुछ परिवर्तित प्रतीत होते हैं। जब मनु[25] "राजा का आचार, उसकी उत्पत्ति और जिस प्रकार उसकी इस लोक और परलोक मे परम सिद्धि हो उन सब राजधर्मों को कहता हूँ।" के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि (राज) धर्म को कर्त्तव्य (धर्म शब्द. कर्तव्यवचन:) के अर्थ मे लेते है, एवं कहते है कि राजा के कर्त्तव्य या तो दृष्टार्थ (अर्थात जिनके प्रभाव सांसारिक हो और देखे जा सकें) हैं या अदृष्टार्थ (अर्थात् जिन्हे देखा न जा सके किन्तु उनका आध्यत्मिक महत्व हो) यथा अग्हिोत्र। मेधातिथि स्पष्ट कहते है कि राजनीति के नियम धर्मशास्त्र के धार्मिक ग्रथों के आधार पर नहीं बने है, प्रत्युत वे मुख्यत सासारिक अनुभवो पर आधारित है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ राजशास्त्र, दण्ड नीति या राजधर्म या राजा के कर्त्तव्यो के संबध में साहित्य मे परम्परागत तथ्यों का उल्लेख किया गया है जिससे राज्य की समृद्धि हो, राज्य पर राजा का नियन्त्रण मजबूत हो, वहीं मेधातिथि स्पष्ट शब्दो मे अपने विचार व्यक्त करते हैं कि राजनीति के नियम धर्मशास्त्र के परम्परागत स्वरूपो से नहीं स्पष्ट किये जा सकते हैं, बल्कि ये नियम मुख्यत. सांसारिक अनुभवो पर आधारित हैं। इस प्रकार कह लें कि सांसरिक आवश्यकता से प्रेरित होकर ही राजनीति के नियमों का निर्माण किया जाना चाहिए न कि धर्मशास्त्र के धार्मिक ग्रन्थो के आधार पर।

राज्य के सात अंग.

मनु[24], गौतम[25], शातिपर्व[26] कौटिल्य[27], याज्ञवल्क्य[28] मत्स्यपुराण[29], अग्निपुराण[30], कामान्दक[31], अपरार्क[32] ने राज्य के सात अगो का विवेचन किया है- (1) स्वामी (शासक या सम्राट) (2) अमात्य (3) जनपद या राष्ट्र (राज्य की भूमि एव प्रजा) (4) दुर्ग (सुरक्षित नगर या राजधानी) (5) कोश (शासक के कोश मे द्रव्यराशि) (6) दण्ड (सेना) एव (7) मित्र।

स्वामी.

मनुस्मृति[33] एव शुक्रनीतिसार[34] में लिखा है कि-''जब सभी भयाकुल हो इधर उधर दौडने लगे और विश्व मे कोई स्वामी नही था तब विधाता ने इस विश्व की रक्षा के लिए राजा का प्रणयन किया।'' मनु ने मत्स्य न्याय (बडी मछली छोटी मछलियो को निगल जाती है, अर्थात बली दुर्बल को दबा बैठता है या जिसकी लाठी उसकी भैस वाले सिद्धान्त) की ओर सकेत किया है।[34] शतपथ ब्राह्मण[35] मे आया है कि- जब कभी अकाल पडता है तो बलवान दुर्बल को दबा बैठता है, क्योकि पानी है न्याय है। कौटिल्य[36] का कहना है- जब दण्ड का प्रयोग नही होता तब मत्स्य न्याय की दशा उत्पन्न हो जाती है क्योंकि दण्डधर के अभाव में बलवान दुर्बल को खा डालता है। कौटिल्य ने यह भी कहा है कि मत्स्य न्याय से अभिभूत होकर लोगो ने मनु वैवस्तव को अपना राजा बनाया। यही बात रामायण[37], शांतिपर्व[38], कामन्दक[39], मत्स्यपुराण[40], मानसोल्लास[41] ने भी अलग-अलग ढग से कही है।

राजा की महत्ता को द्योतित करने के लिए कुछ ग्रथो ने लिखा है कि राजा मे देवो के अश होते है। उदाहरणार्थ मनु[42] का कहना है- विधाता ने इन्द्र, मारूत, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्र एव कुबेर के प्रमुख अंशो से युक्त राजा की रचना की, अत: वह (राजा) राजमहिमा के कारण सभी जीवो मे बढ़ जाता है। एक अन्य स्थल पर मनु[43] कहते है- ''बालक राजा का भी यह सोचकर कि वह भी मानव ही है, अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह नररूप देवता ही है। शांतिपर्व[44], गौतम[45] एंव आपस्तम्ब[46] मत्स्यपुराण[47], शुक्रनीतिसार[48], अग्निपुराण[49] वायुपुराण[50] एंव भागवतपुराण[51] में भी राजा में देवत्व का अंश होने की ओर संकेत मिलता

है। राजा के दैवीय अधिकार प्राप्त आवश्य थे किन्तु इसकी एक सीमा थी ऐसा नही था कि राजा को चाहे वह व्योग्य ही क्यो न हो, देवत्व प्राप्त था और वह मनमाना कर सकता था। मनु[52] ने कहा है कि यदि राजा प्रजा को पीडा देता है, वह अपना जीवन, कुटुम्ब एव राज्य खो देता है। शुक्रनीतिसार[53] मे आया है कि वह राजा जो प्रजा को कष्ट देता है या धर्म के नाश का कारण बनता है अवश्य ही राक्षस का अश होता है। शातिपर्व[54] मे तो यहाँ तक कह दिया गया है कि झूठे एव दुष्ट मंत्रियो, अधार्मिक राजा को मार डालना चाहिए। तैत्तिरीय सहिता[55], शतपथ ब्राह्मण[56] ने भी ऐसा ही सकेत किया है। शांतिपर्व[57], मनु[58] तथा याज्ञवल्क्य[59] ने राजगद्दी छीन लेने की बात कही है। शुक्रनीतिसार[60] ने दुष्ट राजाओ को गद्दी से उतार देने और गुणवान व्यक्ति के राज्यभिषेक की चर्चा की है, एक अन्य स्थल[61] पर कहा गया है कि यदि ब्राह्मण लोग अत्याचारी राजा को हटाकर मार डालेगे इस कर्म से पाप नही लगता। यशास्तिलक[62] ने प्रजा द्वारा मारे गये राजाओ के उदाहरण दिये है, यथा कलिंग का राजा, जिसने एक नाई को अपना प्रधान सेनापति बनाया था।

किसे राजा होना चाहिए? इस विषय मे कई मत है। राजा शब्द का अर्थ है क्षत्रिय मनुस्मृति[63] मे क्षत्रिय को ही राजा होने का योग्य ठहराया गया है। धर्मशास्त्र साहित्य मे राजा शब्द उसके लिए आया है जो किसी देश पर शासन करता है या उसकी रक्षा करता है मनु के टीकाकार कुल्लूकभट्ट[64] का विचार है कि राजा शब्द किसी भी जाति के व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हो सकता है। जो व्यक्ति प्रजा रक्षण का कार्य करता है वह राजा है। यही बात अवेष्टि नामक इष्टि के सम्पादन के विषय में भी कही गई है। अवेष्टि राजसूय यज्ञ का एक प्रमुख अंग है। राजा राजसूय यज्ञ करता था। अवेष्टि के सम्पादन के सिलसिले में ब्राह्मणों, क्षत्रियो एंव वैश्यो की भी चर्चा हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि राजसूय करने वाला राजा किसी भी जाति का हो सकता है कुल्लूकभट्ट का यह विचार सभवत. परिवर्तित समय की धारा से प्रभावित रहा होगा क्योंकि तब तक क्षत्रियो के अतिरिक्त ब्राह्मण-शुंग, कण्व एव वैश्य-गुप्त वंश के शासक भी सफलतापूर्वक राजा शासन कर चुके थे।

राजा के कर्त्तव्य एंव उत्तरदायित्व

मनु[63], शातिपर्व[64] एव कालिदास[65] ने राजा के लिए प्रजारक्षण सबसे बडा धर्म माना है। राजनीति प्रकाश[66] मे प्रजा रक्षण का तात्पर्य बताया है कि चोरो, डाकुओ आदि के भीतरी आक्रमणो तथा बाहरी शत्रुओ से प्रजा के प्राण एव सम्पत्ति की रक्षा करना। मनुस्मृति[67], याज्ञवल्क्य स्मृति[68] कौटिल्य[69], नारद प्रकीर्णक[70] शुक्रनीतिसार[71], अत्रिस्मृति[72] एव विष्णुधर्मोत्तरपुराण[73] से पता चलता है कि राजा के प्रमुख कर्त्तव्य ये थे- (1) प्रजा का रक्षण या पालन, (2) वर्णाश्रम धर्म नियम का पालन (3) दुष्टो को दण्ड देना तथा (4) न्याय करना।

मनु[74] का कहना है कि आक्रमण मे प्रजा की रक्षा करते समय युद्ध क्षेत्र से नहीं भागना चाहिए, वे राजा जो युद्ध करते करते मर जाते है स्वर्ग प्राप्त करते है आपस्तम्ब धर्मसूत्र[75] मे भी राजा को प्रजा रक्षार्थ युद्ध करने के लिए प्रेरित किया है। शांतिपर्व[76] मे कहा गया है कि गाय तथा ब्राह्मण की रक्षा करने मे मर जाना श्रेयस्कर है। यही बात विष्णु धर्मोत्तर पुराण[76] मे भी कही गई है। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[77] कहते है कि जिस प्रकार अश्वमेध यज्ञ के उपरान्त राजा के साथ जो जो स्नान करते है, सभी पाप मुक्त हो जाते है। उसी प्रकार सभी जाति वाले सैनिक युद्ध में मर जाने पर पाप रहित हो जाते है। इस प्रकार न केवल राजा अपितु राजा के साथ सैनिको का युद्धभूमि मे वीरगति प्राप्त करना प्रशंसनीय था।

कामन्दक[78] ने स्पष्ट किया है कि प्रजा को राजा के बडे कर्मचारियों, चोरो, शत्रुओ, राजवल्लभों (रानी एंव राजकुमारो) एंव स्वय राजा के लोभ से बचना होता है। राजनीतिज्ञो ने इस सदर्भ मे यह भी कहा है कि उपयुर्क्त कर्त्तव्यो के अतिरिक्त राजा को चाहिए कि वह विद्यार्थियों, विद्वानो ब्राह्मणो एव याज्ञिको की रक्षा करें। गौतम[79], कौटिल्य[80], अनुशासनपर्व[81], शातिपर्व[82], विष्णुधर्मसूत्र[83], मनुस्मृति[84], याज्ञवल्क्य स्मृति[85], मत्स्यपुराण[86], अत्रिस्मृति[87] में इसके संदर्भ प्राप्त होते है। शासन का कार्य केवल शाति एव सुख के स्थान तक ही सीमित नहीं थे, प्रत्युत उनके द्वारा सस्कृति का प्रसार भी आवश्यक माना जाता था। शांतिपर्व[88], मत्स्यपुराण[89] अग्निपुराण[90], राजनीतिप्रकाश[91], सभापर्व[92] मे उल्लिखित है कि राजा को असहायों, वृद्धों, अन्धों, लूलो, लंगडो, पागलों, विधवाओं, अनाथों,

रोगियो, गर्भवती स्त्रियो की सहायता (दवा वस्त्र, निवास स्थान देकर) करनी पडती थी। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[93] कहते है कि विपत्ति एव अकाल के समय मे राजा को अपने कोश से भोजन आदि की व्यवस्था करके प्रजापालन करना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि आधुनिक काल मे जैसे जनता के सेवार्थ चिकित्सा इत्यादि की सुविधाए नि शुल्क प्रदान करने की व्यवस्था की गई थी। उसी प्रकार प्राचीनकाल एव पूर्व मध्यकाल मे वृद्धो, अधो, विधवाओ, अनाथो एव असहायो की व्यवस्था तथा उद्योग या व्यवसाय द्वारा हीन क्षत्रियो, वैश्यो एव शूद्रो को समयानुकूल सहायता देना आदि कार्य किये जाते थे। इस कार्य के कुछ अभिलेखीय साक्ष्य भी प्राप्त होते है। प्राचीन काल मे अशोक के द्वितीय प्रस्तर अभिलेख से पता चलता है कि उसने मनुष्यो एंव पशुओ के लिए अस्पताल खुलवाये थे, धर्मशालाओ, अनाथालयो, पौसरो, छायादार वृक्षो, सिचाई आदि की सुचारू व्यवस्था कर रखी थी। राजा खारवेल ने भी जलाशय खुदवाये थे। रूद्रदामन ने सुदर्शन नामक झील का पुनरूद्धार करवाया था। पराशर माधवीय[94] मे उल्लिखित है कि अच्छे राजा को चाहिए कि वे सभा-भवनो, प्रपाओ, जलाशयो, मदिरो, विश्रामालयों आदि का निर्माण करायें।

राजा के तीन प्रधान कार्य है: राजनियम प्रबन्ध अथवा कार्यकारिणी सम्बंधी, न्याय सम्बंधी एव विधान निर्माण सम्बंधी। मनु[95] का कहना है कि राजा में सभी देवताओ की दीप्ति विद्यामान रहती है अत सम्यक् आचरणो एंव अनुचित आचरणो के विषय मे वह जो कुछ नियम बनाता है उसका उल्लंघन नही करना चाहिए। मनु के इस कथन की टीका मे मेधातिथि ने कुछ राजनियमों के ऐसे उदाहरण दिये है- यथा आज राजधानी मे सभी को उत्सव मनाना चाहिए, मत्री के घर के वैवाहिक कार्य मे आज सभी को जाना चाहिए, कसाइयों द्वारा आज के दिन पशु हनन नहीं होना चाहिए, आज पक्षियो को ही नहीं पकडना चाहिए, इन दिनों महाजनो को चाहिए कि वे कर्जदारों को न सतायें, बुरे आचरण वाले मनुष्यों का साथ नहीं करना चाहिए, ऐसे लोगो को घर में नहीं आने देना चाहिए। साथ ही मेधातिथि का यह भी कहना है कि राजा को शास्त्रीय नियमों का विरोध नहीं करना चाहिए, अर्थात उसे वर्णाश्रम धर्म के विरोध में नहीं जाना चाहिए, यथा अग्निहोत्र आदि का विरोध नहीं

करना चाहिए। कौटिल्य[98] ने शासनो के प्रणयन के विषय मे पूरा एक प्रकरण ही लिखा है। शुक्रनीतिसार[99] ने लिखा है कि राजा के शासन (फरमान या घोषणाये) डुग्गी पिटवाकर घोषित कर देना चाहिए, उन्हे चौराहे पर लिखकर रख देना चाहिए। राजा को घोषित कर देना चाहिए कि उसकी आज्ञा के उल्लघन पर कठोर दण्ड मिलेगा। मेधातिथि[99A] ने राजा के शासन को यहॉ तक बढा दिया कि अकाल के समय राजा भोजन सामग्री का निर्यात रोक सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे जहॉ एक तरफ मेधातिथि का कहना है कि राजा को शास्त्रीय नियमो का विरोध नही करना चाहिए वही दूसरी तरफ मेधातिथि का कहना है कि आकाल के समय राजा भोजन सामग्री का निर्यात रोक सकता है अर्थात् राजा को शासन का सम्पूर्ण प्रबन्ध एव नियन्त्रण अपने हाथ में रखना चाहिए।

मंत्रीगण:

राज्य के सात अगो मे दूसरा है अमात्य, जिसे सचिव या मन्त्री भी कह सकते है। बहुत से लेखको ने अमात्यों एव सचिवों की आवश्यकता सुन्दर शब्दो मे दर्शायी है। मनुस्मृति[100] के अनुसार- "एक व्यक्ति के लिए सरल कार्य भी अकेला करना कठिन है, तो शासनकार्य जो कि कल्याण करना परम लक्ष्य मानता है बिना सहायको के कैसे चल सकता है?" कौटिल्य का कहना है कि "राजत्व पद सहायकों की मदद से संभव है, केवल एक पहिया कार्यशील नहीं होता; अत राजा को चाहिए कि वह मत्रियो की नियुक्ति करे और उनकी सम्मतियॉ सुने। मत्स्यपुराण[102] मे उल्लिखित है- राजा को, जब कि राज्यभिषेक के कारण अभी उसका सिर गीला ही है और वह राज्य का पर्यावेक्षण करना चाहता है, चाहिए कि वह सहायक चुन ले, क्योंकि उन्हीं मे राज्य का स्थायित्व छिपा रहता है। मत्स्यपुराण[103] विष्णुधर्मोत्तरपुराण[104], शांतिपर्व[105] एंव राजनीतिप्रकाश[106] में भी अमात्यों की चर्चा मिलती है। मंत्रिपरिषद के सदस्यो की संख्या के विषय मे बहुत प्राचीन काल से ही मतभेद रहा है। कौटिल्य[106] एंव कामन्दक[107] का कहना है कि मानव सम्प्रदाय के अनुसार मंत्रीपरिषद में 12 अमात्य होते है ब्रहिस्पत्यों के अनुसार 13, औशनसों के अनुसार 20। मनु[108] एव मानसोल्लास[109] का कहना है कि

राजा की वशपरम्परागत, शास्त्रो मे प्रवीण वीर, उच्च कुलोत्पन्न एव भली भाति परीक्षित 7 या 8 व्यक्तियो को चुन लेना चाहिए। शिवाजी मनु की इस सम्मति के अनुसार अपनी मत्री परिषद मे आठ प्रधान (अष्ट प्रधान) रखते थे। रनाडे कृत राइज ऑव द मराठा पावर[110] के अनुसार अष्टप्रधान ये थे- (1) मुख्य प्रधान (प्रधानमन्त्री) (2) पत अमात्य (वित्त-मन्त्री) (3)पत सचिव (आय व्यय निरीक्षक) (4) सेनापति (5) मन्त्री (राजा के व्यक्तिगत कार्यों का प्रभारी) (6) सुमन्त (वैदेशिक नीति का मत्री) (7) पडित राव (धार्मिक बातो का प्रभारी) (8) न्यायधीश। पूर्वमध्यकालीन लेखको मे अधिकाश का कथन है कि मंत्रियो को ब्राह्मणों, क्षत्रिय एव वैश्यो मे से चुनना चाहिए, किन्तु शूद्र को मत्री होने का अधिकार नही है, भले ही वह सर्वगुणसम्पन्न ही क्यो न हो। शुक्रनीतिसार[111] एव नीतिवाक्यामृत[112] मे ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है। मनुस्मृति[113] में ऐसे विषयो की तालिका दी है जिनके बारे मे मन्त्रियो से मत्रणा करना आवश्यक है- यथा शांति एव युद्ध स्थान (सेना, कोश, राजधानी एंव राष्ट्र या देश), कर के उद्‌गम, रक्षा (राजा एंव देश की रक्षा), पाये हुए धन को रखना या उसका वितरण। याज्ञवल्क्य[114] भी कहते है कि राजा मंत्रियो से मत्रणा लेकर किसी ब्राह्मण (पुरोहित) से सम्मति ले, तब स्वय कार्य निर्णय करें। कामदक[115] एंव अग्निपुराण[116] के अनुसार मत्रियो के सोचने के मुख्य विषय ये है- मंत्र, निर्धारित नीति से उत्पन्न फल की प्राप्ति (यथा किसी देश को जीतना और उसकी रक्षा करना) राज्य के कार्य करना- किसी किये जाने वाले कार्य के अच्छे या बुरे प्रभावो के विषय में भविष्यवाणी करना, आय एंव व्यय, शासन (दण्डनीय को दण्ड देना), शत्रुओं को दबाना, अकाल जैसी विपत्तियो के समय उपाय करना, राजा एव राज्य की रक्षा करना। बहुत से ग्रथोयथा कौटिल्य[117], कामन्दक[118], अग्निपुराण[119], पंचतन्त्र[120] मानसोल्लास[121] में कहा गया है कि मंत्र (मंत्रियों के साथ मंत्रणा एंव विचार विमर्श तथा परामर्श करने के उपरान्त नीति निर्धारण) के पांच तत्व होते हैं जिनपर विचार करना चाहिए- कर्म के आरम्भ का उपाय, मनुष्य एंव प्रचुर सम्पत्ति, देशकाल विभाग, विनिपात

प्रतीकार (बाधाओ को दूर करने के उपाय) कार्यसिद्धि (अर्थात् कार्य सिद्ध हो जाने पर राजा एव प्रजा का सुख।

राष्ट्र·

कामदक[122] का कहना है कि राज्य के सभी अगो का उद्भव राष्ट्र से होता है, अत राजा को सभी सभव प्रयत्नो द्वारा राष्ट्र की वृद्धि करनी चाहिए। अग्निपुराण[123] के अनुसार राज्य के सभी अगो मे राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ है। मनु[124] का कहना है कि राजा को ऐसे देश मे घर बनाना (रहना) चाहिए, जहॉ पानी जमा न रहता हो जहॉ प्रचुर अन्न उपजता हो, जहॉ अधिकतर आर्यो का वास हो, जहॉ (आधियो एव व्याधियो से) उपद्रव न हो, जो (वृक्षो, पुष्पो एव फलो के कारण) सुन्दर हो, जहॉ के सामत अधिकार मे आ गये हो और जहॉ जीविका के साधन सरलता से प्राप्त हो सके। यही बात याज्ञवल्क्य[125] एव विष्णु धर्मसूत्र[126] मे भी दूसरे ढग से कही गई है।

मनु[127] के अनुसार देश मे केवल आर्य हो, किन्तु विष्णु धर्म सूत्र[128] के अनुसार उसमे अपेक्षाकृत शूद्र एव वैश्य अधिक हों। एक अन्य स्थान पर मनु[129] का कहना है कि जिस देश में शूद्र अधिक हों, जहॉ नास्तिको की सख्या अधिक हो और द्विज बिल्कुल न हों, वह देश व्याधियों एंव दुर्भिक्षो से आक्रान्त होकर नष्ट हो जाता है। यही बात मत्स्यपुराण[130], विष्णुधर्मोत्तर पुराण[131], मानसोल्लास[132], नीतिवाक्यामृत[133] ने भी कही है।

यहॉ ध्यान देने योग्य तथ्य है कि प्राचीन काल के राष्ट्र की परिभाषा, आधुनिक काल के राष्ट्र की परिभाषा के समान नही थी। क्योकि बहुत से ग्रथों मे राष्ट्रो की लम्बी चौडी तालिका दी हुई है यथा वराहमिहिर की वृहत्सहिता[134], बौधायनगृह्यसूत्र[135], कामसूत्र[136], ब्रार्हस्पत्य अर्थशास्त्र[137], राजशेखर की काव्यमीमासा[138] अतिम पुस्तक भारत को पाच भागों मे बांटती है और सभी चारों दिशाओ में 70 देशो के नाम देती है। प्राचीन भारत में सभवत राज्य को राष्ट्र के नाम से सम्बोधित किया जाता था। आजकल जिसे हम राष्ट्र कहते है वह एक भूनैतिक और आतंरिक अनुभूति का भी विषय है।

मनु[139] ने कहा है दो, तीन या पॉच ग्रामो के बीच में, राजा को चाहिए कि वह रक्षको का एक मध्य स्थान नियुक्त करे। इस मध्यस्थान को 'गुल्म' कहा गया है। इसी प्रकार एक सौ ग्रामों के बीच में

सग्रह होता है। मनुस्मृति[140], विष्णुधर्मसूत्र[141], शातिपर्व[142], अग्निपुराण[143] विष्णुधर्मोत्तर- पुराण[144], मानसोल्लास[145] के अनुसार राजा द्वारा एक ग्राम मे, 10 ग्रामो के दल मे, 20 ग्रामो, 100 ग्रामो एव 1000 ग्रामो के दलो मे क्रम से एक से ऊँचे बढते हुए अधिकारियो की नियुक्ति की जानी चाहिए, जिन्हे अपने अपने अधिकार क्षेत्रो के समाचार से अवगत होना चाहिए और यदि वे कोई कार्य करने मे समर्थ न हो सके तो उन्हे इसकी सूचना ऊपर वाले अधिकारी को दे देनी चाहिए। मनु[146] का कहना है कि राजा के किसी मत्री द्वारा इन अधिकारियो के कार्यो एव उनके पारस्परिक कलह आदि की देखभाल होनी चाहिए। मनु[147] का कहना है कि दस ग्रामो के अधिकारी को भूमि का एक कुल वेतन के रूप मे मिलता था। इसके ऊपर टीका करते हुए कुल्लूकभट्ट[148] कहते है कि एक कुल उतनी भूमि को कहते है जिसे जोतने के लिए प्रति हल 6 बैलो वाले दो हल लगते थे। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल मे सभी संस्थाये उसी प्रकार परम्परागत रूप से चली आ रही थी।

एक, दस या इससे अधिक ग्रामो वाले राजकर्मचारियो के वेतन के विषय मे मनु[149] का कहना है - ग्राम के मुखिया को वे ही वस्तुएँ मिलनी चाहिए, जो प्रतिदिन राजा को मिलती है-यथा- भोजन, पेय पदार्थ, ईधन आदि; दस ग्रामो के अधिकारी को एक कुल, बीस ग्रामो से अधिक वाले को पाच कुल, एक सौ ग्रामो के अधिकारीको एक ग्राम का भूमिकर तथा एक सहस्त्र ग्रामों के बडे अधिकारी को एक नगर का कर मिलना चाहिए। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[150] कहते हैं कि मनु के ये शब्द केवल सुझाव के रूप में है और अधिकारियों की स्थिति एव उत्तरदायित्व के द्योतक है। शुक्रनीतिसार[151] का कथन है कि वेतन पण के रूप मे दिया जाना चाहिए न कि भूमि के रूप में, यदि राजा किसी को भूमि दे भी दे तो वह लेने वाले के जीवन तक ही रह सकेगी। आधुनिक काल की तरह कौटिल्य ने पूर्व सेवार्थ वृत्ति एंव प्रदान (पिंशन एंव अनुग्रह धन) देने की भी व्यवस्था दी है। याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी है कि राजा को कायस्थो के चंगुल से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए, गुप्तचरों द्वारा राज्य कर्मचारियों के कार्यों की जॉच करानी चाहिए, जो लोग अच्छे आचरणयुक्त पाये जाये उनको प्रशसित करना चाहिए, जो लोग असदाचरणशील पाये जाये उनको दण्डित करना चाहिए तथा जो

लोग घूस लेते हो उन्हे देशनिष्कासित कर देना चाहिए। मनुस्मृति[153] मे भी ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है- जो पाप बुद्धि सेवक काम (मुकद्दमे) वालो से (भय दिखाकर वा धमकाकर) धन (रिश्वत) ले राजा उनका सर्वस्त्र हरकर उन्हे देश से निकाल दे। मेधातिथि[154] इसके ऊपर टीका करते हुए कहते है कि उस राज्य को नाश का भय नही है जहाँ से कण्टक (दुष्ट लोग) निकाल बाहर किये जाते है। मेधातिथि[155] ने यह भी लिखा है कि अधिकतर कण्टको को रानी, राजकुमार, राजा के प्रिय पात्रो एव सेनापति के यहाँ प्रश्रय मिलता है। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल मे रिश्वत लेने वालो को कठोर दण्ड दिया जाता था। धर्मशास्त्र एव अर्थशास्त्र के सबधित सभी ग्रथो ने इस बात पर अधिक बल दिया है कि राजा को सतत कार्यशील रहना चाहिए, उसे किसी भी दशा मे प्रमादी एव भाग्यवादी नही होना चाहिए। कौटिल्य[156] का कहना है-धन के मूल मे उत्थान है, उत्थान के विरोधी भाव से बुराई उत्पन्न होती है। उत्थान के अभाव मे वर्तमान एव भविष्य की प्राप्ति का ह्रास निश्चित है, उत्थान के द्वारा राजा मनोवाछित वस्तु एंव प्रचुर धन की प्राप्ति कर सकता है। याज्ञवल्क्य[157] का कथन है कि किसी योजना की सफलता दैव (भाग्य) एंव मानवीय प्रयत्न दोनो पर निर्भर है, किन्तु भाग्य कुछ नही है, वह तो मानव के गत जीवन के कर्मों का प्रतिफल है। मनुस्मृति[158] के अनुसार ससार मे सब काम दैव और मनुष्य के आधीन होते है परन्तु दैव तो जान नही पडता और मनुष्य के कार्य करने से पूरे हो सकते है। मत्स्यपुराण[159], विष्णुधर्मोत्तरपुराण[160], राजनीतिप्रकाश[161] मे मानवीय प्रयत्न को उत्तम माना है। मेधातिथि[162] मनु के ऊपर भाष्य करते हुए कहते है कि- "प्रयत्न से हीन लोग ग्रहस्थिति पर निर्भर रहते है, जो दृढ़ प्रतिज्ञ और व्यवसायी होते है उनके लिए कुछ भी करना असभव नहीं है।

शक्तिशाली राजा को अपनी राज्य-सीमाएं बढाने तथा प्रजा को अपने अधिकार में रखने के लिए कई उपायो का सहारा लेना पडता था। रामायण[163], मनुस्मृति[164], याज्ञवल्क्यस्मृति[165], शुक्रनीतिसार[166] आदि के मत से ये चार उपाय हैं, यथा- साम, दान, भेद एंव दण्ड[167]। विष्णुधर्मोत्तर पुराण[168], मिताक्षरा[169] एंव कामदक[170] ने भी यही बात कही है।

4- दुर्ग (किला या राजधानी)

मनु[171] ने राजधानी को राष्ट्र के पूर्व रखा है। मेधातिथि[172] एव कुल्लूकभट्ट[173] का कथन है कि राजधानी पर शत्रु के अधिकार से गम्भीर भय उत्पन्न हो जाता है, क्योकि यही सारा भोज्य पदार्थ एकत्र रहता है, वही प्रमुख तत्व एव सैन्यबल का आयोजन रहता है, अत यदि राजधानी की रक्षा की जा सकती तो परहस्त गत राज्य लौटा लिया जा सकता है और देश की रक्षा की जा सकती है। भले ही राज्य का कुछ भाग शत्रु जीत ले किन्तु राजधानी अविजित रहनी चाहिए। राजधानी ही शासन यन्त्र की धुरी है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मेधातिथि ने राजधानी (पुर या दुर्ग) को राष्ट्र से अधिक महत्ता दी है। याज्ञवल्क्य ने भी लिखा है कि दुर्ग की स्थिति से राजा की सुरक्षा, प्रजा एव कोश की रक्षा होती है। मनु[174] ने दुर्ग के निर्माण का कारण भली भांति बता दिया है दुर्ग मे अवस्थित एक धनुर्धर सौ धनुर्धरो को तथा सौ धुनुर्धर एक सहस्त्र धनुर्धरो को मार गिरा सकते है। वायुपुराण[175] मे दुर्ग के चार प्रकार दिये हैं। मनुस्मृति[176], शांतिपर्व[177], विष्णुधर्मसूत्र[178], मत्स्यपुराण[179], अग्निपुराण[180], विष्णुधर्मोत्तरपुराण[181], शुक्रनीतिसार[182], ने दुर्ग के छ. प्रकार बताये है यथा धान्व दुर्ग (जल विहीन, खुली भूमि पर पांच योजन के घेरे मे) महीदुर्ग (स्थल दुर्ग, प्रस्तरखण्डों या ईंटो से निर्मित प्रकारो वाला, जो 12 फुट से अधिक चौडा और चौडाई से दुगुना ऊँचा हो), जलदुर्ग (चारो ओर जल से आवृत), वार्क्ष दुर्ग (जो चारो ओर से एक योजन तक कॅटीले एंव लम्बे-लम्बे वृक्षो कंटीले लता गुल्मो एव झाडियो से आवृत्त हो), नृदुर्ग (जो चतुरंगिनी सेना से चारो ओर से सुरक्षित हो) गिरिदुर्ग (पहाडों वाला दुर्ग जिसपर कठिनाई से चढा जा सके और जिसमें केवल एक ही सकीर्ण मार्ग हो। मानसोल्लास[183] ने प्रस्तरो, ईंटो एव मिट्टी से बने अन्य तीन प्रकार जोडकर नौ दुर्गों का उल्लेख किया है। मनुस्मृति[184], सभापर्व[185], अयोध्या पर्व[186], मत्स्यपुराण[187], कामसूत्र[188], मानसोल्लास[189], शुक्रनीतिसार[190], विष्णुधर्मोत्तरपुराण[191], के अनुसार दुर्ग मे पर्याप्त आयुध, अन्न, औषध, धन, घोडे, हाथी, भारवाही पशु, ब्राहमण, शिल्पकार, मशीने (जो सैकडो को एक बार मारती हैं) जल एंव भूसा आदि समान होने चाहिए। नीतिवाक्यामृत[192] का कहना है कि दुर्ग मे गुप्त सुरग होनी चाहिए जिससे गुप्त रूप से निकला जा सके, नहीं तो वह बन्दीगृह सा हो जायेगा, वे ही

लोग आने जाने पाये जिनके पास सकेत चिन्ह हो और जिनकी हुलिया भली भाति ली गई हो।

5- कोश

कौटिल्य[193] का कहना है कि जिस राजा का कोश रिक्त हो जाता है वह नगरवासियो एव ग्रामवासियो को चूसने लगता है, एक अन्य स्थल पर कौटिल्य[194] कहते है कि राज्य के सारे व्यापार कोश पर निर्भर रहते है अत· राजा को सर्वप्रथम कोश पर ध्यान देना चाहिए। मनुस्मृति[195] में कहा गया है कि राज्य का कोश एव शासन राजा पर निर्भर रहता है अर्थात राजा को उन पर व्यक्तिगत ध्यान देना चाहिए। यही बात याज्ञवल्क्य[196], कामसूत्र[197], एव शुक्रनीतिसार[198] मे अपने अपने ढग से कही गई है। राजतरंगिणी[199] का कथन है कि कश्मीर का राजा कलश (सन् 1063-1089 ई0) वणिक की भाति आय-व्यय का ब्यौरा रखता था और बडी सावधानी बरतता था।

कोश भरने का प्रमुख साधन है कर ग्रहण। कर की मात्रा सामान्यत वस्तुओं के मूल्य एव समय पर निर्भर थी, क्योकि आक्रमण, दुर्भिक्ष आदि विपत्तियाँ भी आ सकती थी। गौतम[200] मनुस्मृति[201], विष्णुधर्मसूत्र[202] ने घोषित किया है कि राजा साधारण तथा उपज का छठा भाग ले सकता है, किन्तु कौटिल्य[203], मनु[204], शन्तिपर्व[205], शुक्रनीतिसार[206] ने यह छूट दे दी है कि आपत्तियो के समय राजा को आपत्तिकाल मे भारी कर लगाने के लिए प्रजा से स्नेहपूर्ण याचना करनी चाहिए और अनुर्वर भूमि पर तो भारी कर लगाना ही नही चाहिए। मनु[207] एक स्थल पर कहते है कि जिस प्रकार जोक, बछडा एंव मधुमक्खी थोडा-थोडा करके अपनी जीविका के लिए रक्त, दूध या मधु लेते हैं, उसी प्रकार राजा को अपने राज्य से वार्षिक कर के रूप में थोडा-थोडा लेना चाहिए। राजा को न तो अपनी जड (कर न लेकर) और न दूसरों की जड (अधिक कर लेकर) काटनी चाहिए। मनु[208] के अनुसार राज्य के कोश के लिए सभी को कुछ न कुछ देना ही चाहिए। यहाँ तक कि दरिद्र लोगों को भी, जो कोई वृत्ति करते हैं, कर देना चाहिए। रसोई बनाने वालों, बढइयो, कुम्हारों आदि को मास में एक दिन की कमाई कर के रूप में देनी चाहिए। गौतम धर्मसूत्र[209] एव विष्णुधर्मसूत्र[210] में भी ऐसा ही विवरण प्राप्त

होता है। किन्तु शुक्रनीतिसार का कथन है कि मजदूरो एव शिल्पियो को प्रत्येक पक्ष मे एक दिन की बेगार देनी चाहिए।

मनु[211], गौतम[212] विष्णुधर्मसूत्र[213],मानसोल्लास[214] एव अन्य ग्रथो मे राजा भूमि से प्राप्त अन्न के 1/6, 1/8 या 1/12 भाग (विष्णु 1/6, गौतम मे 1/10 भाग) का अधिकारी माना गया है। कौटिल्य[215] ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह कृषको को बीज, पशु एंव धन अग्रिम देदे, जिसे कृषक कई सरल भागो मे लौटा सकते है। साधरणतया कर उपज का 6वा भाग ही लिया जाता था किन्तु आक्रमण या अन्य किसी प्रकार की आपत्तियो की स्थिति में वह 1/4 भाग तक कर प्राप्त कर सकता था। मनु[216], गौतम[217], विष्णुधर्मसूत्र[218], मानसोल्लास[219] आदि के मत से राजा को चरवाहो द्वारा पालित पशुओ तथा महाजनी पर 1/50 भाग लेने का अधिकार है। मनु[220], गौतम[221] विष्णुधर्मसूत्र[222], विष्णुधर्मोत्तर पुराण[223], एव मानसोल्लास[224] के अनुसार राजा को पेडो, मास, मधु, घृत, चदन, औषधियो के पौधो, रसों (नमक आदि), पुष्पो, जडों (यथा हल्दी आदि) फलो, पत्तियों (यथा ताम्बूल आदि) शाको, घासो, खालों, बांस की बनी वस्तुओ, मिट्टी के बर्तनो, प्रस्तर की वस्तुओं पर 1/6 भाग मिलता था।

राजा को कर देने के विषय मे बहुत से कारण बताये गये है। गौतम[225] का कहना है कि राजा रक्षा करता है अत· उसके लिए कर देना चाहिए। शातिपर्व[226], बौधायनधर्मसूत्र[227], नारद[228], कौटिल्य[229], के अनुसार कर राजा का वेतन है। वह प्रजा की रक्षा करता है उनकी देखभाल करता है जिसके बदले मे प्रजा उसे कर देती है। कात्यायन[230] से उद्धत राजनीतिप्रकाश[231] के अनुसार राजा भूमि का स्वामी है, किन्तु धन के अन्य प्रकारो का नहीं, वह उपज के छठे भाग का अधिकारी है, मनुष्य भूमि पर निवास करते है अत वे साधारण रूप में स्वामी से लगते है (किन्तु वास्तव में उनका स्वामित्व दूसरे ढग का है वास्तविक स्वामी तो राजा ही है) मनु[232] एंव उनके टीकाकार मेधातिथि[233] के अनुसार राजा खानो से खोदी गई वस्तुओं के अर्धांश का या कुछ वस्तुओं के 1/6, 1/8 भाग का अधिकारी है क्योंकि वह भूमि का स्वामी है और सुरक्षा प्रदान करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे भी राजा को भूमि का स्वामी माना जाता था और इस कारण कर प्राप्त करने का अधिकारी भी माना जाता था। कर प्राप्त करने का एक और कारण था कि वह अपनी प्रजा को सुरक्षा प्रदान करता था, इसलिए भी वह कर का अधिकारी था।

मेधातिथि[234] ने कुछ ऐसी वस्तुओ को गिनवाया है जिस पर राजा का एकाधिकार था जैसे हाथियो के अतिरिक्त इन मे कुमकुम, रेशम, ऊन, मोती, रत्न आदि सम्मिलित थे।

करो का विशद वर्णन आर्थिक स्थिति के राजस्व नामक अध्याय मे किया गया है। इससे राजा अपना कोश सैदव भरा रखता था।

6-बल (सेना)

कौटिल्य[235], कामन्दक[236], अग्निपुराण[237] एव मानसोल्लास[238] के अनुसार सेनाएं छ प्रकार की होती है- यथा-मौल (वशापरम्परानुगत), भृत या भृतक या भृत्य (वेतन पर रखे गये सैनिको का दल), श्रेणी (व्यापारियो या अन्य जन समुदायो की सेना), मित्र (मित्रों या सामतों की सेना), अमित (ऐसी सेना जो कभी शत्रु पक्ष की थी) आटवी या आटविक (जगली जातियो की सेना) इसमे प्रथम तीन ग्रथो के अनुसार उपर्युक्त छ प्रकारो में पूर्व वर्णित प्रकार आगे वाले प्रकारो से उत्तम हैं।[239]

सेना के चार भाग होते थे- हस्ती, अश्व, रथ एंव पदाति और इस प्रकार की सेना की संज्ञा थी चतुरगिणी। कामन्दक[240] के मत से बल छ प्रकार थे। हस्ती, अश्व, रथ, पदाति, कोश एव आवागमन के मार्ग। शांतिपर्व[241] मे सेना के आठ अंग बताये गये हैं- हस्ती, अश्व, रथ, पैदल विष्टि (जो केवल भोजन के बदले युद्ध करते थे,बेगार), नाव, चर एव दैशिक (पथप्रदर्शक)। शुक्रनीतिसार[242] ने सेना के विषय में कुछ व्यवहारिक नियम दिये हैं, जैसे :- सैनिको को ग्राम या बस्ती से दूर (किन्तु बहुत दूर नहीं) रखना चाहिए, ग्रामवासियो एव सैनिको मे धन के लेन-देन का व्यापार नहीं होने देना चाहिए। सैनिकों के लिए पृथक दुकानें खोलने का प्रयत्न करना चाहिए। एक स्थान पर सैनिको का आवास एक वर्ष से अधिक नहीं होना चाहिए, बिना राजा की आज्ञा के सैनिक ग्रामो के भीतर न जाने पायें, जो कुछ सैनिकों को दिया जाये उसकी रसीद रख लेनी चाहिए और उनके वेतन का लेखा जोखा रखना चाहिए। राजा की सेना के

प्रबन्ध आदि के विषय मे कौटिल्य के अर्थशास्त्र[245] मे विशद वर्णन मिलता है।

कौटिल्य ने विजय के लिये कपटाचरण आदि की ओर सकेत किया है, किन्तु महाभारत ने इस विषय मे बहुत उच्च आदर्श रखा है।[245] मनु[246] ने घोषित किया है- कपटपूर्ण या गुप्त आयुधो के साथ नही लडना चाहिए और न विषाक्त या शूलाग्र या जलती हुई नोको वाले आयुधो से लडना चाहिए। युद्ध लिप्त उसे न मारे जो उच्च भूमि पर चढ गया हो या हिजडा हो या जिसने (प्राण की रक्षा के लिए) हाथ जोड लिये हो, जो इतनी तेजी से भाग रहा हो कि उसके के केश उड रहे हो या जो भूमि पर बैठ गया हो और कह रहा हो, 'मै तुम्हारा हू'' जो सोया हुआ है, जिसका कवच टूट गया हो, जो मार्ग-दर्शक हो, जो दूसरे शत्रु से लड रहा हो, जिसके आयुध टूट गये हो, जो दुखित हो या बुरी तरह घायल हो गया हो जो डर गया हो और पीठ दिखाकर भाग चला हो।'' मनु[247] ने राजा को अपने शत्रु के देश को तहस-नहस करने की आज्ञा दी है, किन्तु इसपर टीका करते हुए मेधातिथि[248] कहते है कि शत्रु के देश के लोगो की यथासंभव, विशेषत· ब्राह्मणो की रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल तक आते-आते युद्ध मे और भी अधिक उदारता का प्रदर्शन किया जाने लगा था, जहॉ एक ओर कौटिल्य कपटपूर्ण युद्ध विजय की बात करते है, मनु स्मृति इसके लिए मना करती है वही मेधातिथि शत्रु देश मे भी लूटपाट से मना करते है एव यहॉ तक कि ब्राहमणो की रक्षा की बात करते है।

7- सुहृद या मित्र:

मनु[249] ने मित्र बनाने की आवश्यकता पर बहुत बल दिया है और राजा के लिए अच्छे मित्र के गुणो का वर्णन किया है- राजा सोना एंव भूमि पाकर उतना समृद्धिशाली नहीं होता जितना कि अटल मित्र पाकर, भले ही वह (मित्र) कमधन (कोश) वाला हो, क्योंकि भविष्य मे वह शक्तिशाली हो जायगा। एक दुर्बल मित्र भी श्लाघनीय है यदि वह गुणवान एंव कृतज्ञ हो, उसकी प्रजा सतुष्ट हो और वह अपने हाथ मे लिए हुए कार्य को अत तक करने वाला अर्थात दृढ प्रतिज्ञ हो। मनु[250] के मत से, "भूमि, सोना (हिरण्य) एंव मित्र'' राजा की नीति या प्रयत्नो के तीन फल हैं। याज्ञवल्क्य[251] मनु से सहमत हैं। किन्तु कौटिल्य[252] इससे

भिन्न मत रखते हैं, उनके अनुसार भूमिलाभ हिरण्यलाभ से एव हिरण्यलाभ मित्र लाभ से श्रेयस्कर है। मनुस्मृति[253], कौटिल्य[254], आश्रमवासिक पर्व[255], याज्ञवल्क्य स्मृति[256], कामसूत्र[257], अग्निपुराण[258], विष्णुधर्मोत्तरपुराण[259], नीतिवाक्यामृतम[260], राजनीतिप्रकाश[261], नीति मयूख[262] आदि ने मण्डल सिद्धान्त की चर्चा की है। विजिगीषु (विजय की अभिलाषा रखने वाला या विजय करने वाले) के सबध मे ही मण्डल सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। कामन्दक[263] ने विजिगीषु की परिभाषा इस प्रकार दी है- ''जो अपने राज्य का विस्तार करना चाहता है, जो राज्य के सातो तत्वो से सम्पन्न है, जो महोत्साही है और जो उद्योगशील है, वह विजिगीषु कहलाता है।'' विजिगीषु बहुत से राजाओ से घिरा रहता है, किन्तु जो अरि है वह विजिगीषु के सम्मुख कहा जाता है। अत विजिगीषु के सम्मुख क्रम से अरि (पडोसी शत्रु) मित्र (अरि की सीमा से सटे राज्य वाला राजा) अरि-मित्र (अरि का वह मित्र जो विजिगीषु के मित्र की सीमा का हो) मित्र मित्र (मित्र का मित्र) तथा अरिमित्र मित्र (शत्रु के मित्र का मित्र) आते है, जब अरि विजिगीषु के सम्मुख रहता है, तो विपरीत दिशा के राज्य का शासक पश्चात है और उसे पार्ष्णिग्राह (वह जो पीछे से पकड सके या आक्रमण कर सके।) कहा जाता है[264] पार्ष्णिग्राह के आगे के राज्य के राजा को आक्रन्द (जिसकी सहायता प्राप्त करने के लिए विजिगीषु प्रार्थना कर सकता है या उभाड सकता है) कहा जाता है। आक्रन्द वह मित्र है, जो पार्ष्णिग्राह की सीमा से सटा रहता है। पार्ष्णिग्राह के मित्र (जो आक्रान्द से सटा रहेगा) को पार्ष्णिग्राहासार कहा जाता है। इसी प्रकार आक्रान्द के मित्र को आक्रान्दासार कहा जाता है। उसे मध्यम कहा जाता है जिसका राज्य विजिगीषु तथा अरि की राज्य सीमा से सटा हुआ हो, और जो दोनो अर्थात् विजिगीषु तथा उसके शत्रु अरि को सहायता दे सकता हो, या दोनों से भिड सकता है। उदासीन राजा वह है जो विजिगीषु के राज्य की सीमा से बहुत दूर राज्य करता हो, जो राज्य तत्वों से सम्पन्न हो और उपर्युक्त तीनो प्रकारो से सहायता दे सकता हो या उन से भिड सकता हो।[265] कुल्लूकभट्ट[266] मनु पर टीका करते हुए उपर्युक्त व्याख्या से असहमत है उनके अनुसार उदासीन वह शक्तिशाली राजा है जिसका राज्य विजिगीषु के राज्य के सम्मुख हो, पीछे हो या दूर हो और जो किसी कारणवश या विजिगीषु के कार्य-कलापो के कारण

उदासीन हो उठा हो। मनु[265] ने घोषित किया है कि राजा को चाहिए कि वह अपने साधनो को इस प्रकार व्यवस्थित कर दे कि उनके मित्र, उदासीन एव शत्रु उसकी हानि न कर सके या उस से उच्च न हो जाये। मेधातिथि[266] ने इस पर टीका करते हुए लिखा है कि स्वार्थ आ पडने पर मित्र भी शत्रु हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे भी राज्य का सप्ताग सिद्धान्त थोडे बहुत अन्तर के साथ यथावत चल रहा था।

व्यवहार (न्याय पद्वति).

निष्पक्ष न्याय करना एव अपराधी को दण्ड देना राजा के प्रमुख कार्यों मे था। राजा को न्याय का स्त्रोत माना जाता था। कौटिल्य[267] ने लिखा है कि दिन के दूसरे भाग मे (दिन को आठ भागो में बाटा गया था) राजा को पौर जानपदो (नगरवासियो एव ग्रामवासियो) के झगडे को निपटाना चाहिए। मनु[268] ने भी लिखा है कि लोगो के झगडो को निपटाने की इच्छा से राजा को ब्राह्मणो एव मंत्रियों के साथ सभा (न्याय-भवन) मे प्रवेश करना चाहिए और प्रतिदिन झगडो के कारणो को तय करना चाहिए। शुक्रनीतिसार[269], मनुस्मृति[270], वसिष्ठ धर्मसूत्र[271], याज्ञवल्क्य[272], विष्णुधर्मसूत्र[273], नारद स्मृति[274], मानसोल्लास[275] का कहना है कि न्याय शासन राजा का व्यक्तिगत कार्य या व्यापार है। मिताक्षरा[276] का कहना है कि प्रजारक्षण राजा का सर्वोच्च कर्त्तव्य है, यह कर्त्तव्य बिना अपराधियो को दण्डित किये पूर्ण नहीं हो सकता। अत. राजा को न्याय (व्यवहार दर्शन) करना चाहिए। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[277] का भी कहना है कि लौकिक एव पारलौकिक (अदृष्ट) कष्टो को दूर करना ही प्रजा रक्षण है।

स्मृतिकारो का कहना है कि अति प्राचीन काल में स्वर्णयुग था; लोग नीतियुक्त आचरण करते थे। आगे चलकर उनके जीवन मे बेईमानी घुस गई, इसी से विद्वानो एंव राजा ने नियमों का निर्माण किया और कानूनों (व्यवहारों) का प्रचलन हुआ।[278] मनुस्मृति[279] एंव शांतिपर्व[280] मे आया है कि कृतयुग (सत्युग) में धर्म अपनी पूर्णता के साथ विराजमान था, किन्तु आगे चलकर चोरी, झूठ एव धोखाधडी के कारण क्रमश तीनों युगों (त्रेता, द्वापर एंव कलियुग) मे धर्म की अवनति होती चली गई। कुछ ग्रंथों में मत्स्यन्याय का भी वर्णन मिलता है जो सभवत. इस विचार की

स्थापना के कारण था कि स्मृतिकार चाहते थे कि जनता राजा के एकाधिकारो के समक्ष झुके।

व्यवहार शब्द सूत्रो एव स्मृतियो द्वारा कई अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। उद्योगपर्व[281], अपास्तम्बधर्मसूत्र[282] मे इसका अर्थ लेन देन से लिया गया है। शातिपर्व[283], मनु[284], वसिष्ठ[285], याज्ञवल्क्य[286], विष्णुधर्मसूत्र[287], नारद[288], शुक्रनीतिसार[289], मे इसका अर्थ झगडा या मुकदमा समझाया गया है। इसका तीसरा अर्थ लेन देन मे प्रविष्ट होने से सबधित न्याय (कानूनी) सामर्थ्य से है। जिसे गौतम[290], वसिष्ठ[291] एंव शखलिखित[292] ने प्रतिपादित किया है। इसका चौथा अर्थ है, " किसी विषय को तय करने के साधन[293] से है। किसी-किसी पुस्तक मे व्यवहार शब्द केवल न्याय विधि के लिए प्रयुक्त हुआ है- जैसे जीमूतवाहन कृत व्यवहारमातृका एव रघुनन्दनकृत व्यवहारतत्व। कुछ स्मृतिकारो एव टीकाकारो ने व्यवहार शब्द की परिभाषा की है। कात्यायन ने दो परिभाषाये की है, जिसमे से एक व्युत्पत्ति के आधार पर है और विधि की ओर प्रमुख रूप से सकेत करती है तथा दूसरी परम्परा के आधार पर झगडे या मुकदमे या विवाद से सबंधित है। उपसर्ग वि का प्रयोग बहुत के अर्थ मे,अव का सदेह के अर्थ में तथा हार का हटाने के अर्थ मे प्रयोग हुआ है, अर्थात व्यवहार नाम इस लिए पडा क्योकि यह बहुत से सदेहो को हटाता है या दूर करता है, यह व्याख्या व्यवहारमयूख[294] एव मनु पर टीका करते हुए कुल्लूकभट्ट[295] ने प्रस्तुत की है।

बहुत प्राचीनकाल से 18 व्यवहारों पदो की गणना होती आयी है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यों के बहुत से झगडे 18 शीर्षको में बांटे जा सकते है। स्वंय मनु[296] ने लिखा है कि यह सख्या कोई आदर्श नही है इस मे विशेषता· सभी मुख्य झगडे आ जाते हैं। मेधातिथि[297] और कुल्लूकभट्ट[298] इस पर टीका करते हुए स्पष्ट रूप से कहते हैं कि व्यवहार पदों मे सभी झगडे सम्मिलित होने चाहिए। सख्या इसमे महत्व नही रखती, वह चाहे जितनी ही क्यो न हो?

न्यायकार्य मुख्यत: राजा के अधीन था। राजा प्रारम्भिक एंव अंतिम अदालत था। स्मृतियों एंव निबन्धों का कहना है कि अकेला राजा न्याय कार्य नहीं कर सकता, उसे अन्य लोगो की सहायता से न्याय करना चाहिए। मनु[299] एंव याज्ञवल्क्य[300] का मत है कि राजा को बिना भडकीले

वस्त्र धारण किये विद्वान ब्राह्मणो एव मत्रियो के साथ सभा (न्याय कक्ष) मे प्रवेश करना चाहिए तथा उसे क्रोधपूर्ण मनोभाव एव लालच से दूर हटकर धर्मशास्त्र के नियमो के आधार पर न्याय करना चाहिए। यही तथ्य जीमूतवाहन की व्यवहारमातृका[301] एव याज्ञवल्क्य[302] की व्याख्या मे मिताक्षरा द्वारा उद्धृत है और जोडा है कि जो राजा न्यायधीश, मत्रियो, विद्वान, ब्राह्मणो, पुरोहितो एव सभ्यो की उपस्थिति मे विवाद निर्णय करता है वह स्वर्ग का भागी होता है। अपरार्क[303] स्मृतिचन्द्रिका[304] एव पराशरमाधवीय[305] मे दिया है कि धर्मशास्त्र द्वारा निर्धारित नियमो के विरोध में नियम बनाने अथवा निर्णय देने वाले राजाओ को सावधान किया है। शुक्रनीतिसार ने भी ऐसा ही कहा है। स्मृतिचन्द्रिका[306] के अनुसार बहुत सी बातो मे राजा का निर्णय ही प्रमाण माना जाता है। राजा निर्णय किस प्रकार करता है, इस विषय मे गौतम[307] एव मनु[308] द्वारा निर्धारित नियम द्रष्टव्य है। यदि कोई चोर ब्राह्मण के घर सोने की चोरी करे तो उसे हाथ मे लोहे की गदा या खदिर वृक्ष की लाठी लेकर बाल बिखेरे हुए दौडकर राजा के पास पहुचाकर अपना पाप स्वीकार करना चाहिए और राजा से दण्ड मागना चाहिए। राजा को ऐसी स्थिति में गदा या लाठी से अपराधी को मारना चाहिए। अपराधी उस चोट से मर जाय या जीवित रहे; वह पाप से मुक्त हो जाता है। राजा ही न्याय की सबसे बडी कचहरी या अदालत था। इस विषय मे कई उदाहरण राजतरंगिणी[309] में भी मिलते है।

प्रमुख न्यायधीश प्राय कोई विद्वान ब्राह्मण ही होता था। मनु[310] एव याज्ञवल्क्य[311], कात्यायन[312] एव शुक्रनीतिसार[313] ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई विद्वान ब्राह्मण न मिले तो प्रमुख न्यायधीश के पद पर धर्मशास्त्रो मे पारगत किसी क्षत्रिय या वैश्य को नियुक्त करना चाहिए। किन्तु राजा को इस पर ध्यान देना चाहिए कि कोई शूद्र इस का उपयोग न कर सके। मनु[314] ने यहॉ तक कहा है कि भले ही अविद्वान ब्राह्मण इस पर पर नियुक्त हो जाये, किन्तु शूद्रधर्माध्यक्ष कभी न होने पाये यदि कोई राजा शूद्र को नियुक्त करेगा तो उसका राज्य उसी प्रकार नष्ट हो जायेगा जिस प्रकार कीचड में गाय फंस जाती है। यही बात व्यास[315] ने (सरस्वती विलास मे उद्वत) भी कही है। मनु[316] का कथन है कि जब किसी सभा मे मुख्य न्यायधीश के साथ वेद मे पारंगत तीन ब्राह्मण बैठते

है तो वह ब्रह्म की सभा या यज्ञ के समान है। याज्ञवल्क्य[317], विष्णुधर्मसूत्र[318], कात्यायन[319] नारद[320] एव शुक्रनीतिसार[321] तथा अन्य ग्रथकारो के अनुसार सभ्यो के गुणशील ये है- वेदज्ञ होना, धर्म शास्त्र मे पारगत होना, सत्यवादी होना, मित्रमित्र के प्रति पक्षपात रहित होना, स्थिर होना, कार्यदक्ष होना, कर्त्तव्यशील होना, बुद्धिमान होना, वंशपरम्परा से चला आना, अर्थशास्त्र मे पारगत होना आदि।

मनु[322] का कहना है कि या तो व्यक्ति को सभा मे जाना नही चाहिए, यदि वह सभा मे प्रवेश करे तो उचित बात उसे कहनी ही चाहिए वह व्यक्ति जो सभा मे उपस्थिति रहने पर भी मौन रहता है या झूठ बोलता है, पाप का भागी होता है। जहाँ कुछ या सभी सभ्यो की सम्मति के रहते हुए राजा द्वारा न्याय नही हो पाता वहाँ सभी राजा के साथ पाप के भागी होते है। यदि राजा अन्याय कर रहा है तो सभा सदों का कर्त्तव्य है कि वे राजा को क्रमश न्यायपक्ष की ओर ले आये। यह तथ्य स्मृतिचन्द्रिका[323] एव राजनीतिरत्नाकर[324] मे भी दोहराये गये है।

स्मृतियो एव निबन्धो में न्यायलयो का भी वर्णन मिलता है। याज्ञवल्क्य[325] एंव नारद[326] का कहना है कि मुकदमो का फैसला कुलों (गाव की पचायतों), श्रेणियो, सभाओ, (पूगो) तथा गणो द्वारा भी होता था। उच्च से निम्न न्यायालयो का क्रम इस प्रकार था- राजा, न्यायधीश, गण, पूग, श्रेणी एव कुल। इसका विवरण मेधातिथि[327] मिताक्षरा[328] व्यवहारप्रकाश[329], स्मृतिचन्द्रिका[330], अपरार्क[331], कुल्लूकभट्ट[332] व्यवहारमातृका[333] पराशरमाधवीय[334] एंव गुप्त सवत 124 वाला दामोदरपुर पत्रक[335] एव एक अन्य अभिलेखीय[336] साक्ष्य मे विस्तृत रूप से दिया गया है। मेधातिथि परम्परागत अर्थो से कुछ भिन्न अर्थ बताते है उनके अनुसार कुलानि का अर्थ है रिश्तेदारो का दल कुछ लोग इसे मध्यस्थ पुरूष समझते है। गण का अर्थ है ग्रह निर्माण करने वाले या मठों में रहने वाले ब्राह्मण। मनु[337] मनु के टीकाकार (कुल्लूक[338] एंव दामोदरपुर पत्रक[339] के अनुसार विषयपति अर्थात जिले के मालिक को नगरश्रेष्ठी प्रथमकुलिक एव प्रथम कायस्थ[340] सहायता देते थे। बहुत से टीकाकारो के मत से श्रेणी का अर्थ है वह संघ या समुदाय जो एक प्रकार की वृत्ति (पेशा) या शिल्प करने वालो का हो, यथा घोडों का व्यापार करने वालों, बरइयों (पान बेचने वालों), जुलाहों, खाल बेचने वालों का संघ।

जीमूतवाहन कृत व्यवहारमातृका[341] के अनुसार 'श्रेणी' शिल्पकारो एव व्यापारियो का सघ है। 'पूग' एक ही ग्राम या बन्ती मे रहने वाली विभिन्न जातियो एव विभिन्न वृतियॉ करने वालो के समुदाय को कहते है। कात्यायन[342] ने गण एव पूग मे भेद किया है और उन्हे क्रम से कुलो का संघ तथा व्यापारियो का सघ कहा है। व्यवहारप्रकाश[343] ने गण एव पूग को एकार्थक (पर्याय) माना है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि थोडे बहुत परिवर्तन के साथ पूर्वमध्यकाल मे व्यवहार (न्याय पद्धति), न्यायालय के प्रकार इत्यादि उसी प्रकार चले आ रहे थे जैसे कि प्राचीन काल मे अपने निर्माण के काल मे उनका स्वरूप निर्धारित किया गया था।

भुक्ति भोग:

भोग या भुक्ति के विषय मे (समय निर्धारण एव स्वामित्व प्राप्ति से सबंधित अन्य बातो के बारे मे) प्राचीनकाल से स्मृतिकारों एव निबंधकारो मे बडा मतभेद रहा है। भुक्ति सागना (साधिकार) या आगया दोनो प्रकार की हो सकती है। मिताक्षरा[244] के अनुसार आगम का अर्थ है उद्‌गम या निकास अर्थात अधिकार स्वामित्व का मूल, यथा-क्रय या दान प्राप्ति आदि। मनु[245], याज्ञवल्क्य[246] एव नारद[247] ने भी इसी अर्थ मे भोग का वर्णन किया है। व्यास[348] एंव पितामह[349] ने घोषित किया है कि उपयुक्त भोग के लिए पांच बाते आवश्यक हैं। इसके पीछे आगम (स्वत्व प्रमाण) होना चाहिए, दीर्घकाल से उसे चलते आना चाहिए, वह टूट न सका हो, उसका विरोध न हुआ हो तथा वह विरोधी की जानकारी मे भी स्थिर रहा हो। नारद[350] का कहना है कि आगम के पक्ष मे लेखप्रमाण एंव साक्षियो के रहने पर भी भोग का अभाव, विशेषत: अचल सम्पत्ति के विषय मे, उसे उपयुक्त नहीं ठहराता। इसका तात्पर्य यह है कि बिना भोग के स्थानान्तर, भले ही वह लिखित हो तथा साक्षीयुक्त हो, संशयात्मक माना जाता है और आगम एव भोग एक दूसरे को बल देते हैं।[251] कहने का तात्पर्य यह है कि भोग करने वाले व्यक्ति को उसकी वैधानिकता सिद्ध करनी चाहिए, उसे यह बताना चाहिए कि भोग का उद्‌गम उसके वश मे त्रुटिपूर्ण ढंग से नहीं हुआ।प्राचीनकाल में स्वामित्व के स्थानान्तर की मुख्य विधि भोग से संबंधित थी और भोग पर स्वामित्व की सिद्धि की लिए अधिक बल दिया जाता था।

याज्ञवल्क्य स्मृति[352] की टीका मिताक्षरा ने इस स्थिति को और स्पष्ट किया है। दान एव क्रय के विषय मे स्थानान्तर करने वाले का स्वामित्व (भोग) समाप्त हो जाना चाहिए और दान पाने वाले तथा क्रय करने वाले के स्वामित्व (भोग) का उदय होना चाहिए, किन्तु यह तभी होना चाहिए जब कि दान लेने वाला तथा करने वाला सम्पत्ति को स्वीकार करले, अन्यथा नही।

मनु[353] एव नारद[354] के दो श्लोक समान ही है और उनका तात्पर्य है- किसी वस्तु का स्वामी यदि किसी प्रकार का विरोध न उपस्थित करे और कोई उसकी वस्तु का भोग करता रहे एव यह दस वर्षों तक चलता है तो उसका स्वामित्व समाप्त हो जाता है। यदि स्वामी मूर्ख नहीं है और न नाबालिग है और उसकी सम्पत्ति पर उसकी दृष्टि के समक्ष किसी अन्य व्यक्ति का भोग है तो अत मे वह भोग वाले ही हो जाती है। यही तथ्य गौतम[355] ने भी दोहराये हैं। शंख[356] ने भी वर्षों की अवधि दी है। उपर्युक्त कथनो से स्पष्ट है कि 20 या 10 वर्षों तक किसी व्यक्ति द्वारा वैधानिक ढग से स्वामित्व स्थापित कर लेने पर वास्तविक स्वामी का अधिकार समाप्त हो जाता है और अवास्तविक व्यक्ति वास्तविक स्वामी बन बैठता है।

किन्तु कुछ स्मृतिकारों के मत से सौ वर्षों तक अवास्तविक स्वामित्व स्थापन से आगम प्राप्त नही हो जाता, प्रत्युत स्वामित्व हानि के लिए अति दीर्घ अवधि अपेक्षित है।[357] नारद[358] ने कहा है कि भोग के लिए स्मार्तकाल (मानवस्मरण) के भीतर ही आगम अपेक्षित है, किन्तु स्मार्तकाल के बाहर तीन पीढियो तक का भोग पर्याप्त है, भले ही उसके लिए लेखप्रमाण या कोई अन्य आगम न हो। अस्मार्तकाल (मानव स्मरण से ऊपर) का भोग कात्यायन, व्यास आदि के अनुसार 60 वर्षों तक का माना जाता है । नारद[359] के मत से भोग के संबंध मे एक पीढी 20 वर्षों तक तथा वृहस्पति[360] के मत से 30 वर्षों तक चलती है । स्पष्ट है कि पूर्वकालीन स्मृतिकार-यथा-गौतम, मनु एव याज्ञवल्क्य ने 20 वर्षों तक के अवैधानिक भोग को स्वामित्व के लिए पर्याप्त माना है, तथा उत्तरकालीन स्मृतियों के लेखकों यथा नारद, कात्यायान आदि ने 60 वर्षों के भोग को। अपरार्क[361] एंव कुल्लूकभट्ट[362] ने कहा है कि 20 वर्ष के

नाजायज भोग से स्वामित्व की हानि हो जाती है अर्थात् स्वत्व हानि हो जाती है।

मनु[363], नॉरद[364], वसिष्ठ[365] याज्ञवल्क्य[366], वृहस्पति[367], कात्यायन[368] ने दीर्घकालिक भोग के नियम के सबंध मे निम्नोक्त अपवाद दिये है, बधक सम्पत्ति, सीमा, नाबलिक की सम्पत्ति, खुली प्रतिभूति, मुहरबद प्रतिभूति, धरोहर स्त्रियां (दासिया) राजाका धन, श्रोत्रिय सम्पत्ति दूसरे के भोग से समाप्त नही हो जाती (बीस वर्ष या दस वर्ष तक जैसा कि मनु[369] एंव याज्ञवल्क्य[370] ने लिखा है।) मनु[371] ने व्यवस्था दी है कि बधक एव प्रतिभूत (धरोहर) समय के व्यवधान से समाप्त नही हो जाते, बहुत लम्बे काल के उपरान्त भी उन्हे लौटाया जा सकता है। पूर्वमध्यकाल तक आकर यह परिवर्तन दृष्टिगत होता है कि जहॉ मनु यह व्यवस्था करते हैं कि बधक या प्रतिभूति, कितना भी समय व्यतीत क्यो न हो जाय समाप्त नही हो जाते वही कुल्लूकभट्ट इसके लिए 20 वर्ष का समय निर्धारित कहते है। उसके उपरान्त व्यक्ति स्वामित्व हीन हो जाता था।

साक्षीगण·

पाणिनी[372] ने इसका अर्थ किया है वह जिसने साक्षात देखा है। गौतम[373], कौटिल्य[374], एव नारद[375], का कथन है कि जब दो व्यक्ति विवाद करते है और जब सदेह या कोई विरोध उपस्थित होता है तब सत्य का उद्घाटन साक्षियो द्वारा ही सभव है मनु[376], सभापर्व[377], नारद[378], विष्णुधर्मसूत्र[379], कात्यायान[380] व्यबहारमातृका[381] एव व्यवहारप्रकाश[382] के अनुसार वही साक्ष्य उचित है जो ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया जाये जिसने या तो देखा हो या सुना हो, या विवाद या मामले मे जिसने अनुभव प्राप्त किया हो। इसका तात्पर्य यह है कि साक्षी प्रमाण साक्षात किया हुआ या समक्ष वाला हो न कि सुना-सुनाया हो। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[383] कहते है कि जब कोई ऐसे व्यक्ति से, जिन से स्वय सुना हो, कुछ सुनता है और आकर साक्ष्य देता है तो वह वैधानिक साक्षी (साक्ष्य) नही कहा जाता। किन्तु इसका अपवाद भी दिया है। मनु[384] एव विष्णुधर्मसूत्र[385] के अनुसार यदि नियुक्ति साक्षी मर जाय या विदेश चला जाय तो उसने जो कुछ कहा हो उससे सुनने वाला साक्ष्य दे सकता है।

साक्ष्य देने वालो की विशेषताओ का उल्लेख बहुत से ग्रंथो में हुआ है। जैसे- गौतम[386], कौटिल्य[387], मनु[388], वसिष्ठ[389], शखलिखित[390]

याज्ञवल्क्य[391] नारद[392], विष्णुधर्मसूत्र[393] कात्यायन[394], स्मृतिचन्द्रिका[395] व्यवहारप्रकाश[396]। प्रमुख विशेषताए इस प्रकार है कुलीनता, वशपरम्परा से देशवासी होना, सतानयुक्त गृहस्थ होना, धनी होना, चरित्रवान होना, विश्वासपात्रता, धर्मज्ञता, लोभहीनता तथा दोनो दलो द्वारा स्वीकार किया जाना। कुछ स्मृतिग्रथो यथा- कौटिल्य[397], मनु[398], कात्यायन[399] वसिष्ठ[400] ने व्यवस्था दी है कि सामान्यत साक्षी को पक्ष के वर्ण या जाति को होना चाहिए, स्त्रियो के विवाद मे स्त्रियो को ही साक्ष्य (गवाही) देनी चाहिए, अन्त्यजो के विवाद में अन्त्यजो को साक्ष्य देना चाहिए, हीन जाति वालो को उच्च जाति के लोगो या ब्राह्मणो को साक्षी बनाकर अपने मुकदमे की सिद्धि का प्रयत्न नही करना चाहिए। हॉ जब ब्राह्मण किसी आगम मे साक्षी रहा हो तो बात दूसरी है) किन्तु बहुधा सभी स्मृतियों ने (यहॉ तक कि गौतम एव मनु ने भी) कहा है और विकल्प बताया है कि सभी जाति के लोग (यहॉ तक कि शूद्र भी) सभी के लिए साक्षी हो सकते हैं।

साक्ष्य देने मे अयोग्य ठहराये गये लोगों की सूचियॉ निम्न ग्रंथो मे पायी जाती है कौटिल्य[401], मनु[402], उद्योगपर्व[403], याज्ञवल्क्य[404], नारद[405], विष्णुधर्मसूत्र[406] बृहस्पति[407], कात्यायन[408]। मनु[409] ने इस विषय मे तर्क उपस्थित किया है कि मौखिक साक्ष्य क्यों कर झूठे ठहराये जा सकते है, लोभ, विमोह, भय, आनन्देच्छा, क्रोध, मित्रता, अबोधता एव अल्पवयस्कता से गवाही झूठी पड सकती है। कौटिल्य[410], मनु[411], विष्णुधर्मसूत्र[412] तथा अन्य स्मृतिकारों ने लिखा है कि राजा साक्ष्य का कार्य नही कर सकता। सभवत उस मामले को छोडकर जिसमें उसके समुख बाते हुई हो। गौतम[413], कौटिल्य[414], मनु[415] याज्ञवल्क्य[416], नारद[417], विष्णुधर्मसूत्र[418], उशना[419] कात्यायन[420] ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि अर्थ मूल या धनमूल (सिविल) विवादों मे साक्षियों की कठिन जाच आवश्यक है किन्तु हिसामूल (क्रिमिनल) विवादो में साक्षी सबंधी अयोग्यता निर्धारण मे शिथिलता प्रदर्शित करनी चाहिए। मनु[421] ने घोषित किया है कि लोभरहित केवल एक पुरूष साक्ष्य के योग्य ठहराता जा सकता है, किन्तु सच्चरित्र स्त्रियॉ नही क्योकि उनकी बुद्धि अस्थिर होती है। किन्तु कुछ परिस्थितियो यथा- ग्रह के भीतर या जंगल मे हुए हत्या के मामले मे स्त्री या अल्पवयस्क या अति बूढा या शिष्य या सम्बन्धी, दास या किराये का नौकर भी योग्य साक्षी सिद्ध हो सकते है।ऐसा ही कथन कात्यायन[422] ने

भी प्रस्तुत किया है। नारद[423] के अनुसार, यद्यपि साहस के मामलो मे साक्षी सबधी ढीले हो जाते है तथापि अल्पव्यस्क स्त्री, एक ही व्यक्ति वचक, सबधी तथा शत्रु की साहस के विवादो मे साक्षी नहीं बनना चाहिए, क्योकि अल्पवयस्क अबोधता के कारण, स्त्री असत्य भाषण के स्वभाव के कारण वचक बुरे कार्य मे सलग्न रहने के कारण, संबधी स्नेह के कारण तथा शत्रु प्रतिशोध लेने के कारण झूठ का सहारा ले सकते है। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि लिखते है कि जब वादी एव प्रतिवादी दोनो पुरूष हो तो स्त्रिया साक्षी के उपयुक्त नही होती, किन्तु जहॉ विवाद किसी पुरूष एव स्त्री मे अथवा केवल स्त्रियो के बीच में होता हो तो स्त्री योग्य साक्षी होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जहॉ मनु ने स्त्रियो को अस्थिर चचल इत्यादि बताते हुए उन्हे किसी प्रकार के साक्ष्य के लिए अयोग्य ठहराया था वही उसपर टीका करते हुए मेधातिथि स्त्रियो को सम्मानीय दृष्टि से देखते है एव कहते हैं कि यदि विवाद स्त्री एंव पुरूष के मध्य हो एव स्त्री एंव स्त्री के मध्य मे हो तो स्त्री योग्य साक्षी होती है संभवत. यह समय के साथ विचारधारा में बदलाव का संकेत था।

मनु[424] मे ऐसा आया है कि ब्राह्मण साक्षी को यह कहकर कि यदि तुम असत्य कहोगे तो तुम्हारी सच्चाई नष्ट हो जायेगी, शपथ दिलानी चाहिए, क्षत्रिय साक्षी से कहना चाहिए कि तुम्हारे वाहन एंव आयुध फलहीन होगे, यदि तुम असत्य बोलोगे; तुम्हारे असत्य कथन से तुम्हारे पशु, अन्न, सोना आदि नष्ट हो जायेगे ऐसा वैश्य से कहना चाहिए तथा सभी पापों की गठरी तुम्हारे सिर पर होगी ऐसा शूद्रों से कहना चाहिए। ऐसी ही व्याख्या मिताक्षरा[425] एव मनु के टीकाकारो ने भी की है। मनु[426], याज्ञवल्क्य[427] एंव कात्यायन[428] ने कहा है कि यदि कोई जानकार साक्षी गवाही नही करता है (मौन रह जाता है) और किसी रोग से पीडित या विपत्तिग्रस्त नही है तो उसे विवाद का धन दण्ड रूप में तथा उसका दसाश राजा को देना पडता है। एक अन्य स्थल पर मनु का कहना है कि यदि साक्षी गण लोभ, भ्रामक विचार, भय, मित्रता, काम-पिपासा, क्रोध, अज्ञान एंव अल्पवयस्कता के वशीभूत होकर असत्य साक्ष्य देते है तो उन्हें दण्डित होना पडता है। बृहस्पति[430], याज्ञवल्क्य[431] एव कात्यायन[432] ने घूसखोर न्यायधीश, असत्य बोलने वाले साक्षियो एव ब्राह्मण हत्यारें को एक समान ही पापी माना है। मिताक्षरा[433] ने लिखा

है कि मनु[434] का यह कथन कि अपराधी ब्राह्मण को मृत्यु दण्ड तथा शारीरिक दण्ड नही देना चाहिए, केवल प्रथम बार किये गये अपराधो के विषय मे है, न कि अभ्यस्त अपराधी ब्राह्मणो के लिए। मनु[435] ने कहा है कि जब साक्ष्य देने के सात दिन के भीतर किसी साक्षी को रोग पकड लेता है, या उसके घर मे आग लग जाती है या उसके किसी सबधी की मृत्यु हो जाती है, तो उसे कूट साक्षी समझना चाहिए, उसे विवाद की सम्पत्ति के बराबर अर्थदण्ड देना पडता है तथा राजा को भी दण्ड स्वरूप कुछ धन देना पडता है। कात्यायन[436] एव स्मृतिचन्द्रिका[437] मे भी ऐसा विवरण प्राप्त है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे साक्षियो से सबंधित कार्यविधियॉ लगभग यथावत चल रही थी।

दिव्य·

ऋग्वेद[438], अर्थववेद[439], छान्दोम्योपनिषद[440], आपस्तम्ब धर्मसूत्र[442] ने कहा है कि दिव्य प्रमाण से एव साक्षियो से प्रश्न करके राजा को दण्ड देना चाहिए। शंख लिखित ने चार प्रकार के दिव्यो के नाम लिये है– तुला, विष, जल एंव जलता हुआ लौह। मनु[443] ने केवल दो के नाम लिये है – हाथ से अग्नि उठाना (अर्थात जलता हुआ लौह पकडना) तथा जल में कूदना। किन्तु नारद[444] के अनुसार मनु ने दिव्य के पांच प्रकार दिये हैं। याज्ञवल्क्य[445], विष्णुधर्मसूत्र[446] एव नारद[447] ने दिव्य के पांच प्रकार दिये हैं– तुला अग्नि, जल, विष, कोष (पवित्र किया हुआ जल) वृहस्पति एव पितामह ने नौ प्रकार के दिव्य दिये है[448]– तप्तभाष[449] एव तदुल[450]।

मानुष प्रमाण द्वारा सिद्ध न होने पर विवाद को निर्णय तक पहुॅचाने मे दिव्य सहायक होते है। व्यवहारमयूख[451] में दिव्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है- मानुष प्रमाण से निश्चित न होने पर जो विवाद को तय करता है, उसे दिव्य कहते है; तथा दिव्यतत्व[452] में दिव्य की परिभाषा इस प्रकार है; जो मनुष्य प्रमाण से न हो या न सिद्ध किया जा सके उसे जो सिद्ध करता है, वह दिव्य कहलाता है। मनु की व्याख्या मे मेधातिथि[453] ने सत्य के उद्घाटन मे दिव्य के आश्रय लेने के प्रश्न पर विचार किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल मे भी न्याय के लिए दिव्यों का सहारा लिया जाता था।

याज्ञवल्क्य[454], नारद[455], बृहस्पति[456], स्मृतिचन्द्रिका[457], कात्यायन[458], ने दिव्यों के विषय में यह सामान्य नियम दिया है कि इनका

प्रयोग तभी होना चाहिए जब अन्य मनुष्य प्रमाण (यथा साक्षी-गुण, लेख-प्रमाण, भोग) या परिस्थिति जन्य प्रमाण उपस्थिति न हो। कात्यायन[459] का कथन है कि यदि एक दल मानुष प्रमाण मे विश्वास करे और दूसरा दिव्य प्रमाण पर, तो राजा (न्यायाधीश) को मानुष प्रमाण स्वीकार करना चाहिए।यदि मानुष प्रमाण साध्य के किसी एक ही अंश को सिद्ध करे तो उसे ही मानना चाहिए न कि दिव्य प्रमाण का सहारा लेना चाहिए, भले ही दिव्य सम्पूर्ण साध्य से सबंधित हो। याज्ञवल्क्य पर टीका करते हुए मिताक्षरा[460] एव व्यवहारमातृका[461] का भी यही विचार है। नारद[462] का कथन है कि जब लेन-देन जगल मे, एकान्त मे, रात्रि में, गृह के भीतर हो तब दिव्य-प्रमाण ग्रहण करना चाहिए। यही नही, प्रत्युत साहस (हिसा कर्म) के वादो मे, या जब निक्षेप (धरोहर) से इकार हो तब भी ऐसा हो सकता है। कात्यायन[663] ने एकान्त मे (विष बदलकर) किये गये साहस के वादो मे दिव्य ग्रहण की छूट दी है किन्तु यह तभी जब कि मानुष प्रमाण उपस्थिति न हो। याज्ञवल्क्य पर टीका करते हुए विज्ञानेश्वर[664], मिताक्षरा एव देवणभट्ट की स्मृतिचन्द्रिका[665] मे कात्यायन से उदधृत अपवाद भी दिये हैं। साहस, आक्रमण, मानहानि तथा अन्य शक्ति प्रयोग के वादों मे मानुष-प्रमाण अथवा दिव्य प्रमाण का आश्रय लिया जा सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकालीन समाज में सत्य परीक्षण के साधनो मे दिव्य को भी एक साक्ष्य का स्थान प्राप्त था।

सिद्धि (निर्णय)·

भोग, साक्ष्य एंव दिव्य के उपरान्त व्यवहार का अतिम (चौथा स्तर) याज्ञवल्क्य[466] के अनुसार सिद्धि अथवा निर्णय है। व्यवहारप्रकाश[467] के अनुसार यदि प्रत्याकलित को व्यवहार का पाद कहा जाये तो निर्णय किसी विवाद का पाद नही है, प्रत्युत उसका फल है। स्मृतिचंद्रिका[468] एव पराशरमाधवीय[469] के अनुसार प्रमाण की उपस्थिति के उपरान्त राजा (या मुख्य न्यायधीश) सभ्यो की सहायता से वादी की जय या पराजय का निर्णय करता है। शुक्र[470] के मत से निर्णय के आधार के छह स्त्रोत हैं तीन प्रमाण (भोग, लेख प्रमाण एंव साक्षी) तर्क सिद्ध, अनुमान (हेतु), देश परम्पराए (सदाचार, शपथ एंव दिव्य) राजा का अनुशासन एव वादियों की स्वीकारोक्ति (वादी से प्रतिपत्ति)। ऐसा ही विवरण व्यवहारनिर्णय[471] एव व्यवहारप्रकाश[472] में भी प्राप्त होता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि किन मामलो मे निर्णयो का पुनरावलोकन किया जाता था। सामान्य नियम मनु[473] द्वारा किये गये है– "जब कोई व्यवहार सबधी विधि सम्पन्न हो चुकी हो (तीरति) या वहाँ तक जा चुकी हो जबकि असफल पक्ष से दण्ड लिया जा सकता है, तब बुद्धिमान राजा उसे काट नही सकता।'' तीरति एव अनुशिष्ट शब्दो की व्याख्या कई प्रकारो से की गई है[474]। तीरति शब्द हुत प्राचीन है और अशोक के दिल्ली स्तम्भ लेख 4[475] मे भी आया है। यथा– तिलित दण्डानाम्। इसका अर्थ है 'ऐसे पुरूष जो बदीगृह मे बंद है।'' मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[476] एव कुल्लूकभट्ट[474] ने इसका अर्थ क्रम से इस प्रकार दिया है– "शास्त्रीय नियमो के अनुसार निर्णित तथा असफल पक्ष के दण्ड लेने के रूप मे। कात्यायन[478] ने इसका अर्थ भिन्न रूप से दिया है– 'जब कोई पक्ष सभ्यो द्वारा बिना साक्षियो पर विचार किये सत्य या असत्य रूप मे निर्णित होता है तो उसे तीरित कहा जाता है और जो साक्षियो के आधार पर निर्णीत होता है उसे अनुशिष्ट कहा जाता है।' नारद[479] ने इन शब्दो का प्रयोगकिया है जिन्हे मिताक्षरा[480] ने क्रम से इस प्रकार समझाया है– 'जब विवाद उपलब्ध प्रमाण एव साक्षियो से निर्णीत होता है किन्तु दण्ड उगाहने का निर्णय नही हुआ रहता तो यह तीरित है और जब असफल पक्ष से दण्ड उगाह लेने तक का निर्णय होता है तो वह अनुशिष्ट कहलाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे तीरित एव अनुशिष्ट मामले हुआ करते थे। यहाँ पर एक परिवर्तन दृष्टिगत होता है जहाँ मनु तीरित का अर्थ बताते है कि जब कोई व्यवहार विधि सम्पन्न हो चुकी हो, वही इस पर टीका करते हुए मेधातिथि कहते है कि तीरित का तात्पर्य शास्त्रीय नियम के अनुसार निर्णय हो चुका हो। अत. स्पष्ट है कि अब शास्त्रीय नियमो पर जोर दिया जाने लगा था। अपराधो के लिए दण्ड की व्यवस्था के उपयोगो के विषय में स्मृतिकार सर्तक थे, किन्तु उन्होने किसी दण्ड शास्त्र का निर्माण नही किया। जिसकी हानि होती है वह प्रतिशोध लेने की प्रबल इच्छा रखता है और अन्य लोग भी उसके साथ सहानुभूमि रखते है। सभ्य देशो के लोग कानून को अपने हाथ में नही लेते, अत: राजा का कर्त्तव्य होता है कि वह यथा सम्भव अपराधी को उचित दण्ड देकर उन्हे हानि के बदले मे सतोष दे। सभी प्राचीन समाजों

मे प्रतिशोध की भावना पायी गई है और प्रतिशोध (दण्ड उद्देश्य) का कानून भी पाया जाता है, यथा ऑख के बदले ऑख लेना एव दॉत के बदले दॉत लेना। मनु[481], नारद[482], याज्ञवल्क्य[483], विष्णुधर्मसूत्र[484] ने व्यवस्था दी है कि यदि हीन जाति का कोई व्यक्ति ब्राह्मण के किसी अग को चोट पहुँचाता है तो चोट पहुचाने वाला अग काट लेना चाहिए।

गौतम[485] के अनुसार दण्ड दम धातु से निकला है। जिसका अर्थ होता है रोकना या निवारण करना। इस प्रकार दण्ड का एक उददेश्य यह था कि वैसा अपराध पुन न होने पाये। अपराधी को दण्ड देकर अन्य लोगो के समक्ष उदाहरण रखा जाता था कि वे वैसी हिंसा अथवा अपराध करने से हिचके। शातिपर्व[486] मे आया है कि राजदण्ड, यम-यातना एव जनमत के भय से लोग पाप नही करते। दण्ड का एक उद्देश्य पहले से ही प्रतिकार करना, अर्थात् यदि अपराधी को बदी बना लिया जाता है तो वह पुन अपराध करने से रोक लिया जाता है, किन्तु यदि उसे प्राणदण्ड मिलता है तो उसके अपराधो से छुटकारा मिल जाता है। दण्ड का एक अन्य उद्देश्य था सुधार या अपराधियो से पारित्राण पाना। दण्ड एक प्रकार की पाप-निष्कृति भी है जो पापकर्त्ता को पापकर्म न करने की प्रेरणा देती है और उसका चरित्र सुधर जाता है। मनु[487] एव वसिष्ठ[488] ने लिखा है कि जो लोग पाप करने के कारण राजा से दण्ड पाते हैं वे अच्छे कर्म करने वालो के समान पवित्र होकर स्वर्ग जाते है। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[489] ने लिखा है कि यह श्लोक केवल शारीरिक दण्ड के लिए ही प्रयोजित है न कि धन-सबंधी दण्ड के लिए। आरम्भिक सूत्रो एव स्मृतियो से प्रकट होता है कि प्राचीन हिसा-सबंधी व्यवहार (कानून) अत्यन्त कठोर एवं निर्मम था। किन्तु याज्ञवल्क्य, नारद एव बृहस्पति के कालो से यह अपेक्षाकृत कम कठोर होता चला आया है और बहुधा बहुत से अपराधो मे आर्थिक दण्ड मात्र दिया जाने लगा। मेधातिथि के कथन से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है जब वे कहते है कि शारीरिक दण्ड प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही स्वर्ग जायेगा न कि आर्थिक दण्ड प्राप्त करने वाला। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में आर्थिक दण्ड अधिक प्रचलित हो चुका था। दण्ड अपेक्षाकृत कम कठोर होता जा रहा था।

मनु[490], याज्ञवल्क्य[491] ने दण्ड की चार विधियॉ बतायी है- मधुर उपदेश, कडी झिडकी, शारीरिक दण्ड एव अर्थ दण्ड। गौतम[492], वसिष्ठ[493], मनु[494], याज्ञवल्क्य[495], वृद्धहारीत[496], बृहत्पराशर[497] एव कौटिल्य[498], ने व्यवस्था दी है कि दण्ड देना अपराधी की मनोवृत्ति, अपराध-स्वरूप, काल एव स्थान, शक्ति, अवस्था, आचार (कर्त्तव्य), विद्वता एव धन स्थिति पर निर्भर रहता था। (अर्थात् इन बातो पर विचार करके दण्ड निर्धारण होता था।) और यह भी देखा जाता था कि अपराध की पुनरावृत्ति तो नही हुई है। इसका अर्थ यह है कि धर्मशास्त्र की दृष्टि मे एक ही प्रकार का दण्ड एक ही प्रकार के अपराध मे सबके लिए समान नही था। प्रत्युत देखा जाता था कि अपराधी के पिछले कार्य कैसे है, उसकी विशेषताये क्या है, उसकी शारीरिक, एव मानसिक स्थिति क्या है। धर्मशास्त्र सदैव पापमार्जन की परिस्थितियों पर ध्यान देता था। दण्ड विवेक[499] ने (एक उद्वरण द्वारा) दण्ड देने के समय विचार करने के लिए दो बाते कही है- अपराधी की जाति (मनु[500], चोरी में), विवाद का मूल्य, सीमा या यात्रा (मनु[501]) अपराध के अनुरूप उपयोग या उपयोगिता (मनु[502]), वह व्यक्ति जिसके प्रति अपराध हुआ हो (मूर्ति, मंदिर, राजा या ब्राहमण) अवस्था (दण्ड देने की) योग्यता, गुण, काल, स्थान, अपराध स्वरूप (वह कितनी बार हुआ है)।

अर्थ दण्ड नियत या अनियत (परिवर्तनशील) होता है। वह काकिंणी से लेकर सम्पूर्ण धन के जब्त करने तक हो सकता है। नियत अर्थदण्ड या जुरमाना तीन प्रकार का था प्रथम साहस, मध्यम साहस एव उत्तम साहस (सबसे अधिक) मनु[503] एंव विष्णुधर्मसूत्र[504] के मत से वे क्रमश ये है- 250,500 एंव 1000 पण। याज्ञवल्क्य[505] ने उनका क्रम इस प्रकार दिया है- 270,540 एंव 1080 पण। मिताक्षरा[506] का कथन है कि मनु की कम सख्याऍ बिना किसी निश्चित उद्देश्य के किये गये अपराधो के लिए हैं । नारद के अनुसार ये 100, 500 एंव 1000 पण होना चाहिए। (अतिम में मृत्यु दण्ड, सम्पूर्ण सम्पत्ति की जब्ती, देश निष्कासन, दाग से जलाना अथवा अगविच्छेदन तक हो सकता है।) गौतम[508] एव मनु[509] के अनुसार चोरी के मामलो मे वैश्य, क्षत्रिय एव ब्राहमण को शूद्र की अपेक्षा क्रम से दूना, चौगुना तथा अठगुना दण्ड देना पडता था। क्योंकि उन्हें अपेक्षा कृत अपराध की गुरूता अधिक ज्ञात रहती है। इसे

कात्यायन[510] एव व्यास[511] ने सभी अपराधों मे सामान्य नियम के रूप मे माना है। मानहानि के मामलो मे दण्ड के लिए उच्चतर जातियो के साथ पक्षपात पाया जाता है। गौतम[512], मनु[513], नारद[514], याज्ञवल्क्य[515], का मत है कि क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जब ब्राह्मण की अवमानना (मानहानि) करते है तो उन्हे क्रम से 100,150 पणो का दण्ड तथा शारीरिक दण्ड (जीभ काट लेना) मिलता है। जब ब्राह्मण किसी क्षत्रिय, वैश्य, या शूद्र की मानहानि करता है तो उसे क्रम से 50,35 या 12 पण देने पडते है। (गौतम[516] के अनुसार अतिम के लिए कुछ भी नही देना पडता)। व्यभिचार एव बलात्कार के मामले मे अपराधी की जाति एव तत्संबधी नारी पर ध्यान दिया था। याज्ञवल्क्य[517] के अनुसार अपनी जाति की नारी के साथ व्यभिचार करने पर सबसे अधिक दण्ड की व्यवस्था की गई है, किन्तु यदिअपराधी ऊँची जाति का है तो दण्ड मध्यम होता है किन्तु यदि पुरूष नीच जाति का हो तो मृत्युदण्ड होता है और स्त्री के कान काट लिए जाते है। गौतम[518] धर्मसूत्र, कौटिल्य[519], मनु[520], याज्ञवल्क्य[521], नारद[522], विष्णुधर्मसूत्र[523], वृद्धहारीत[524], ने व्यवस्था दी है कि किसी भी अपराध में ब्राहमण को मृत्युदण्ड या शारीरिक दण्ड नही दिया जाना चाहिए वाला अपराध करे तो उसका सिर मुडा देना चाहिए, उसे देश निकाला देना चाहिए। उसके मस्तक पर उसके द्वारा किये गये अपराधचिन्ह का दाग लगाकर गधे पर चढाकर उसे घुमाना चाहिए। स्मृतिचन्द्रिका[525], एव व्यवहारप्रकाश[526] ने व्यवस्था देते हुए कहा है कि ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड नही देना चाहिए, उस अपराधी को किसी एकान्त स्थान मे बद रखना चाहिए और उसे केवल साधारण जीविका का साधन प्रदान करना चाहिए, या राजा उसे एक मास या एक पक्ष तक चरवाहे का कार्य करने को आज्ञापित करे या उसे ऐसा कार्य ले जो भद्र ब्राह्मण के लिए योग्य न हो।

मनु[527] ने शुद्ध मृत्यु दण्ड उन लोगो के लिए प्रयुक्त माना है जो चोरो की जीविका चलाकर उनकी सहायता करते थे या उन्हे सेध लगाने के यत्र देते थे या उन्हें छिपाकर रखते थे। यदि हीन जाति का कोई व्यक्ति ऊँची जाति की स्त्री के साथ उसकी सहमति से या असहमति से व्यभिचार करता है या किसी युवती को ले भागता है तो उसे मृत्युदण्ड मिलता था।[528] मनु[529], नारद[530], विष्णुधर्मसूत्र[531], ने व्यवस्था दी है कि यदि

कोई शूद्र ब्राह्मणो को धर्म की शिक्षा देने की अर्हमन्यता प्रदर्शित करे तो उसके मुँह एव कानो मे खौलता हुआ तेल-डाल देना चाहिए। मनु[532], नारद[533] याज्ञवल्क्यस्मृति[534] ने व्यवस्था दी है कि चोरो, जेबकतरो एंव गॉठ कतरो के विषय मे हाथो, पावो एव अगुलियो को काट कर दण्ड देना चाहिए। गौतम[535], बौधायन[536], नारद[537], मनु[538], मत्स्यपुराण[539], विष्णुधर्मसूत्र[540], एव दण्डविवेक[541] के मत से जब प्रायश्चित नही किया जाता था, या जानबूझकर अपराध किया जाता था तब दाग लगाया जाता था।

कौटिल्य[542] ने जादू-टोने द्वारा धर्म विरूद्ध प्रेम स्थापन के मामले का पता चलाने के लिए गुप्तचरो के प्रयोग की व्यवस्था दी है। उनका कहना है कि ऐसा जादू-टोना करने वाले को देश-निष्कासन का दण्ड देना चाहिए और यही व्यवहार उनके साथ भी होना चाहिए जो इस क्रिया द्वारा अन्य लोगों को क्लेश या चोट पहुँचाते हैं। मनुस्मृति[543] मत्स्यपुराण[544] ने मत्रबल से मारने वालो, जादू एव भूतप्रेत करने वालो पर केवल 200 पण का हल्का दण्ड लगाया है। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[545] एव कुल्लूकभट्ट[546] का कहना है कि यदि जादू सफल हो जाये तो दण्ड मृत्युदण्ड तक पहुच सकता है। इस प्रकार यंहा पर मनुस्मृति के टीकाकारो के विचार मे परिवर्तन दिखाई पडता है। जादू-टोना इत्यादि के लिए जहॉ मनुस्मृति में अर्थदण्ड का प्रावधान किया गया था वही सभवत· पूर्वमध्यकाल में इसका प्रचलन बढ गया होगा जिससे निपटने के लिए टीकाकारो ने कठोर दण्ड यथा मृत्यु का प्रावधान किया है।

संविद् व्यक्तिक्रम एंव अन्य व्यवहारपद:

इसे समय संविदभ्युपगम, समझौता अथवा नियमपत्रो तथा अन्य परम्पराओ के व्यतिक्रम के रूप मे समझा जा सकता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र[547] में 'समय' शब्द रूढि या अंगीकृत सिद्धान्त के अर्थ मे आया है। याज्ञवल्क्य[548] मे यह शब्द समझौते के अर्थ मे लिया गया है। नारद[549] ने इसके लिए 'समयस्यानपाकर्म' का प्रयोग किया है। मनु[550] ने संविदभ्युपगम शब्द का प्रयोग किया है। मनु[551] के अनुसार अब मै उन नियमों की व्यवस्था दूँगा जो समयो (परम्पराओं या रूढियो) के व्यक्तिक्रम कर्ताओ के लिए प्रयुक्त होते है। जो किसी ग्राम के या जिले के निवासियों या व्यापारियो के किसी दल या किसी अन्य प्रकार के लोगों के साथ लेकर संविदा मे आता है, और (आगे चलकर) इसका लोभवश अतिक्रमण करता

है, वह राजा द्वारा देश-निष्कासन का दण्ड पाता है। मेधातिथि[552] ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है, इसका अर्थ है, बहुत से लोगो द्वारा किसी विशिष्ट नियम या रूढि या परम्परा का अगीकार करना। इससे संकेत मिलता है कि वह नियम किसी दल (सघ या गण) द्वारा अगीकृत स्थानीय या जातीय प्रचलन से सबधित होना चाहिए जो दल के सभी सदस्यो को मान्य हो या उन्हे एक सूत्र मे बॉध रखता हो । मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[553] पुनः कहते है कि यदि किसी ग्राम के वासी यह निर्णय करें कि यदि पडोसी ग्राम के लोग खेतो या चरागाहो में अपने पशु लाये या नहरो को अपनी ओर घुमाले तो वे उनको रोकेगे तथा ऐसा करने पर यदि मारपीट हो जाये या राजा के यहॉ मुकदमा चलना आरम्भ हो जाये तो सभी एकमत रहेगे तथा उस व्यक्ति को दण्ड देगे जो दूसरे ग्राम के मुखिया की ओर मिल जाये तथा विपक्षी की सहायता करे।

नारद[554] के मत से नास्तिको, नैगमो आदि द्वारा निश्चित नियम (परम्पराऍ) समय के उदाहरण है। याज्ञवल्क्य[555] एव नारद[556] का कथन है कि राजा द्वारा पुरो, जनपदों के सघो, नैगमो, नास्तिको, श्रेणियों, पूगो, गणो के नियमो (परम्पराओ या रूढियो) की रक्षा होनी चाहिए और उन्हे कार्यान्वित करना चाहिए। धर्मशास्त्रकार इतने उदार थे कि उन्होने पाखण्डियो के समयो के पालन के लिए भी राजा को उद्वेलित किया था। नारद[557], एव मेधातिथि[558] के अनुसार केवल इस बात का ध्यान रखा गया था कि समयो का पालन राज्य या राजधानी के विरोध मे न जाये और क्रांति न उत्पन्न होने पाये और न अनैतिकता प्रदर्शित हो सके।

इस प्रकार यह भी स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्यकाल में भी समयों की परम्परा बनी हुई थी एव सभी गण, श्रेणी या दल के लोग उसके नियमो का सम्मान करते थे इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इस दल के सदस्य को इसके नियम को तोडने पर दण्ड देने का विधान किया गया था।

दायभाग(सम्पत्ति विभाजन):

सर्वप्रथम तैत्रिरीय संहिता में दाय शब्द पैत्रक सम्पत्ति या केवल सम्पत्ति के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। तैत्रिरीय संहिता[559] मे नाभानेदिष्ठ की गाथा मे आया है कि मनु ने अपना दाय अपने पुत्रो मे बांट दिया। दायभाग नामक व्यवहारपद मे दो मुख्य विषय-विभाजन एव

दाय सम्मिलित किये जाते है लगभग एक सहस्त्र वर्षों से दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध रहे है, जो मिताक्षरा एव दायभाग सज्ञाओ से द्योतित होते रहे है क्योकि दाय का विश्लेषण करने वाले ये ही मुख्य ग्रथ है। उत्तरभारत मे मिताक्षरा एव बगाल मे दायभाग का प्राबल्य रहा है।

साहित्य में दाय एव विभाग शब्द कई प्रकार से द्योतित किये गये है। नारद[560] ने दायभाग व्यवहारपद को ऐसा माना है जिसमे पुत्र अपने पिता के धन के विभाजन का प्रबन्ध करते है। स्मृतिचन्द्रिका[561], एव व्यवहारमयूख[562], के मत से दाय वह धन है जो माता या पिता से किसी पुरूष को प्राप्त होता है। मनु[564] एंव नारद ने माता के धन का विभाजन दायभाग के अन्तर्गत रखा है। मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य[565] उपक्रमणिका मे कहा है कि दाय का अर्थ है वह धन जो उनके स्वामी के सबध से किसी अन्य की सम्पत्ति (धन) हो जाता है। व्यवहारमयूख[566] ने दाय को उस धन की सज्ञा दी है जो विभाजित होता है और जो उन लोगों को नही प्राप्त होता जो फिर से एकसाथ हो जाते है।

दाय का विवेचन करने में स्वत्व का विवरण पहले देना आवश्यक प्रतीत होता है। स्वत्व (स्वामित्व) लोकसिद्ध है या शास्त्रों के वचनो पर आधारित है, इसके विषय मे मिताक्षरा का कथन है- मनु[567] एव विष्णुधर्मसूत्र[568] के मत से जब ब्राह्मण गर्हित कर्मों से धन प्राप्त करते हैं (यथा किसी कुपात्र या पतित व्यक्ति से दान ग्रहण करना, या ऐसी क्रयवृत्ति से जो उनकी जाति के लिए निन्द्य है, धन ग्रहण करना) तो वे उस धन के दान से, पूत मंत्रो (गायत्री आदि) के जप से तथा तपस्या आदि से पाप से छुटकारा पा सकते है। यदि स्वत्व का उद्गम शास्त्र द्वारा ही हो, तो शास्त्रनिन्द्य साधनो से प्राप्त किया हुआ धन व्यक्ति की धन (सम्पत्ति) नही कहलायेगा और न उसके पुत्र उसका विभाजन कर सकते है क्योंकि उसे सम्पत्ति की सज्ञा प्राप्त नही है। यदि स्वत्व लौकिक है तो उस दिशा मे गर्हित साधनो से उत्पन्न धन व्यक्ति की सम्पत्ति की संज्ञा पाता है और उस व्यक्ति के पुत्र अपराधी नही होते (भले ही प्राप्तिकर्ता को प्रायश्चित करना पडे) और सम्पत्ति (दाय) का विभाजन कर सकते है।

इसके साथ ही एक प्रश्न यह भी उठ खडा होता है कि क्या स्वामित्व (स्वत्व) विभाजन से उद्भूत होता है या विभाजन किसी व्यक्ति

के (जन्म द्वारा) धन से उत्पन्न होता है? जो लोग जन्म से पुत्रो का स्वत्व नही मानते है वे इस प्रकार तर्क देते है।

यदि पुत्र पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से ही अधिकार रखते है तो पुत्रोत्पत्ति पर पिता बिना पुत्र की आज्ञा से धार्मिक कृत्य (वैदिक अग्नियो मे) नही कर सकता, क्योकि इस कृत्यो से पैत्रक सम्पत्ति का व्यय होता है। कुछ स्मृतियो यथा देवल[569], दीपकालिका[570], विवादरत्नाकर[571] एव पराशरमाधवीय[572] ने पिता के रहते पुत्रों के स्वत्व को नही माना है। प्राचीन स्मृतिकारो जैसे मनु[573] एव नारद[574] ने व्यवस्था दी है कि पिता के स्वर्गलोक जाने के उपरान्त ही पुत्रो को सम्पत्ति का विभाजन करना चाहिए। (क्योंकि मनु का कथन है कि माता पिता के रहते पुत्र स्वामी नही होते) इससे प्रकट होता है कि पुत्रो को जन्म से अधिकार नहीं प्राप्त होता है।

जबकि जन्म से ही स्वामित्व स्थापित करने वाले स्मृतिकारो में याज्ञवल्क्य[575], बृहस्पति[576], कात्यायन[577], एव विष्णु[578], प्रमुख है, जो स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि पितामाह की सम्पत्ति मे पिता एव पुत्र के स्वामित्व संबंधी अधिकार एक समान है (अत: पुत्र स्वत्व जन्म से ही है)। सम्पत्ति पर सीमाओ की कई कोटियॉ है जैसे पिता का अधिकार, विधवा का अधिकार आदि। व्यक्ति जो कमाता है, वह उसका है और वह उसकी अपनी सम्पत्ति है। किन्तु मनु[579] एव नारद[580] के मत से तीन प्रकार के व्यक्ति सम्पत्तिहीन कहे गये है; पत्नी, पुत्र एंव दास, वे जो कुछ कमाते है वह पति या पिता या स्वामी का होता है। मिताक्षरा[581] ने मनु[582] की व्याख्या की तुलना मे कहा है कि देवल[583], नारद[584], एंव मनु[585], ने जो यह कहा है कि पिता के रहते उसके हाथ की सम्पत्ति पर पुत्र का स्वत्व नहीं रहता उसका यही अर्थ लगाना लगाना चाहिए कि पुत्र पिता के रहते या उसकी अपनी अर्जित सम्पत्ति पर, स्वतन्त्र रूप से व्यय करने का अधिकार नही रखता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मनु, नारद एव देवल की स्मृतियों तथा उद्योत एंव धारेश्वर जैसे प्रमुख लेखको ने उपरम-स्वत्ववाद का सिद्धान्त (अर्थात् मृत्यु के उपरान्त ही स्वामित्व की उत्पत्ति के सिद्धान्त) घोषित किया है और याज्ञवल्क्य, विष्णु, वृहस्पति ने बहुत पहले ही जन्मस्वत्ववाद का सिद्धान्त अपना लिया था। विश्वरूप[585] जो याज्ञवल्क्यस्मृति

के टीकाकार है, 9वी शती के प्रथम चरण मे हुए थे, का कहना है कि स्वत्व जन्म से ही उत्पन्न हो जाता है। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[587] ने जन्म स्वत्ववाद की बात का समर्थन किया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार की सम्पत्ति का विभाजन होना चाहिए। प्राचीन भारतीय व्यवहार (कानून) के अनुसार सम्पत्ति दो कोटियो मे बाटी गई है। (1) सयुक्त कुलसम्पत्ति तथा (2) पृथक्सम्पत्ति। मनु[588] एव याज्ञवल्क्य[589] के अनुसार सयुक्त कुल सम्पत्ति या तो पैत्रृक होती है या पैत्रक सम्पत्ति की सहायता या बिना उसकी सहायता के सयुक्त रूप मे अर्जित होती है या अलग-अलग अर्जित होने पर सयुक्त कर ली जाती है। पृथक्सम्पत्ति मे स्वार्जित सम्पत्ति भी सन्निहित मानी जाती है। पृथक सम्पत्ति के विषय मे धारणा धीरे-धीरे मंद गति से उदित हुई है। आरम्भ मे किसी सदस्य द्वारा उपार्जित धन पूरे कुल की सम्पत्ति माना जाता था। मनु[590] की व्याख्या मे शबर, मेधातिथि[591], दायभाग आदि ने लिखा है कि उपार्जनकर्ता (चाहे वह पुत्र हो या पत्नी) को स्वार्जित धन स्वतन्त्र रूप से व्यय करने का अधिकार नहीं है। यद्यपि वह उस धन पर स्वामित्व रखता है। एक अन्य स्थल पर मनु[592] एंव विष्णु[593] का कथन है कि जो कुछ कोई (संयुक्त परिवार का सदस्य, कोई भाई आदि) अपने परिश्रम से (बिना कुल सम्पत्ति को हानि पहुॅचाये) कमाता है, यदि वह न चाहे उसे अन्य को न दे क्योंकि वह प्राप्ति उसकी ही क्रियाशीलता द्वारा हुई है। मनु[554] ने विद्याधन के अतिरिक्त मित्र दान, विवाह दान, (औद्वाहिक) एव मधुपर्क के समय के दान को किसी व्यक्ति की पृथक सम्पत्ति के रूप में ग्रहण किया है। याज्ञवल्क्य[595] ने व्यवस्था दी है कि जो कुछ कोई बिना सयुक्त सम्पत्ति की हानि के प्राप्त करता है, मित्रों से दान के रूप मे या विवाह मे भेट के रूप में जो कुछ पाता है, वह अन्य सहभागियो मे विभाजित नही होता, इसी प्रकार जो नष्ट हुई पैत्रक सम्पत्ति (जो पिता अथवा भाइयों द्वारा पुनः प्राप्त नही की गई थी) फिर से (अपने उद्योग से) प्राप्त करता है, उसे भी विभाजन के समय अन्य लोग पाने के योग्य नही माने जाते और यही बात विद्याधन के विषय में भी है। यदि आपत्तियो के कारण कुल सम्पत्ति नष्ट हो गई है उसे किसी सदस्य ने अपने प्रयास से (बिना कुल सम्पत्ति के उपयोग के) ग्रहण किया हो तो उसके विषय मे कुछ विशिष्ट व्यवस्थाएँ अवलोकनीय है।

मनु[596], विष्णु[597] एव कात्यायन[598] ने एक विशेष नियम यह दिया है कि यदि इस प्रकार नष्ट हुई सम्पत्ति को पिता अपने प्रयास से (बिना कुल सम्पत्ति का व्यय किये)पुनग्रहण करता है तो वह उसे सम्पूर्ण रूप -से स्वार्जित जैसी रख लेगा।

मनु[599] एव विष्णु[600] के अनुसार "वस्त्र पत्र (यान), अलंकार, पके भोजन, जल (कूप आदि), स्त्रियो एव प्रचार या मार्ग (रास्ता) का विभाजन नही होता। मिताक्षरा[601], अपरार्क एव व्यवहार प्रकाश[603] के अनुसार यदि वस्त्र बहुमूल्य एव नये न हो, तो ऐसे वस्त्र है जिन्हे सदस्य लोग प्रतिदिन प्रयोग में लाते है यही बात यानो एव अलकारों के विषय मे भी कही गई है। 'प्रचार' का तात्पर्य या तो घर वाटिका आदि की ओर जाने वाले मार्ग या स्मृतिचन्द्रिका[604] एव कुल्लूकभट्ट[605] के अनुसार गायो आदि के लिए मार्ग या चरागाह है।

पिता से हीन जाति की पत्नियो से उत्पन्न पुत्र एंव पुत्रो के अधिकारो के विषय मे स्मृतियो एंव मध्यकाल के निबंधों में विस्तार के साथ विवेचन प्राप्त होता है। गौतम[606], बौधायन[607], कौटिल्य[608], वसिष्ठ[609], मनु[610], याज्ञवल्क्य[611],विष्णु[612], नारद[613], शंख[614], मे इसका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। मनु[615] एंव याज्ञवल्क्य[616] के अनुसार यदि किसी ब्राह्मण को चारो जातियों से पुत्र हो तो सारी सम्पत्ति दस भागों में बट जाती है और निम्न रूप से बँटवारा होता है। ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्रों को चार भाग, क्षत्रिय पत्नी से उत्पन्न पुत्रो को तीन भाग, वैश्य पत्नी के पुत्रों को दो भाग एव शूद्रा पत्नी के पुत्रो को एक भाग। मिताक्षरा[617] का कथन है कि क्षत्रिय पत्नी के पुत्रो को दान से प्राप्त भूमि का भाग नही मिलता, किन्तु क्रय की हुई भूमि का भाग मिलता है। कौटिल्य[618] के अनुसार पारशव पुत्र को पिता की सम्पत्ति का 1/2 भाग निकटतम सपिण्ड को 2/3 भाग मिलता है। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[619] भी ऐसा ही विचार प्रकट करते हैं। मनु[620] ने दासी से उत्पन्न शूद्रपुत्र को पिता की सम्पत्ति का भाग दिया है। (यदि पिता चाहे तो ऐसा हो सकता है।)

पत्नी को विभाजन की मॉग का कोई अधिकार नही है। किन्तु याज्ञवल्क्य[621] के मत से पिता के रहते पुत्र विभाजन की मॉग करे तो पत्नी को पुत्र के समान ही एक भाग मिलता है। यदि कई पत्नियॉ

हो तो प्रत्येक को एक पुत्र के बराबर का भाग मिलता है। याज्ञवल्क्य[622] ने यह भी व्यवस्था दी है कि पत्नी या पत्नियॉ पति या श्वसुर द्वारा प्रदत्त स्त्रीधन की सम्पत्ति पर भोग का अधिकार नही रखती, किन्तु यदि स्त्रीधन हो तो उन्हे उतना ही अधिक प्राप्त होगा जितना मिलकर एक पुत्र के भाग के बराबर हो जाए। जबकि मिताक्षरा[623] का कहना है कि पति की इच्छा से पत्नी कुल सम्पत्ति का भाग पा सकती है किन्तु अपनी इच्छा से नही। याज्ञवल्क्य पर टीका करते हुए विश्वरूप ने आधुनिक कानून व्यवस्था के अनुरूप ही विचार व्यक्त किये है। उनके अनुसार[624] पहले से मृत पुत्रों एव पौत्रो की पत्नियो को वे भाग मिलने चाहिए जो उनके पतियो को दाय के रूप में प्राप्त होते, क्योंकि उनके पतियो को जीवित रहने पर पिता के साथ किये गये विभाजन मे अधिकार तो प्राप्त होता ही। आधुनिक कानून व्यवस्था मे 1937 का कानून जो 1938 मे सशोधित किया गया, हिन्दू स्त्रियो का सम्पत्ति मे अधिकार) इससे मिताक्षरा की, केवल पुरूषो को ही संयुक्त परिवार का भाग मिलना चाहिए, वाली प्राचीन व्यवस्था समाप्त हो गई है।

याज्ञवल्क्य[625], नारद[626] एव विष्णु[627] के अनुसार माता (या विमाता) भी पिता की मृत्यु के उपरान्त पुत्रो के दाय-विभाजन के समय बराबर भाग की अधिकारिणी होती है, किन्तु जब तक पुत्र संयुक्त रहते है, वह विभाजन की माग नही कर सकती। किन्तु पत्नी के समान ही यदि उसके पास स्त्रीधन होगा तो उसका दाय भाग भी उसी के अनुपात मे कम हो जायेगा। मिताक्षरा[628] ने भी अपने पूर्व के लखको के इस मत का खण्डन किया है कि माता को केवल जीविका के साधन मात्र प्राप्त होते है। मनु[629] ने ऐसा सकेत दिया है कि स्त्रियो का धर्मशास्त्र तथा स्मृति मे और किसी मत्रो मे भी इनका अधिकार नही है अर्थात् शक्तिहीन होने के कारण, (काणे[630] के अनुसार) उन्हे सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रखा गया था। जबकि मेधातिथि[631] इसका विरोध करते हुए स्त्रियों को पैत्रृक सम्पत्ति में कुछ भाग देने का समर्थन करते है। कतिपय शारीरिक, मानसिक एव अन्य आचरण संबंधी दुर्गणों के कारण प्राचीन भारत मे कुछ लोग दायभाग से वंचित थे। गौतम[632], आपस्तम्ब[633], वसिष्ठ[634], विष्णु[635], बौधायन[636] एव कौटिल्य[637] के अनुसार पागल, जड, क्लीब, पतित (पापाचारी) अधे, असाध्यरोगी और सन्यासी विभाजन एव रिक्थाधिकार से

वंचित माने जाते थे। ऐसा इसलिए किया गया है कि ये लोग धार्मिक कार्य नही कर सकते और सम्पत्ति तथा उसके साथ धार्मिक उपयोग का सबध अटूट माना जाता रहा है।[638] मिताक्षरा[639] ने अपने पूर्व के आचार्यों के मत का खण्डन किया है कि सारी सम्पत्ति यज्ञो के लिए ही है। वे पूर्व आचार्य दो स्मृति वचनों पर निर्भर थे, सभी द्रव्य (सभी प्रकार की या चल सम्पत्ति) यज्ञ के लिए उत्पन्न की गई है, अत वे लोग जो यज्ञ के योग्य नही है पैत्रृक सम्पत्ति के अधिकारी नही है उन्हें केवल भोजन वस्त्र मिलेगा। मनु[640], नारद[641] एव याज्ञवल्क्य[642] भी क्लीब, पतित, जन्मान्ध, जन्मबधिर पागल, मूर्ख, गूँगे एंव इन्द्रियदोषी को अश (भाग या हिस्सा) नही मिलता। जबकि मिताक्षरा[643] के अर्न्तगत केवल पागलपन एव जन्म से मूढता का दोष ही दायाश के अनधिकार के लिए ठीक माना गया है। मनु[644] एंव याज्ञवल्क्य[645] ने तो उसे अनश या निरशंक (पैत्रृक सम्पत्ति के अंश के लिए अयोग्य) घोषित किया है, किन्तु उन्होने उसके भरण-पोषण की व्यवस्था दी है और कहा है कि यदि उसे जीविका न दी जायेगी तो न देने वालो को पाप लगेगा, किन्तु उन्होने आगे चलकर व्यवस्था दी है कि यदि उसके पुत्र इन दोषो से मुक्त हो तो उन्हे दायांश मिलता है। मिताक्षरा[646] के अनुसार अनशता के लिए स्त्री एंव पुरूष दोनो एक ही प्रकार के दोषों एव दुर्गुणो से शासित है।

ज्येष्ठ पुत्र को प्राचीन काल से अब तक विशिष्ठता मिलती आ रही है। यह विशिष्टता कई रूपो मे प्रकट होती रही है। कुछ मतो से ज्येष्ठ पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती थी। आपस्तम्ब[647], मनुस्मृति[648] एव नारद[649] ने इस मत की ओर भी निर्देश किया है। मनु[650] ने लिखा है कि ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण पैत्रृक सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है, किन्तु उन्होने यह भी लिखा है कि अन्य पुत्र ऐसी स्थिति मे अपने ज्येष्ठ भाई पर अपनी जीविका आदि के लिए उसी प्रकार निर्भर है जिस प्रकार अपने पिता पर। मनु का कथन है कि ज्येष्ठ पुत्र जन्म के कारण पिता को पितृ ऋृण से मुक्त कराता है, अत: वह पिता से सम्पूर्ण सम्पत्ति पाने की पात्रता रखता है।

मनु[651] के अनुसार एक ही जाति की पत्नियो से उत्पन्न पुत्रो में जो सबसे पहले उत्पन्न (यहॉ तक कि छोटी पत्नि से भी) होता है वही ज्येष्ठ होता है, जुडवॉ भाइयों में पहले उत्पन्न होने वाला ज्येष्ठ होता है। किन्तु कई जातियों में समान जाति वाली पत्नी का पुत्र (भले

ही वह बाद मे उत्पन्न हुआ हो) ज्येष्ठ होता है, और नीच जाति वाली पत्नी (भले ही वह पहले उत्पन्न हुआ हो) कनिष्ठ कर दिया जाता है। यह तथ्य व्यवहाररत्नाकर[652] एव व्यवहारचितामणि[653] मे भी उल्लिखित है।

मनु के सबसे प्राचीन टीकाकार मेधातिथि[654] ने मनु की व्याख्या मे बताया है कि नियोग सबधी एव ज्येष्ठ पुत्र के विशिष्ट अश से सबंधित बाते केवल प्राचीनकाल में ही प्रचलित थी। काल एंव देश के अनुसार स्मृतियो के वचन परिवर्तित होते हैं। प्राचीन काल के सूत्र जिनमे वैदिक विद्यार्थियो को वैदिक मन्त्र कंठस्थ रखने पडते थे, (मेधातिथि के काल) आजकल प्रचलित नही है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे ज्येष्ट पुत्र अपनी विशिष्टता के कारण पैत्रृक सम्पत्ति का सम्पूर्ण भाग नही प्राप्त करता था, जैसा कि प्राचीन काल मे होता था।

अन्य पुत्रो मे गूढज, कानीन एव सहोढ के विषय मे यह कहाजा सकता है कि वे अवैधानिक संसर्ग के फल है किन्तु किसी के द्वारा तो उनका पालन पोषण होना चाहिए। यदि पत्नी व्यभिचार की दोषी है तो पति को उसे शुद्ध करने के कुछ अधिकार प्राप्त है, किन्तु यदि वह क्षमा कर दे तो स्मृतियॉ उसे यह नही आज्ञापित करती कि वह उसे त्याग दे। ये स्मृतियॉ यथा-गौतम, वसिष्ठ एव नारद, जो स्त्रियों के व्यभिचारों के प्रति कठोर है, गूढज, कानीन एंव सहोढ को गौणपुत्र के रूप में ग्रहण करती है। इन दो प्रकार के मनोभावो को इस प्रकार सुलझाया जा सकता है कि जब पति विवाह करके स्त्री के नैतिक दोषो को क्षमा कर देता है तो स्मृतियों ने भी अवैध संसर्ग से उत्पन्न पुत्रों के भरण-पोषण (रक्षण एव उत्तराधिकार की व्यवस्था दे दी है। पौनर्भव, कानीन, सहोढ एव गूढज के विषय मे मध्यकाल के टीकाकारो मे भी मतभेद रहा है। मेधातिथि[655] ने मनु के ऊपर टीका करते हुए उन्हें केवल भोजन वस्त्र का अधिकारी माना है।

स्वयं का पुत्र या कोई संतान न उत्पन्न होने पर दम्पत्ति दूसरे दम्पत्ति से सतान ग्रहण करते हैं वह संतान दत्तक कहलाती है। बौधायनधर्मसूत्र[656], मनु[657], याज्ञवल्क्य[658], विष्णु[659] एव नारद[660] ने इसकी परिभाषा दी है। मनु[661] के अनुसार पिता माता आपत्तिकाल मे जिस सजातीय पुत्र का प्रीतिपूर्वक जल से सकल्प करके दान करते है उसे दत्तक कहते हैं। इसके ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[662] ने स्पष्ट कहा

है कि ब्राह्मण क्षत्रिय को भी गोद ले सकता है। जबकि मनु के अन्य टीकाकार, यथा कुल्लूक[663] आदि तथा व्यवहारमयूख[664] एव अन्य ग्रथो ने लिखा है कि दत्तक समान जाति का होना चाहिए। –

पुत्र के अभाव मे पुत्री-पुत्र को उत्तराधिकार प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य[665] ने कहा है कि जब वैध पुत्र न हो और जब दौहित्र तक कोई अन्य उत्तराधिकारी न हो तो शूद्रो मे अवैध पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती है, तो यह मानना उचित है कि याज्ञवल्क्य ने पुत्रियो के उपरात दौहित्रो को उत्तराधिकारी अवश्य माना है। मनु के टीकाकार गोविन्दराज[666] ने विष्णु के वचन के आधार पर यह व्यवस्था दी है कि मृत की विवाहित कन्या के पूर्व दौहित्र का अधिकार होता है किन्तु दायभाग को यह मत मान्य नही है। मनु[667] ने स्पष्ट कहा है कि- पुत्रहीन व्यक्ति का सम्पूर्ण धन दौहित्र पाता है, उसे एक पिण्ड पिता को तथा दूसरा नाना को देना चाहिए। धार्मिक मामलो में पौत्र एव दौहित्र मे कोई अतर नही है, क्योंकि क्रम से उनके पिता एंव माता की उत्पत्ति मृत स्वामी के शरीर से हुई है। इस कथन के संदर्भ एंव शब्दों के आधार पर कुल्लूक[668] आदि टीकाकारों ने मन्तव्य प्रकाशित किया है कि यहॉ जिस दौहित्र की चर्चा हुई है वह नियुक्त कन्या का पुत्र है। किन्तु मनु[669] स्पष्टतर कह चुके है, " जब समान जाति के पति से कन्या का पुत्र उत्पन्न होता है, चाहे वह कन्या नियुक्त हो या न हो, तो नाना मानो पौत्र वाला हो जाता है, उस पुत्र (कन्या के पुत्र) को नाना के लिए पिण्डदान करना चाहिए और नानी की सम्पत्ति लेना चाहिए। मिताक्षरा[670] ने अकृता शब्द को साधारण पुत्री के अर्थ मे लिया है। किन्तु मेधातिथि[671] एव कुल्लूक[672] ने कहा है कि कृता शब्द का अर्थ है नियुक्त कन्या या पुत्रिका जिसके विषय मे उसके पति से स्पष्ट समझौता हुआ है और अकृता का अर्थ है वह पुत्री जिसे समान रूप मे पुत्र के समान माना गया है) जिसके विषय मे कोई स्पष्ट समझौता नही हुआ है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल तक आते-आते दायभाग संबधित विचार में थोडा बहुत अतर आ गया था, स्मृतियो के टीकाकारों ने समय-2 पर विचारो मे परिवर्तन दिखाया है; जो कि परिवर्तित समय का परिणाम रहा होगा। परिवर्तित परिस्थितियो से टीकाकारों के विचार प्रभावित हो रहे थे। जिसका प्रतिबिम्ब तत्कालीन साहित्य में स्पष्ट

परिलक्षित होता है। जहाँ मनु ने ज्येष्ठ पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी माना है वही मेधातिथि कहते है कि ज्येष्ठ पुत्र के विशिष्ट अश से सबंधित बाते केवल प्राचीन काल मे ही प्रचलित थी, अर्थात पूर्वमध्यकाल मे प्रचलित नही थी। एक स्थल पर मनु[673] कहते हैं कि विभिन्न युगो मे विभिन्न धर्म होते है, मेधातिथि[674] उनके इस तर्क से सहमत नही होते है एव कहते है कि विभिन्न युगो मे विभिन्न धर्म नही होते, किसी देश मे धर्म के पालन मे कोई बाधा नही है।

एक अन्य स्थल पर मनु यह विधान करते है कि केवल समान जाति का पुत्र ही गोद लिया जा सकता है। किन्तु मेधातिथि स्पष्ट शब्दो मे कहते है "कि ब्राहमण क्षत्रिय बालक को गोद ले सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल तक परम्परागत रूढ़ियाँ कुछ कमजोर पड रही थी, संभवत इसी कारणवश दत्तक पुत्र का समान जातीय होना आवश्यक नही रह गया था।

(1) शातिपर्व 141/9-10,56/3

(2) गौतम धर्मसूत्र 10/7-8

(3) आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/5/10/13-16

(4) वसिष्ठ 19/1-2

(5) विष्णु 3/2-3

(6) नारद प्रकीर्णक 5-7 एव 33-34

(7) शांतिपर्व 77/33, 55/15

(8) मत्स्यपुराण 215/63

(9) मार्ण्कण्डेय पुराण 27/28 एंव 28/36

(10) उद्योगपर्व 132/16

(11) शांतिपर्व 69/79

(12) शुक्रनीतिसार 4/1/60

(13) नीतिप्रकाशिका 1/21-22

(14) बुद्धचरित 1/46

(15) शांतिपर्व 59/79

(16) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 1/4

(17) शातिपर्व 69/102

(18) मनुस्मृति 7/99

(19) नीतिसार 2/15

(20) नीतिसार 2/15 एंव शुक्रनीतिसार 1/157

(21) मेधातिथि मनु पर 7/43

(22) मिताक्षरा, याज्ञ0 पर 1/311

(23) शुक्रनीतिसार 4/3/56

(23A) कामसूत्र

(23B) मेधातिथि 7 1

(23C) मनुस्मृति 7 1

(24) मनुस्मृति 9/924

(25) गौतम सूत्र (सरस्वती विलास द्वारा उद्धृत पृ0 45)

(26) शांतिपर्व 69/64-65

(27) कौटिल्य 611 पृ0 257

(28) याज्ञवल्क्य 1/353

(29) मत्स्यपुराण 225/11

(30) अग्निपुराण 233/12

(31) कामन्दक 1/16 एव 4/1-2

(32) अपरार्क 588

(33) मनुस्मृति 7/3

(34) शुक्रनीतिसार 1/71

(35) शतपथ ब्राह्मण 11/6/24

(36) कौटिल्य 1/4

(37) रामायाण (2, अध्याय 67)

(38) शांतिपर्व 15/30 एव 67/16

(39) कामन्दक 2/40

(40) मत्स्यपुराण 225/9

(41) मानसोल्लास 2, 16, 1295

(42) मनुस्मृति 6/96

(43) मनुस्मृति 7/8

(44) शांतिपर्व 68/40

(45) गौतम धर्मसूत्र 11/32

(46) आपस्तम्ब 1/11/31/5

(47) मत्स्यपुराण 226/1

(48) शुक्रनीतिसार 1/71-72

(49) अग्निपुराण 226/17-20

(50) वायुपुराण 57/72

(51) भागवत पुराण 4/14/26-27

(52) मनुस्मृति 7/111-112

(53) शुक्रनीतिसार 1/70

(54) शातिपर्व 59/93-95

(55) तैत्रिरीय संहिता 213/1

(56) शतपथ ब्राह्मण 12/9/3/1-3

(57) शांतिपर्व 12/6 एव 9

(58) मनु स्मृति 7/27-एव 34

(59) याज्ञवल्क्य 1/356

(60) शुक्रनीतिसार 2/274-275

(61) तत्रैव 4/7/332-33

(62) यशस्तिलक- पृ0 431

(62A) मनुस्मृति 7 1

(62B) कुल्लूक मनु पर 7 1

(63) मनुस्मृति 7/144

(64) शांतिपर्व 68/1-4

(65) कालिदास, रघुवश 14/67

(66) राजनीतिप्रकाश पृ0 254-255

(67) मनुस्मृति 9/306

(68) याज्ञवल्क्यस्मृति 1/335

(69) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 1-35

(70) नारदप्रकीर्णक पृ0 33

(71) शुक्रनीतिसार 1/14

(72) अत्रिस्मृति श्लोक 28

(73) विष्णुधर्मोत्तर 3/323/25-26

(74) मनुस्मृति 7/87-89

(75) आपस्तम्बधर्म सूत्र 2/10/26/2-3

(76) विष्णुधर्मोत्तर पुराण 3/44-46

(77) मेधातिथि मनु पर 7/89

(78) कामन्दक 5/82-83

(79) गौतम 10/19-12; 18/31

(80) कौटिल्य 2/1

(81) अनुशासनपर्व 61/28-30

(82) शांतिपर्व 165/6-7

(83) विष्णुधर्मसूत्र 3/79-80

(84) मनुस्मृति 7/82 एव 34

(85) याज्ञवल्क्यस्मृति 1/315, 323 एंव 3/44

(86) मत्स्यपुराण 215/58

(87) अत्रिस्मृति 24

(88) शांतिपर्व 86/24

(89) मत्स्यपुराण 215/62

(90) अग्निपुराण 225/25

(91) राजनीतिप्रकाश द्वारा उद्वत पृ0 138

(92) सभापर्व 5/124

(93) मेधातिथि मनु पर 5/94

(94) पराशरमाधवीय भाग-1, पृ0 466

(95) मनुस्मृति 7/13

(96) मेधातिथि मनु पर 7/13

(97) मेधातिथि मनु पर 7/13

(98) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 1/10

(99) शुक्रनीतिसार 1/292-311

(99A) मेधातिथि मनु पर 8,399

(100) मनुस्मृतिसार 7/55

(101) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 1/7

(102) मत्स्यपुराण 2/5/2

(103) तत्रैव 215/3

(104) विष्णुधर्मात्तरपुराण 2/24/2-3

(104) शातिपर्व 106/11

(105) राजनीतिप्रकाश पृ0 174

(106) कौटिल्य अर्थशास्त्र 1/15

(107) कामन्दक 1/167-68

(108) मनुस्मृति 7/54

(109) मानसोल्लास 2/2/57

(110) रनाडे कृते राइज आव दमराठा पावर पृ0 125-126

(111) शुक्रनीतिसार 2/426-427

(112) नीतिवाक्यामृत पृ0 108

(113) मनुस्मृति 7/57-59

(114) याज्ञवल्क्य 1/312

(115) कामदक 13/23-24

(116) अग्निपुराण 241/16-18

(117) कौटिल्य 1/15

(118) कामदक 11/56

(119) अग्निपुराण 241/4

(120) पचतन्त्र पृ0 84

(121) मानसोल्लास 2/9/697

(122) कामदक 6/3

(123) अग्निपुराण 239/2

(124) मनुस्मृति 7/69

(125) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/321

(126) विष्णुधर्मसूत्र 3/4-5

(127) मनुस्मृति 7/69

(128) विष्णुधर्मसूत्र 3/5

(129) मनुस्मृति 8/22

(130) मत्स्यपुराण 217/1-5

(131) विष्णुधर्मोतरपुराण 2/26/1-5

(132) मानसोल्लास 2/3 श्लोक 151-153

(133) नीतिवाक्यामृत जनपद समुद्देश पृ0 19

(134) बृहत्संहिता

(135) बौधायनगृहयसूत्र 1/17

(136) कामसूत्र 5/6, 33-41

(137) ब्राईस्पत्य अर्थशास्त्र 3/83-117

(138) राजशेखर की काव्यमीमासा 17 वॉ अध्याय

(139) मनुस्मृति 7/114

(140) मनुस्मृति 7/115-117

(141) विष्णुधर्मसूत्र 3/7-14

(142) शांतिपर्व 87/3

(143) अग्निपुराण 223/1-4

(144) विष्णुधर्मोत्तर पुराण 2/61/1-6

(145) मानसोल्लास 5/2/159-162

(146) मनुस्मृति 7/120

(147) मनुस्मृति 7/119

(148) कूल्लूकभट्ट मनु पर 7/119

(149) मनुस्मृति 7/118-119

(150) मेधातिथि मनु पर 7/118-119

(151) शुक्रनीतिसार 1/211

(152) याज्ञवल्क्य 1/336, 338, 339

(153) मनुस्मृति 7/124

(154) मेधातिथि मनु पर 7/124

(155) मेधातिथि मनु पर 9/294

(156) कौटिल्य 1/19

(157) याज्ञवल्क्य 1/349-351

(158) मनुस्मृति 7/205

(159) मत्स्यपुराण 221/1-12

(160) विष्णुधर्मोत्तर पुराण 2/66

(161) राजनीतिप्रकाश 313-314

(162) मेधातिथि मनु पर 4/137

(163) रामायण 5/412-13

(164) मनुस्मृति 7/109

(165) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/346

(166) शुक्रनीतिसार 4/1/27

(167) नीतिवाक्यामृत पृ0 332

(168) विष्णुधर्मोत्तरपुराण 2/146

(169) मिताक्षरा, याज्ञ0 1/346

(170) कांमदक 18/1

(171) मनुस्मृति 9/294

(172) मेधातिथि मनु पर 9/295

(173) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9/295

(174) मनुस्मृति 7/77

(175) वायुपुराण 8/108

(176) मनुस्मृति 7/70

(177) शांतिपर्व 56/35, 86/4-5

(178) विष्णुधर्मसूत्र 3/6

(179) मत्स्यपुराण 217/6-7

(180) अग्निपुराण 222/4-5

(181) विष्णुधर्मोत्तरपुराण 2/26/69, 3/323/16-21

(182) शुक्रनीतिसार 4/6

(183) मानसोल्लास 2/5 पृ0 78

(184) मनुस्मृति 7/75

(185) सभापर्व 5/36

(186) अयोध्यापर्व 100/53

(187) मत्स्यपुराण 217/8

(188) कामसूत्र 4/60

(189) मानसोल्लास 3/5, श्लोक 550-555

(190) शुक्रनीतिसार 4/612-13

(191) विष्णुधर्मोत्तर पुराण 2/26/20-28

(192) नीतिवाक्यामृत दुर्गसमुद्देश पृ0 199

(193) कौटिल्य अर्थशास्त्र 211

(194) तत्रैव 218

(195) मनुस्मृति 7/65

(196) याज्ञवल्क्य

(197) कामसूत्र

(198) शुक्रनीतिसार

(199) राजतरंगिणी

(200) गौतम 10/24

(201) मनुस्मृति 7/130

(202) विष्णुधर्मोत्तरपुराण 3/22-23

(203) कौटिल्य 5/2

(204) मनुस्मृति 10/118

(205) शांतिपर्व, अध्याय 87

(206) शुक्रनीतिसार 4/2/9-10

(207) मनुस्मृति 8/139

(208) मनुस्मृति 7/137-138

(209) गौतम धर्मसूत्र 10/31/34

(210) विष्णुधर्मसूत्र 3/32

(211) मनुस्मृति 7/130

(212) गौतमधर्मसूत्र 10/24

(213) विष्णुधर्मसूत्र 3/22

(214) मानसोल्लास 2/3/163 पृ0 44

(215) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 2/1 पृ0 47

(216) मनुस्मृति 7-13

(217) गौतम 10/25

(218) विष्णुधर्मसूत्र 3/24

(219) मानसोल्लास, 2/3, 165 पृ0 46

(220) मनुस्मृति 7/131-32

(221) गौतम धर्मसूत्र 10/27

(222) विष्णुधर्मसूत्र 3/25

(223) विष्णुधर्मोत्तरपुराण 2/61-3-63

(224) मानसोल्लासास 2/3, 165 पृ0 46

(225) गौतम धर्मसूत्र 10/28

(226) शातिपर्व 67/70/10

(227) बौधायनधर्मसूत्र 1/10/1

(228) नारद स्मृति 18, 48

(229) कौटिल्य 1/13

(230) कात्यायन श्लोक 16-17

(231) राजनीतिप्रकाश पृ0 271

(232) मनुस्मृति 8/39

(233) मेधातिथि मनु पर 8/39

(234) मेधातिथि मनु पर 8/400

(235) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 9/2

(236) कामन्दक 18/4

(237) अग्निपुराण 242/1-2

(238) मानसोल्लास 2/6, श्लोक 556 पृ0 76

(239) कौटिल्य 9/2

(240) कामन्दक 18/24

(241) शांतिपर्व 59/41/42

(242) शुक्रनीतिसार 4/7/379-390

(243) कौटिल्य अर्थशास्त्र 9/1-7 एव 10/1-6

(244) कौटिल्य 10/6

(245) भीष्मपर्व 21/10, शांतिपर्व 95/17-18

(246) मनुस्मृति 7/90-93

(247) मनुस्मृति 7/32

(248) मेधातिथि मनु पर 7/32

(249) मनुस्मृति 7/208

(250) मनुस्मृति 7/206

(251) याज्ञवल्क्य 1/352

(252) कौटिल्य अर्थशास्त्र 7/9

(253) कौटिल्य 6/2 एव 7

(254) मनुस्मृति 7/154-211

(255) आश्रमवासिक पर्व 6-7

(256) याज्ञवल्क्यस्मृति 1/345-348

(257) कामसूत्र 8-9

(258) अग्निपुराण 233-240

(259) विष्णुधर्मोत्तरपुराण 2/145-150

(260) नीतिवाक्यामृत पृ0 317-343

(261) राजनीतिप्रकाश पृ0 31-330

(262) नीतिमयूख पृ0 44-46

(263) कामदेव 8/6

(264) नीतिवाक्यामृत पृ0 319

(265) मनुस्मृति 7/177 एव 180

(266) मेधातिथि मनु पर 7/177

(267) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 1/19

(268) मनुस्मृति 8/1-3

(269) शुक्रनीतिसार 4/5-45

(270) मनुस्मृति 8/1

(271) वसिष्ठधर्मसूत्र 16/2

(272) याज्ञवल्क्यस्मृति 1/327 एव 2/1

(273) विष्णुधर्म सूत्र 3/72

(274) नारदस्मृति 1/2

(275) मानसोल्लास 2/20 श्लोक 1243

(276) मिताक्षरा, याज्ञ0 2/1

(277) मेधातिथि, मनु पर 8/1

(278) गौतम धर्मसूत्र 8/1

(279) मनुस्मृति 1/81-82

(280) शातिपर्व 231/23-24

(281) उद्योगपर्व 37/30

(282) आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/7/16/17, 1/6/20/11 एव 16

(283) शातिपर्व 69/28

(284) मनुस्मृति 8/1

(285) वसिष्ठधर्मसूत्र 16/1

(286) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/1

(287) विष्णुधर्मसूत्र 3/72

(288) नारदस्मृति 1/1

(289) शुक्रनीतिसार 4/5/5

(290) गौतम 10/48

(291) वसिष्ठ 16/8

(292) शखलिखित, चण्डेश्वर का विवाद रत्नाकर पृ0 599 मे उद्धत

(293) गौतम 10/19

(294) व्यवहारमयूख पृ0 283

(295) कुल्लूकभट्ट मनु पर 8/1

(296) मनुस्मृति 8/8

(297) मेधातिथि मनु पर 8/8

(298) कुल्लूकभट्ट मनु पर 8/8

(299) मनुस्मृति 8/1-2

(300) याज्ञवल्क्य 2/1

(301) जीमूतवाहन, व्यवहारमातृका पृ0 278

(302) याज्ञवल्क्य 2/2

(303) अपरार्क द्वारा पृ0 599

(304) स्मृतिचन्द्रिका द्वारा 2, पृ0 25-26

(305) पराशरमाधवीय द्वारा 3, पृ0 41

(306) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 26

(307) गौतम 12/40-42

(308) मनुस्मृति 8/314-316

(309) राजतरगिणी 6/14-41, 6/42-69, 4 (42-108)

(310) मनुस्मृति 8/9

(311) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/3

(312) कात्यायन 67

(313) शुक्रनीतिसार 4/5/14

(314) मनुस्मृति 8/20

(315) सरस्वती विलास में उद्वत पृ0 5

(316) मनुस्मृति 8/11

(317) याज्ञवल्क्य 2/2

(318) विष्णुधर्मसूत्र 3/74

(319) कात्यायन 57

(320) नारद 3/4-5

(321) शुक्रनीतिसार 4-5/16-17

(322) मनुस्मृति 8/1-14

(323) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 21

(324) राजनीतिरत्नाकर पृ0 24-25

(325) याज्ञवल्क्य 1/30

(326) नारदस्मृति 1/7

(327) मेधातिथि मनु पर 8/2

(328) मिताक्षरा

(329) व्यवहारप्रकाश पृ0 29

(330) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 18

(331) अपरार्क

(332) कुल्लूकभट्ट मनु पर 7/119

(333) व्यवहारमातृका पृ0 280

(334) पराशरमाधवीय 3 पृ0 352

(335) दामोदरपुर पत्र इपि0इण्डि 17,पृ0 345, 348

(336) इपि0 इण्डि 17 पृ0 348

(337) मनुस्मृति 7/119

(338) कुल्लूकभट्ट मनु पर 7/119

(339) दामोदरपुर पत्रक इपि0 इण्डि 17 पृ0 345, 348

(340) इपि0इण्डि 15 पृ0 130

(341) व्यवहारमातृका जीमूतवाहन पृ0 280

(342) कात्यायन 225 एव 682

(343) व्यवहारप्रकाश पृ0 30

(344) मिताक्षरा, याज्ञ0 2/27

(345) मनुस्मृति 8/200

(346) याज्ञवल्क्य 2/27

(347) नारदस्मृति 4/84

(348) मिताक्षरा, याज्ञ 2/27

(349) अपरार्क पृ0 635, स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 71

(350) नारद 4/77

(351) बृहस्पति (व्यवहारनिर्णय पृ0 126, व्यवहारप्रकाश पृ0 153

(352) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/27, मिताक्षरा

(353) मनुस्मृति 8/147-148

(354) नारद 4/79-80

(355) गौतम 12/134

(356) शख, विवादरत्नाकर पृ0 208

(357) नारदस्मृति 4/86-87

(358) नारदस्मृति 4/89

(359) नारद (अपरार्क पृ0 636)

(360) बृहस्पति स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 72

(361) अपरार्क पृ0 631-632

(362) कुल्लूकभट्ट मनु पर 8/140-142

(363) मनुस्मृति 8/149

(364) नारद 4/81

(365) वसिष्ठ 16/18

(366) याज्ञवल्क्य 2/26

(367) बृहस्पति, स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 74

(368) कात्यायन पृ0 330

(369) मनुस्मृति 8/147

(370) याज्ञवल्क्य 2/24

(371) मनुस्मृति 8/145

(372) पाणिनी 5/2/91

(373) गौतम 131/1

(374) कौटिल्य 3/11

(375) नारद 4/147

(376) मनुस्मृति 8/74

(377) सभापर्व 68/84

(378) नारदस्मृति 4/148

(379) विष्णुधर्मसूत्र 8/13

(380) कात्यायन पृ0 346

(381) व्यवहारमात्रृका पृ0 317

(382) व्यवहारप्रकाश पृ0 16

(383) मेधातिथि मनु पर 8/74

(384) मनुस्मृति 8/76

(385) विष्णुधर्मसूत्र 8/2

(386) गौतम 13/2

(387) कौटिल्य 3/11

(388) मनुस्मृति 8/62-63

(389) वसिष्ठ 16/28

(390) शखलिखित, सरस्वतीविलास पृ0 138 मे उद्वत

(391) याज्ञवल्क्य 2/68

(392) नारदस्मृति 4/153-154

(393) विष्णुधर्मसूत्र 8/8

(394) कात्यायन पृ0 347

(395) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 76

(396) व्यवहारप्रकाश पृ0 76

(397) कौटिल्य 3/11

(398) मनुस्मृति 8/68

(399) कात्यायन पृ0 351

(400) वसिष्ठ 16/30

(401) कौटिल्य 3/11

(402) मनुस्मृति 8/64-67

(403) उद्योगपर्व 35/44-47

(404) याज्ञवल्क्य 2/70-71

(405) नारद 4/177-178

(406) विष्णुधर्मसूत्र 8/1-4

(407) बृहस्पति 29-30

(408) कात्यायन 360-364

(409) मनुस्मृति 8/118

(410) कौटिल्य 3/11

(411) मनुस्मृति 8/65

(412) विष्णुधर्मसूत्र 8/1

(413) गौतम 13/9

(414) कौटिल्य 3/11

(415) मनुस्मृति 8/72

(416) याज्ञवल्क्य 2/72

(417) नारदस्मृति 4/188-189

(418) विष्णुधर्मसूत्र 3/6

(419) उशना (स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 79)

(420) कात्यायन 365-366

(421) मनुस्मृति 8/70, 77

(422) कात्यायन 367

(423) मेधातिथि मनु पर 8/68

(424) मनुस्मृति मनु पर 8/113

(425) मिताक्षरा, याज्ञ0 2/73

(426) मनुस्मृति 8/107

(427) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/6

(428) कात्यायन पृ0 405

(429) मनुस्मृति 8/118

(430) बृहस्पति 8/2

(431) याज्ञवल्क्य 2/81

(432) कात्यायन पृ0 407

(433) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 2/81

(434) मनुस्मृति 8/380

(435) मनुस्मृति 2/108

(436) कात्यायन पृ0 410

(437) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 94

(438) ऋग्वेद 3/53/22

(439) अर्थववेद 2/12-8

(440) छान्दोग्य उपनिषद 6/16/1

(441) आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/11/29/6

(442) तत्रैव 2/5/11/63

(443) मनुस्मृति 8/114

(444) नारदस्मृति 4/251

(445) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/95

(446) विष्णुधर्म सूत्र 9/14

(447) नारदस्मृति 4/252

(448) अपरार्क द्वारा उद्धत पृ0 628 एव पृ0 694

(449) बृहस्पति 4/343

(450) बृहस्पति 9/337

(451) व्यवहारमयूरख पृ0 356

(452) दिव्यतत्व पृ0 574

(453) मेधातिथि मनु पर 8/116

(454) याज्ञवल्क्य 2/22

(455) नारदस्मृति 2/29, 4/239

(456) बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश पृ0 169)

(457) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 51

(458) कात्यायन 217

(459) कात्यायन 218-219

(460) मिताक्षरा, याज्ञ0 पर 2/22

(461) व्यवहारमातृका पृ0 315

(462) नारदस्मृति 2/30, 4/241

(463) कात्यायन पृ0 230

(464) मिताक्षरा, विज्ञानेश्वर याज्ञ 2/22

(465) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 51

(466) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/8

(467) व्यवहारप्रकाश पृ0 86

(468) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 120

(469) पराशरमाधवीय पृ0 199

(470) शुक्रनीतिसार 4/5/271

(471) व्यवहारनिर्णय पृ0 138

(472) व्यवहारप्रकाश पृ0 86

(473) मनुस्मृति 9/233

(474) व्यवहारप्रकाश (1090) दीपकलिका (याज्ञ0 2/606)

(475) इपि0 इण्डि II पृ0 253

(476) मेधातिथि मनु पर 9/233

(477) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9/233

(478) कात्यायन पृ0 495

(479) नारदस्मृति 2/55

(480) मिताक्षरा याज्ञ0 पर 2/306

(481) मनुस्मृति 8/280

(482) नारद (पारूष्य, श्लोक 25)

(483) याज्ञवल्क्य 2/215

(484) विष्णुधर्मसूत्र पृ0 519

(485) गौतम 928

(486) शातिपर्व 15/5-6

(487) मनुस्मृति 8/318

(488) वसिष्ठ धर्मसूत्र 19-45

(489) मेधातिथि मनु पर 8/318

(490) मनुस्मृति 8/129

(491) याज्ञवल्क्यस्मृति 1/367

(492) गौतम धर्मसूत्र 12/51

(493) वसिष्ठ धर्मसूत्र 19/9

(494) मनुस्मृति 7/16, 8/126

(495) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/368

(496) वृद्धहारीत 7/195-196

(497) बृहत्पराशर पृ0 284

(498) कौटिल्य 4/10

(499) दण्डविवेक पृ0 36

(500) मनुस्मृति 8/337-338

(501) तत्रैव 8/320

(502) तत्रैव 8/285

(503) मनुस्मृति 8/138

(504) विष्णुधर्मसूत्र 9/10

(505) याज्ञवल्क्य 1/366

(506) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य पर 1/366

(507) नारद स्मृति (साहस 7-8)

(508) गौतम धर्मसूत्र 12/15/6

(509) मनुस्मृति 8/338-339

(510) कात्यायन पृ0 485

(511) व्यासस्मृति

(512) गौतमधर्मसूत्र 12/1, 8-12

(513) मनुस्मृति 8/267-268

(514) नारदस्मृति, पारूष्य 15-16

(515) याज्ञवल्क्य 2/206-207

(516) गौतम 12/13

(517) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/286

(518) गौतमधर्मसूत्र 12/43

(519) कौटिल्य 4/8

(520) मनुस्मृति 8/125, 380, 381

(521) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/270

(522) नारदस्मृति, साहस 9-10

(523) विष्णुधर्मसूत्र 4/1-8

(524) वृद्धहारीत 5/191

(525) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 317

(526) व्यवहारप्रकाश पृ0 393
(527) मनुस्मृति 9/271
(528) मनुस्मृति 8/366, याज्ञवल्क्य स्मृति 2/286-288
(529) मनुस्मृति 8/287
(530) नारद, पारूष्य 24
(531) विष्णुधर्मसूत्र 5/24
(532) मनुस्मृति 9/276-277
(533) नारदस्मृति परिशिष्ट 32
(534) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/274
(535) गौतमधर्मसूत्र 12/44
(536) बौधायन धर्मसूत्र 3/10-11
(537) नारद (साहस 10)
(538) मनुस्मृति 9/237
(539) मत्स्यपुराण 227/16
(540) विष्णुधर्मसूत्र 5/3-7
(541) दण्डविवेक पृ0 67
(542) कौटिल्य, अर्थशास्त्र 4/4
(543) मनुस्मृति 9/290
(544) मत्स्यपुराण 227/183
(545) मेधातिथि मनु पर 9/290
(546) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9/290
(547) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/1/1/20, 2/4/8/13
(548) याज्ञवल्क्य 1/61
(549) नारदस्मृति 13/1
(550) मनुस्मृति 8/5
(551) मनुस्मृति 8/218-219
(552) मेधातिथि मनु पर 8/219
(553) मेधातिथि मनु पर 8/219-220

(554) नारद स्मृति 13/1

(555) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/192

(556) नारदस्मृति 13/2

(557) नारदस्मृति 13/4-5 एव 7

(558) मेधातिथि मनु पर 8/220

(559) तैत्तिरीय संहिता 3/1/9/4

(560) नारदस्मृति (दायभाग पद्य) 1

(561) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 255

(562) व्यवहारमयूख पृ0 93

(563) निघण्टु (स्मृतिचन्द्रिका प्र0 255, व्यवहारमयूरख पृ0 93)

(564) मनुस्मृति

(565) याज्ञवल्क्य 2/114

(566) व्यवहारमयूख पृ0 93

(567) मनुस्मृति 11/193

(568) विष्णुधर्मसूत्र 54/28

(569) देवल (दायभाग 1/18 पृ0 13)

(570) दीपकलिका, याज्ञवल्क्य 2/114

(571) विवादरत्नाकर 456

(572) पराशरमाधवीय 3 पृ0 480

(573) मनुस्मृति 9/104

(574) नारद दायभाग 2

(575) याज्ञवल्क्य 21/121

(576) बृहस्पति 2/59

(577) कात्यायन पृ0 839

(578) विष्णुधर्मसूत्र 17/2

(579) मनुस्मृति 8/416

(580) नारद (अभ्युपेत्याशुश्रूषा पृ0 41)

(581) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 2/120

(582) मनुस्मृति 8/416
(583) देवल, दायभाग 1/18 पृ0 13
(584) नारद दायभाग 2
(585) मनुस्मृति 9/104
(586) विश्वरूप, याज्ञवल्क्य पर 2/124
(587) मेधातिथि, मनु पर 9/156
(588) मनुस्मृति 9/204
(589) याज्ञवल्क्य स्मृति 1/120
(590) मनुस्मृति 8/416
(591) मेधातिथि मनु पर 8/416
(592) मनुस्मृति 9/208
(593) विष्णुधर्मसूत्र 18/42
(594) मनुस्मृति 9/206
(595) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/118-9
(596) मनुस्मृति 9/206
(597) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/1/9
(598) कात्यायन पृ0 868
(599) मनुस्मृति 9/2/9
(600) विष्णुधर्मसूत्र 18/44
(601) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य 2/118-119
(602) अपरार्क पृ0 725
(603) व्यवहारप्रकाश पृ0 609
(604) स्मृतिचन्द्रिका 2 पृ0 277
(605) कुल्लूकभट्ट मनु पर 2/118-119
(606) गौतम 28/33-37
(607) बौधायन धर्मसूत्र 2/2/10
(608) कौटिल्य 3/6
(609) वसिष्ठधर्मसूत्र 17/18-50

(610) मनुस्मृति 9/149-155

(611) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/125

(612) विष्णुधर्मसूत्र 16/1-33

(613) नारदस्मृति दायभाग 14

(614) शख (व्यवहाररत्नाकर पृ0 531)

(615) मनुस्मृति 9/153

(616) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/125

(617) मिताक्षरा याज्ञवल्क्य 2/125

(618) कौटिल्य 3/6

(619) मेधातिथि मनु पर 9/155

(620) मनुस्मृति 2/115

(621) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/115

(622) याज्ञवल्क्यस्मृति पर 2/148

(623) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य पर 2/51

(624) विश्वरूप, याज्ञवल्क्य पर 2/119

(625) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/123

(626) नारदस्मृति, दायभाग 12

(627) विष्णुधर्मसूत्र 18/34

(628) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य पर 2/135

(629) मनुस्मृति 9/18

(630) काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग द्वितीय पृ0 863

(631) मेधातिथि मनु पर 9/18

(632) गौतमधर्म सूत्र 28/41

(633) आपस्तम्ब 2/6/14/1

(634) वसिष्ठधर्मसूत्र 17/52/53

(635) विष्णुधर्मसूत्र 15/32-39

(636) बौधायन धर्मसूत्र 2/2/43-46

(637) कौटिल्य अर्थशास्त्र 3/5

(638) जैमिनी 6/1/41-42

(639) मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य पर 2/135

(640) मनुस्मृति 9/201

(641) नारदस्मृति दायभाग 21-22

(642) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/140

(643) मिताक्षरा, याज्ञ 2/140

(644) मनुस्मृति 9/201

(645) याज्ञवल्क्य स्मृति 2/140-141

(646) मिताक्षरा, याज्ञवल्क पर 2/140

(647) आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/6/14/6

(648) मनुस्मृति 9/105-107

(649) नारद दायभाग 5

(650) मनुस्मृति 9/105-107

(651) मनुस्मृति 9/125

(652) व्यवहाररत्नाकर पृ0 477

(653) व्यवहारचिंतामणि पृ0 128

(654) मेधातिथि मनु पर 9/112

(655) मेधातिथि मनु पर 9/181

(656) बौधायनधर्मसूत्र 2/224

(657) मनुस्मृति 9/168

(658) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/130

(659) विष्णुधर्मसूत्र 15/18-19

(660) नारद (दायभाग 46)

(661) मनुस्मृति 9/160

(662) मेधातिथि मनु पर 9/168

(663) कूल्लूकभट्ट पर 9/168

(664) व्यवहारमयूख पृ0 520

(665) याज्ञवल्क्यस्मृति 2/134

(666) गोविन्दराज (दायभाग 9/23-24 पृ0 181)

(667) मनुस्मृति 9/131-133

(668) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9/131

(669) मनुस्मृति 9/136

(670) मिताक्षरा याज्ञवल्क्य पर 2/134

(671) मेधातिथि मनु पर 9/136

(672) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9/136

(673) मनुस्मृति 1/85

(674) मेधातिथि मनुपर 1/85

उपसंहार

पूर्वमध्यकाल प्राचीन काल युगीन प्रवृत्तियो का मध्यकाल युगीन प्रवृत्तियो के परिवर्तन के सक्रमण का युग था, जिसमे प्राचीन एव मध्यकाल की मिश्रित प्रवृत्तियो का चित्र मिलता है। यह ऐसा काल था जब राजनैतिक रूप से बडे-बडे शासको का अभाव था, शक्ति एव सत्ता का केन्द्रीकरण नही था, छोटे-छोटे सामन्तो के मध्य अपने अस्तित्व के लिए लगातार सघर्ष होते रहते थे, जिससे निरन्तर युद्ध एव अविश्वास का वातावरण बना रहता था, केन्द्रिय शासन बद से बदतर स्थिति की ओर पहुँचता जा रहा था, इन परिस्थितियो मे जब सब तरफ अव्यवस्था की स्थिति थी, कानून व्यवस्था मे स्थिरता आ गई थी।

इस वातावरण में समाज, अर्थ एव धर्म के क्षेत्रो मे कोई नवीन, विकसित तथ्यो का समावेश नही हो रहा था, उन्ही परम्परागत प्रवृत्तियों में जडता एंव रूढिवादिता बढती जा रही थी, यह पतन इस काल के साहित्य मे साफ दृष्टिगत होता है। इस समय ज्यादातर पुराने साहित्य पर टीकाओ का प्रणयन हो रहा था।

धार्मिक क्षेत्र में बौद्ध एव जैन धर्म अपने अवनति के चरम शिखर पर पहुँच गये थे, हिन्दू धर्म मे नवीन देवी देवताओ ने जन्म लिया था, समाज की अनेक वर्जनाओ को तोडते हुए तांत्रिक धर्म ने अपना स्थान सुव्यवस्थित कर लिया था।

राजनैतिक स्थिति अस्थिर होने से अर्थव्यवस्था भी प्रभावित हो रही थी। सिक्को का अभाव इस बात का स्पष्ट संकेत देता है कि इस काल की अर्थव्यवस्था मे भी स्थिरता आ गई थी एंव आयात-निर्यात या लेन-देन की मात्रा अन्तर्देशीय एंव विदेशी दोनो स्तरो पर कम हो गई थी।

इस काल की सामाजिक व्यवस्था का गहराई से विश्लेषण करने पर दो विचारधाराये स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। एक विचार धारा जाति व्यवस्था मे बढती हुई कठोरता, छूतपात, खान-पान एव शादी के सबंध मे रूढिवादिता का समर्थन करती है। इसका प्रमाण हमें 11 वी शबाब्दी में अलबरूनी के विवरण से प्राप्त होता है जिसमें वह बताता है

कि हिन्दू समाज मे जाति व्यवस्था ने गहरे पर्वत की तरह जडे जमा ली थी। विभिन्न जातियो ने सकरे घेरे बना लिये थे और अलगाववाद की प्रवृत्ति ने ऐसा वातावरण बना दिया था कि एक जाति वर्ग के लोग दूसरी जाति वर्ग के लोगो को मूर्ख समझते थे।[1] 8 वी शती के कुमारिल के तन्त्रवार्तिक से पता चलता है कि लोग सामान्य तौर पर अपवित्र होने के भय के बिना दोस्तो एव रिश्तेदारो से भोजन इत्यादि ले लेते थे, किन्तु अब पवित्रता एव छूतपात की विचारधारा के कारण साथ में भोजन करने की प्रथा लगभग समाप्त हो गई थी।[2]

इस विचारधारा के ठीक विपरीत एक अन्य विचारधारा भी इस काल मे दिखाई पडती है जो जाति व्यवस्था मे कुछ उदारता की तरफ संकेत करती है। 11वी शती के एक जैन अध्यापक अमितगति अपनी धर्मपरीक्षा मे कहते है कि यह अपना व्यक्तिगत व्यवहार है जिससे जाति निश्चित होती है।[3] 8वी शती का गुर्जर प्रतिहार अभिलेख कलियुग के प्रभाव के कारण वर्णाश्रम धर्म को व्यवस्थान्मूलित बताता है।[4] क्षेमेन्द्र भी इस युग के ढीले पडते जाति के बधन की आलोचना करते हुए कहते है कि चातुर्वण्य व्यवस्था का क्रम बहुत अव्यवस्थित हो गया था जो गिरावट का खतरनाक चिन्ह था, जिसमें कलियुग का समाज गिरने लगा था।[5]

इसी प्रकार जाति व्यवस्था के नियमो मे शिथिलता मेधातिथि के विचार से प्रकट होती है। मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि अनुलोम एंव प्रतिलोम विवाह पर अपने परिवर्तित विचार प्रस्तुत करते है। मेधातिथि व्यवस्था करते हैं कि यद्यपि अनुलोमो मे भी वर्ण संकरता पाई जाती है, किन्तु वे अपनी माता की जाति के विशेषाधिकारों को प्राप्त करते है जबकि प्राचीनकाल मे मनु ने विधान किया था कि सन्तान माता एव पिता दोनों से निम्न जाति के अधिकार प्राप्त करती थी, यह वर्णसकरता को रोकने के लिए कठोर नियम बनाया गया था जबकि मेधातिथि का विचार तत्कालीन समाज मे जाति व्यवस्था मे आ रहे ढीलेपन को प्रदर्शित करता है।[6]

मेधातिथि के जात्युत्कर्ष एंव अपकर्ष सबंधी विचारो के विश्लेषण से भी पता चलता है कि तत्कालीन समाज मे वर्ण सकरता के प्रति भी कठोरता मे कमी आ गई थी। प्राचीन काल में मनु[7] के अनुसार जात्युत्कर्ष सातवीं पीढी मे सभव था जबकि मेधातिथि[8] इसके लिए पाच

पीढियॉ ही पर्याप्त बताते है। ठीक इसी प्रकार जाति अपकर्ष के लिए भी मेधातिथि पाच पीढियॉ ही पर्याप्त बताते है।

इसँ प्रकार स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल के जाति व्यवस्था को यद्यपि कुछ साहित्यिक साक्ष्यों मे कठोर होते हुए बताया गया है फिर भी गहन विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि इस काल मे जाति व्यवस्था मे लचीलापन आ रहा था, जिसके पीछे सम्भवत तत्कालीन परिस्थितियॉ काम कर रही होगी।

इस काल के ग्रन्थो एव पुराणो से ज्ञात है कि ब्राह्मणो को पारम्परिक रूप से सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एव कानूनी विशेषाधिकार प्राप्त थे। आर्थिक विशेषाधिकारो में करारोपण से मुक्ति, गढे हुए धन का पूरा हिस्सा एंव कुछ विशेष उपहारों की प्राप्ति इत्यादि थे। गुजरात से प्राप्त 1230 ई0 का सोमसिह नामक राजा के अभिलेख से पता चलता है कि ब्राह्मणों को करों से मुक्त रखा जाता था। किन्तु अल्तेकर महोदय,[9] इस विचार पर शंका प्रकट करते है क्योकि यह राजा की प्रशंसा के सदर्भ में आया है। किन्तु इस तथ्यके अन्य भी प्रमाण मिलते हैं कि श्रोत्रिय ब्राह्मण करों से मुक्त थे। अलबरूनी[10] एव सोमेश्वर[11] के उल्लेखो से भी ब्राह्मणों के कर मुक्ति के अधिकार का पता चलता है। इस काल मे भी सभवत. प्राचीन काल से चले आ रहे ब्राह्मणों के विशेषाधिकार पूर्ववत बने रहे। अलबरूनी के उद्वरणों से ब्राह्मणो को प्राप्त अन्य कानूनी अधिकारो के बारे मे भी सकेत मिलता है। जैसे यदि ब्राह्मण किसी व्यक्ति की हत्या करे तो उसे केवल उपवास रखना, प्रार्थना करनी तथा दण्ड स्वरूप कुछ धन देना पडता था।[12] तथा कुछ विशेष अपराधो के लिए उन्हे कमतर दण्ड मिलता था, किन्तु उनसे उच्च नैतिक स्तर की अपेक्षा की जाती थी इसलिए चोरी के लिए कठोर दण्ड दिया जाता था।[13]

ब्राह्मणो की सुरक्षा के लिए अनेक नियम बने हुए थे।[14] एक ब्राह्मण की हत्या करना पाप माना जाता था और इसे बहुत घृणित समझा जाता था।[15] किन्तु 11 वीं शती में कुल्लूक भट्ट के उद्वरणो से पता चलता है कि ब्राह्मणों के इस सुरक्षा संबंधी विशेषाधिकार में कमी हो गई थी। अभी तक ब्राह्मणों को प्राणदण्ड से मुक्ति प्राप्त थी, किसी भी अवस्था मे ब्राह्मण का वध जघन्य अपराध था, किन्तु कुल्लूकभट्ट[16] ने व्यवस्था की कि यदि भागकर भी अपने प्राण न बचाये जा सकें तो आक्रमणकारी गुरू

या ब्राह्मण या किसी भी अन्य आततायी को मारा जा सकता है। जबकि 9वी शती मे मेधातिथि इसका विरोध करते दिखाई पडते है। इस प्रकार सर्वशक्तिसम्पन्न ब्राह्मण को पूर्वमध्यकाल मे आकर यह प्रथम झटका लगा जब किसी भी परिस्थिति मे ब्राह्मण को मारना जघन्य पाप नही बताया था। जबकि प्राचीन काल मे आततायी ब्राहमण का वध भी घृणित था। उत्तर भारत मे राज्य करने वाले मुख्य राजपूत गुहिल, गुर्जर, प्रतिहार, चम्पा, चहमान, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चदोल, श्परमार गडवाल इत्यादि थे जो स्वय को राजपूत कहते थे। अभिलेखो मे इन्होने अपनी उत्पत्ति माउण्ड आबू पर्वत पर वशिष्ठ द्वारा किये गये यज्ञ से बतायी है जो कि अग्निकुल सिद्धान्त कहलाता है। स्मिथ[17] का मानना है कि हूण गुर्जर जैसी विदेशी जातियो के देसी सम्मिलन से इन चारो की उत्पत्ति हुई जो कि मुख्य रूप से राजपूत माने जाते है - परमार, चालुक्य, चाहमान, प्रतिहार । डा0 घोषाल[18], स्मिथ के इस मत से सहमत नही हैं। कल्हण अपनी राजतरंगिणी[19] में 36 मूल राजपूत जातियो का उल्लेख करता है। इस काल में सर्वप्रथम राजपूतो को क्षत्रिय वर्ग मे सम्मिलित माना गया है।

पूर्व मध्यकाल की यह एक प्रमुख विशेषता है जब किसी विदेशी जाति के सम्मिश्रण से उत्पन्न जाति को पारम्परिक वर्णक्रम में स्थान दिया गया। इस काल के साहित्य से ज्ञात होता है कि क्षत्रियों को राज्य की रक्षा का उत्तरदायित्व वहन करने के कारण कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त थे। अलबरूनी बताता है कि चोरी करने का अपराधी ब्राह्मण अंधा किया जा सकता था। जबकि एक क्षत्रिय को दांये हाथ या बांये पैर मे चोट की जाती थी, इसके साथ ही उन्हे कितने भी घृणित अपराध के लिए मृत्युदण्ड नही दिया जा सकता था।[20]

पूर्वमध्यकाल में भूमिअनुदानो की बढती हुई संख्या के कारण एक प्रतिष्ठित भूमिधारी वर्ग उपस्थित हो गया था, व्यापार एंव वाणिज्य मे गिरावट के कारण वैश्यों को अपने वर्ण कर्म के साथ जीविकोपार्जन के लिए अन्य वर्णो के कर्म भी अपनाने पडे। इस काल के साहित्य में वैश्यो की स्थिति मे गिरावट आने का तथा उनके शूद्रो की[21] स्थिति तक पहुचने का एक अस्पष्ट सा उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में 'विष्णु पुराण'[22] शूद्रों को भाग्यशाली मानते हुए कहता है कि वैश्य कृषि-व्यापार का त्याग करके मामूली कारीगरो की तरह शूद्रो के धंधे, दासता और कारीगरी के

काम शुरू करके उन्ही को व्यवसाय के रूप मे अपना लेगे (कारूकर्मोपजीविन)[23]। इस काल में वैश्यो के पतन का उल्लेख स्कन्द पुराण[24] मे भी मिलता है कि इस काल मे वैश्य वाणिज्य-व्यापार छोडकर तैलिक या चावल कूटने वाले (तदुलकारिणी) बन जायेगे और उनमे से बहुत से लोग राजपूत सरदारो के आश्रित हो जायेगे। क्षेमेन्द्र के 11 वी सदी के दशावतारचरित[25] मे उपलब्ध पतन के युग के विवरण को ध्यान में रखकर विश्लेषण करे तो वैश्यों के शूद्रो की स्थिति प्राप्त कर लेने का अर्थ यह लगाया जा सकता है कि आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तनों के क्रम[26] मे शूद्र दास और सेवक मुख्यत आश्रित किसान (पट्टेदार, बटाईदार और खेतिहर मजदूर) बन गये थे।[27]

वैश्यों एंव शूद्रों के मध्य भेद तो मनुस्मृति[28] एव बौधायन धर्मसूत्र[29] के काल से चला आ रहा है। डा0 अल्तेकर एंव घुर्ये भी वैश्यों की शूद्रो के स्तर तक की निम्न स्थिति से सहमत है। मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि[30] वैश्यों के लिए निषिद्ध वस्तुओ का व्यापार करने की अनुमति देते हैं। इससे भी स्पष्ट होता है कि पूर्वमध्य काल तक आते-आते वैश्यो ने अपने परम्परागत व्यापार एंव वाणिज्य के कार्य के साथ-साथ निम्न स्तर के कुछ शिल्पो एव कारीगरी के पेशों को अपना लिया था। किन्तु अलबरूनी[31] के इस मत से कभी सहमत नहीं हुआ जा सकता है कि वैश्यो की स्थिति शूद्रो के स्तर तक गिर गई थी और ये दोनो एक कस्बे मे रहने लगे थे एव आपस मे खान-पान एव विवाह का सबंध स्थापित करने लगे थे। वस्तुत. निम्न स्तर के पेशों को अपनाने के कारण शूद्रों के साथ कुछ सबंध अवश्य स्थापित हो गये होगे, किन्तु खान पान में छूतपात की बात सामान्य थी एंव अन्तर्जातीय विवाह भी आम नही थे।

वैश्यों के आपदधर्म के सबध में मेधातिथि[32] ने विधान किया है कि वह शूद्रों की तरह पैर प्रक्षालन करे जूठा खाये तथा अन्य निम्न कार्य भी कर सकता था किन्तु सकट की स्थिति सामान्य होते ही वह इन कर्मों का त्याग कर दे।कुल्लूकभट्ट[33] 11वी शती मे लगभग ऐसा ही मत प्रकट करते हैं कि वैश्य द्विजाति की शुश्रुषा करना एव अच्छिष्ट भोजन ग्रहण करने जैसे निम्न कार्य केवल तभी तक कर सकता था जब तक कि

वह सकट ग्रस्त रहता था, अपनी स्थिति सुदृढ होते ही वह इन कर्मों का परित्याग करके प्रायश्चित करता था।

इससे भी स्पष्ट होता है कि शूद्रो के निम्न पेशो को वैश्य सामान्यतौर पर नही करते थे, बल्कि यह कार्य केवल आपद्काल मे ही अपनाये जा सकते थे। इस कारण ही मोटे तौर पर देखने पर ऐसा प्रतीत होता था कि वैश्यों का स्तर गिर कर शूद्रो के स्तर तक पहुँच गया था। पूर्व मध्यकाल तक आते-आते जन्म के आधार पर वर्ण के निर्धारण की मान्यता ढीली पडने लगी थी। अत शूद्र वर्ण मे अब एक वर्ण के लोग सम्मिलित न होकर एक समान पेशे के लोग सम्मिलित थे। इस प्रकार पेशे एव आजीविका के आधार पर शूद्रो का एक विशाल वर्ग खडा हो गया था, जिसमें कृषक, कृषि मजदूर, कारीगर, शिल्पी नौकर इत्यादि सम्मिलिति थे। इसमे से सबसे बडा वर्ग खेतिहर मजदूरों का था, कुछ पुराणों एव कानून वेत्ताओ ने भी कृषि को केवल शूद्रो का पेशा बताया है।[34] ह्वेनसांग 7 वीं शताब्दी मे बताता है कि शूद्रों ने एक कृषक वर्ग तैयार कर लिया था जो खुदाई एव जमीन साफ करने का कार्य करते थे।[35] 10 वी शती के यात्री इब्न खुदार्दबा ने भी यह कहा है कि शूद्र लोग पेशे से कृषि करते थे।[36] इस प्रकार जहॉ एक ओर वैश्यो का कृषि पर एकाधिकार टूटा वही दूसरी तरफ शूद्रों की स्थिति उच्च हो गई।

इस काल मे शूद्रो की स्थिति सामाजिक रूप से भी सम्मानीय हो गई। लक्ष्मीधर हारीत[37] का उद्धरण लेते हुए बताते है कि शुद्ध मस्तिष्क वाला शूद्र भी शैतान मस्तिष्क वाले ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य की तुलना में श्रेष्ठतर हैं। कुछ अपात्रताये भी इस काल में समाप्त कर दी गई। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[38] कहते हैं कि द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को आवश्यकता पडने पर नीच शूद्र से भी निरन्तर श्रद्धापूर्वक मोक्ष धर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

एक अन्य स्थल पर मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि[39] एव याज्ञवल्क्य के टीकाकार विश्वरूप[40] का कहना था कि शूद्रो को न तो गुलाम बनाया जा सकता था और न ये ब्राह्मण पर निर्भर हो सकते थे। वह व्याकरण तथा अन्य विज्ञानो का अध्यापक हो सकता था, तथा स्मृतियों मे निर्दिष्ट किये गये उन सभी कृत्यो को सम्पन्न कर सकता था जो अन्य वर्णों के लिए निर्दिष्ट किये गये थे, वह देवताओ के नाम ले

सकता था और नामकरण आदि सस्कार भी मन्त्रोच्चार के बिना सम्पन्न करा सकता था।

मेधातिथि[41] शूद्रो की द्विज की सेवा के सिद्धान्त से असहमत थे और उन्हे निजधन रखने का अधिकार दिया। इस प्रकार गहन अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि शूद्रो की अपात्रताये इस काल मे काफी कम हो गई थी एव उन्हे सामाजिक दृष्टि से दयनीय दृष्टि से नही देखा जाता था। प्राचीन समय मे बहुत से व्यवसाय वशानुक्रमिक थे, जिससे धीरे-धीरे यह विचार दृढ होता गया कि वे लोग जो ऐसी जाति के होते है, जो गदा व्यवसाय करती है, जन्म से ही अस्पृश्य है। स्थिति मे परिवर्तन के साथ यह विचारधारा बन गई कि उस जाति के लोग चाहे वह गंदा व्यवसाय अपनाये या न अपनाये उन्हें अस्पृश्य ही माना जाता है। इस काल के टीकाकारो ने अस्पृश्यता की कठोरता में ढील दी है। मनुस्मृति की व्याख्या में मेधातिथि[42] का कहना है कि प्रतिलोमो में केवल चाण्डाल ही अस्पृश्य है, अत प्रतिलोमो यथा सूत, मागध, आयोगव, वैदहक एव क्षत्ता के स्पर्श से स्नान करना आवश्यक नही है। यही बात कुल्लूकभट्ट[43] मे भी पायी जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि इनकी स्थिति मे सुधार आ गया था।

इसके ठीक विपरीत अपरार्क[44] एंव विज्ञानेश्वर[45] के अनुसार चाण्डाल की छायामात्र से मनुष्य अपवित्र हो जाता है यदि वह गाय की पूंछ की दूरी तक भी पहुँच गया हो। तत्कालीन परिस्थितियाँ सभवत: आजकल की तरह रही होगी जबकि ज्यादातर निम्नस्तर के कार्य को अस्पृश्य नहीं माना जाता है, जैसे आजकल के अन्त्यजों मे म्लेच्छ, धोबी, बांस का काम करने वाले, मल्लाहों, नटों को कुछ प्रातों मे अस्पृश्य नहीं माना जाता है। यही कारण होगा जिससे एक तरफ मेधातिथि एव कुल्लूकभट्ट इसमें शिथिलता की बात करते है। दूसरी तरफ अपरार्क एव विज्ञानेश्वर कठोरता की बात करते हैं।

इसी समय दक्षिण भारत मे अलवार वैष्णव सतो में तिरूप्पाण अलवार अछूत जाति के थे और नम्मालवार वेल्लाल जाति के थे, जो कि निम्न मानी जाती है। उत्तर भारत में भी भक्ति आदोलन के ज्यादातर संत निम्न जाति के थे जैसे कबीर जुलाहे, रैदास मोची थे। प्रथम सहस्त्राब्दी ई0 के मध्य के आस-पास मुख्यत: सामाजिक तथा आर्थिक तत्वों

के कारण दासता के क्षय की प्रवृत्ति प्रबल होती जान पडती है। इसका प्रथम सकेत नारदस्मृति[46] मे दास्यमुक्ति के विधानो मे दिखाई पडता है। याज्ञवल्क्य स्मृति एव नारदस्मृति मे जबरदस्ती दास बनाने का विरोध दिखाई पडता है।

पूर्वमध्यकाल आते-आते दासो की स्थिति मे और अधिक सुधार के लक्षण दिखाई पडने लगते है। मनु के ऊपर भाष्य करते हुए भारूचि[47] ने ऐसी स्थिति का सकेत दिया है जो दास शब्द को उसके मान्य अर्थ से प्राय वंचित कर देने के समान थी, अर्थात् दास शब्द के परम्परागत अर्थ से भिन्न थी, किसी व्यक्ति से उसकी अर्जित वस्तु छीन लेना असंभव है फलत उनकी सम्पत्ति हीनता लाक्षणिक अर्थ मे बताई गई मानी जानी चाहिए।[47 A]

उसने यह भी कहा है कि अत्यन्त परतन्त्रत्व सिर्फ जन्मजात दासो (गर्भदासों)[48] से ही सम्बद्ध था। इस प्रकार भारूचि ने मनु[49] की व्यवस्था कि दास किसी प्रकार की सम्पत्ति का अधिकारी नही हो सकता तथा गर्भदासों को छोडकर बाकी अन्य सभी प्रकार के दासों की क्षीण होती पराधीनता का विवेचन किया है।

मेधातिथि[49A] ने भी कुछ नियमो के साथ सभी प्रकार के दासों के सम्पत्ति विषयक अधिकारों को स्वीकार किया है। मनु[50] का कथन है कि शूद्र दास को औपचारिक तौर पर मुक्त कर दिये जाने पर भी पराधीनता से मुक्त नही किया जा सकता है। इसपर टीका करते हुए भारूचि[51] ने स्पष्ट किया है कि शूद्रो की दासता से यहॉ तात्पर्य उनके वर्ण धर्म से है किन्तु मेधातिथि ने मनु के कथन को विशुद्ध शब्दाडबर (अर्थवाद)[52] कहकर मानने से इंकार कर दिया है।

एक स्थल पर मेधातिथि भक्तदास[53] शब्द का उल्लेख गुलाम के अर्थ मे न करके वैतनिक मजदूर[54] के रूप मे करते हैं। मजदूरों के वेतन सं सबंधित एक अन्य श्लोक का भाष्य करते हुए उन्होने फिर भक्तदास शब्द का प्रयोग किया है, लेकिन पारम्परिक रूप से दास माने जाने वाले भोजनदास के रूप में नही बल्कि वेतन भोगी दास[55] के रूप में। किन्तु दासों के प्रकारों से संबधित एक श्लोक पर भाष्य करते हुए मेधातिथि ने इस शब्द का अर्थ ऐसा व्यक्ति बताया है जो भोजन के एवज मे दासता ग्रहण करता है।[56] इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मेधातिथि

के काल तक वैतनिक श्रमिको से भक्तदासो की सादृशता काफी स्पष्ट विशेषता बन गई थी।

प्राचीनकाल मे कर्ज न अदाकर पाना दासता का एक महत्वपूर्ण कारण था।[57] भारूचि[58] एव मेधातिथि[59] ने यह विधान किया कि कर्ज अदा करने मे असमर्थ गरीब लोगो से मूल तथा ब्याज की अदायगी के लिए ऋणदास[60] के रूप शारीरिक श्रम करवाया जाये। उसने आगे यह भी कहा है कि कर्ज की अदायगी के लिए अपने को दास बना देश शास्त्रादेश के विरूद्ध है।[61]

पूर्वमध्यकाल के अभिलेखो में दासदान के उल्लेख विरले ही मिलते है। इसकाल मे युद्ध भी अब दास उपलब्ध कराने वाले कोई समृद्ध स्त्रोत नही रह गए थे। ध्वजाहत (युद्ध में बन्दी बनाया गया दास) शब्द की व्याख्या करते हुए मेधातिथि[62] ने युद्ध में पराजित क्षत्रियो को दास बनाने की स्वीकृति देने वाली पूर्ववर्ती सम्मति को अस्वीकार करते हुए यह व्यवस्था दी कि इसका अर्थ पराजित स्वामी के दास कार्मिको पर कब्जा कर लेना था इससे युद्धबंदियो को दास बनाने का विरोध करने वाली प्रवृत्ति का पता चलता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इस काल में शूद्रो के साथ-साथ दासो की स्थिति मे भी सुधार आया, अब दास अपनी निजी सम्पत्ति रख सकते थे, गुलाम के स्तर तक उनका शोषण नही किया जा सकता था इसके साथ ही वें अब स्वय को बेच नहीं सकते थे। इस प्रकार पूर्वमध्यकाल मे भारतीय समाज में दास प्रथा की व्याप्ति तथा क्रियात्मक महत्व मे, जो पहले भी काफी सीमित थे, भारी ह्रास आ गया था।[63]

इस समय जमीन की मिल्कियत वाले पहले के स्वतन्त्र वैश्य किसान आश्रित और आधीन स्थिति मे पहुॅच रहे थे, और व्यापार-वाणिज्य, मुद्रा अर्थव्यवस्था तथा शहरी जीवन के ह्रास, सामंत सरदारो तथा भूस्वामी श्रीमतो के उदय तथा न्यूनाधिक बंद किस्म की कृषि-अर्थव्यवस्था की बढती हुई प्रमुखता के कारण वैश्य वाणिको तथा व्यापारियों का पतन हो रहा था।[64] विदेशी आक्रमणों, विदेशियो के यहॉ बसने तथा उनके एक हिस्से के और कुछ सीमावर्ती लोगों के शासक-अभिजात वर्ग के रूप में उदय के फलस्वरूप चार वर्णों वाली समाज व्यवस्था समूल हिल गई।[65]

चातुर्वण्य के ढाचे के अन्दर सामाजिक सरचना मे कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन घटित हो रहे थे। दासो सहित शूद्रो का एक बडा हिस्सा, मुख्यत छोट आश्रित किसानो तथा खेतिहर मजदूरो के रूप मे कृषि से सम्बद्ध हो जाने के बाद, सामाजिक तथा आर्थिक दर्जे की दृष्टि से ऊपर उठ रहा था और वैश्यों का एक हिस्सा (खास तौर से निचले दर्जे के स्वतन्त्र वैश्य किसान) शूद्रो की स्थिति की ओर खिसकते आ रहे थे। यह सब आर्थिक शक्तियो तथा समाजिक सघर्ष की विशिष्ट परिस्थिति के प्रभाव के अधीन घटित हो रहा था।

पूर्व मध्यकाल मे विभिन्न सामाजिक दार्शनिक आयामो मे भी कुछ परिवर्तन के चिन्ह परिलक्षित होते है, जिन्हें तत्कालीन परिस्थितियो के सदर्भ में देखा जा सकता है। प्राचीनकाल के व्यवस्थाकारो[66] ने गुरू का विद्यार्थी को शिक्षा प्रदान करने के बदले मे किसी भी प्रकार का धन लेने से मना किया था, किन्तु गुरू दक्षिणा प्राचीन काल मे भी प्रचलित थी। मेधातिथि[67] एव मिताक्षरा[68] ने लिखा है कि केवल शिष्य से कुछ ले लेने पर ही कोई गुरू भृतकाध्यापक नही कहा जाता, प्रत्युत निर्दिष्ट धन लेने पर ही पढाने की व्यवस्था करने वाला गुरू भर्त्सना का पात्र होता है, किन्तु आपात्काल मे जीविका के लिए निर्दिष्ट धन लेने की व्यवस्था की गई थी।[69] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर अर्थ की प्रमुखता का स्पष्ट वर्णन मिलता है। गृहस्थाश्रम के सदर्भ में मनु[70] ग्रहस्थो के चार प्रकार बताये हैं कुसुलधान्यक महाभारत[71] के अनुसार जो षटकर्मो-यजन-याजन, पठन-पाठन, दान और प्रतिग्रह को सम्पन्न करते थे, कुम्भधान्य, जो यज्ञ, अध्ययन और दान में निष्ठावान रहते थे, अश्वस्तनिक वे गृहस्थ थे जो दान और अध्ययन मे अधिक व्यस्त रहते थे तथा कपोतीमाश्रित उस गृहस्थ को कहा गया जिसकी रूचि केवल स्वाध्याय मे ही थी। किन्तु पूर्वमध्यकाल मे आकर भाष्यकारो ने कुसुल एव कुम्भी की व्याख्या विभिन्न ढग से की है। कुल्लूकभट्ट[72] के अनुसार वह ब्राह्मण जिसके पास तीन वर्षो के लिए अन्न है, कुसुलधान्य कहलाता है और जिसके पास साल भर के लिए अन्न पर्याप्त है वह कुम्भीधान्य है जबकि मेधातिथि[73] इसे अन्न एंव धनतक विस्तृत कर देते है उनका कथन है कि जिसके पास अन्न या धन तीन वर्षों के लिए है, वह कुसूलधान्य है। गोविन्दराज[74] के अनुसार कुसूलधान्य एंव कुम्भीधान्य वे ब्राह्मण है जिनके पास क्रम से 12 और 6 दिन का

अन्न है। मिताक्षरा[75] भी गोविन्दराज के विचार से सहमत है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल मे जहॉ गृहस्थो का विभाजन अध्ययन, अध्यापन, दान एव प्रतिग्रह के आधार पर होता था, वही पूर्वमध्यकाल मे आकर इसके अर्थो मे परिवर्तन हो गया एव यह विभाजन गृहस्थ के अन्न भण्डार एव धन के आधार पर होने लगा अर्थात् अब अर्थ प्रधान हो गया था, यह परिवर्तित परिस्थितियो के कारण ही सभव हुआ होगा। यह काल सामदवाद का युग था, प्रत्येक व्यक्ति को जीविकापार्जन के लिए अर्थोपार्जन करना पडता था क्योकि सारे समीकरण बदल चुके थे, सामाजिक व्यवस्था अर्थ पर आधारित हो चुकी थी, आध्यात्मिकता का महत्व क्षीण हो रहा था, यद्यपि अन्य सारे आश्रमो को पालन यथावत चल रहे थे।

पूर्वमध्यकाल के साहित्य से ऐसे सकेत मिलते है कि इस काल मे गोत्र, प्रवर इत्यादि के नियम कठोर होने लगे थे। मनु[76] के एक श्लोक पर टीका करते हुए मेधातिथि[77] ने नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह करने पर चन्द्रायण व्रत का प्रायश्चित बताया है और कन्या को छोड देने को कहा है। कुल्लूक[78] ने भी नाना के गोत्र वाली कन्या से विवाह करने को मना किया है। जबकि मनु ने नाना के गोत्र की कन्या से विवाह करने को मना अवश्य किया है किन्तु प्रायश्चित का विधान नही किया गया है, इससे स्पष्ट होता है कि पूर्व मध्यकाल तक आते-आते मान्यताये और गहरी होती हुई दृष्टिगत होती है।

एक अन्य स्थल पर मेधातिथि[79] मनु पर टीका करते हुए कहते हैं कि गोत्रों एव प्रवरों की बाते मुख्यत. ब्राह्मणो से सबंधित हैं, क्षत्रिय एव वैश्यो से नही। इससे स्पष्ट होता है कि इसकाल में ब्राह्मणो ने प्रमुखता बनाई रखी थी तथा गोत्रो एंव प्रवरों की गणना केवल उन तक सीमित हो गई। इस काल मे स्त्रियों की स्थिति कम शिक्षा, कम आयु मे विवाह के कारण खराब होते हुए भी, उत्तराधिकार के रूप मे पर्याप्त अधिकार मिलने के कारण पहले से बेहतर थी। कात्यायन[80] ने वृहस्पति[81] एव नारद[82] के मत का समर्थन करते हुए यह विचार व्यक्त किया है पुत्र के अभाव मे पुत्री ही उत्तराधिकारी होती है। अलबरूनी[83] ने भी पुत्र के अभाव मे पिता की सम्पत्ति मे पुत्री के उत्तराधिकारिणी होने के नियम की पुष्टि की है। जीमूतवाहन ने दायभाग[84] एव मिताक्षरा[25] ने कन्या को पुत्र के हिस्से का चौथाई पाने की सस्तुति की है। मनुस्मृति पर टीका

करते हुए कुल्लूकभट्ट[86] भी कहते है कि अविवाहित कन्या एक चौथाई, आधा या अपने भाई के बराबर हिस्सा प्राप्त करती है, किन्तु इस के लिए यह आवश्यक था कि कन्या जीवनपर्यन्त अविवाहित रहे।

इसी प्रकार दायभाग के लेखक जीमूतवाहन[87] एंव मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर[88] के अनुसार मृत पति के सम्पूर्ण धन को पुत्र के अभाव मे विधवा प्राप्त करती है, जबकि मनुस्मृति[89] के अनुसार पुत्र के अभाव मे पुरूष के धन का भागी पिता या भाई था। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि इस काल मे स्त्रियो के उत्तराधिकार में काफी परिवर्तन आया, पुरूष के उत्तराधिकार मे स्त्रियॉ कभी पुत्री एव कभी विधवा के रूप मे स्थान प्राप्त करने लगी थीं।

किन्तु इस आर्थिक अधिकारो को प्राप्त करने के कारण स्त्रियो पर अनेक प्रकार के कठोर बधन लगा दिये गये, इसके पीछे यह भय की भावना कार्य कर रही थी कि परिवार का धन परिवार से बाहर न चला जाये। पुत्री के रूप मे पिता का उत्तराधिकार तभी प्राप्त होता था जब वह विवाह न करे।[90] इसी प्रकार विधवा को अमगलो से सबसे बडा अमंगल घोषित किया गया।[91] जिससे वह स्वतन्त्र रूप से कुछ भी करने से वंचित न रह जाये।

इस काल के कुछ व्यवस्थाकारो ने भी सती प्रथा की प्रशसा की है। कृत्यकल्पतरू में ब्रह्मपुराण का उद्धरण दिया गया है। जिसके अनुसार पति के मरने पर सत-स्त्रियो की दूसरी गति नही। भर्तृ-वियोग से उत्पन्न दाह का दूसरा कोई शमन नही। मेधातिथि[92] का कहना है कि यद्यपि अगिरा ने अनुमति दी है, किन्तु यह आत्महत्या है और स्त्रियो के लिये वर्जित है। विज्ञानेश्वर[93] ने मेधातिथि का विरोध करते हुए निर्देश दिया है कि सती प्रथा सभी वर्णों में प्रचलित होनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि इस काल मे समाज में सती प्रथा प्रचलित थी, किन्तु सभी व्यवस्थाकार इसे उचित नही ठहराते थे। संभवत: सती प्रथा को बढावा देने के पीछे उनको प्राप्त आर्थिक विचार काम कर रहे थे। दायभाग[94] में यह उल्लेख भी मिलता है कि सम्पत्ति के लालच मे अन्य परिवार अब विधवा को सती होने के लिए उत्तेजित करते थे। मेधातिथि ने स्त्रियों के धन के ऊपर अन्य किसी भी प्रकार के अधिकार को नकारते हुए, केवल स्त्रीधन पर उनके अधिकार का उल्लेख किया है।

इस प्रकार सक्षेप मे कहा जा सकता है पूर्वमध्यकाल के विचारको ने स्त्रियो को पर्याप्त आर्थिक अधिकार प्रदान किये थे, जिससे समाज मे उनकी स्थिति कुछ सुदृढ होती हुई प्रतीत होती है।

धार्मिक दृष्टि से भी यह युग मिले जुले परिणामो वाला रहा है।धर्म को अब परम्परागत धर्म यथा-यज्ञ, तपस्या या देवी देवताओ की उपासना से सम्बद्ध न करके व्यवहारिक आचार के रूप मे समझा जाने लगा था। मनु पर टीका करते हुए एक स्थल पर मेधातिथि[46] कहते है कि स्मृतिकारो ने धर्म के पॉच स्वरूप माने है। (1) वर्ण धर्म (2) आश्रम धर्म (3) वर्णाश्रमधर्म (4) नैमित्तिक धर्म (यथा प्रायश्चित) तथा (5) गुणधर्म (अभिषिक्त राजा के सरक्षण संबधी कर्त्तव्य)। इसी काल के तन्त्रवार्तिक के अनुसार धर्मशास्त्रो का कार्य है वर्णो एव आश्रमों के धर्मो की शिक्षा देना।

भारत प्राचीनकाल से ही विभिन्न धर्मों की भूमि रहा है, एंव एक धर्म दूसरे धर्म के साथ सौहार्द्र पूर्ण ढग से व्यवहार करते थे। इस काल में भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है साहित्यिक एंव अभिलेखी साक्ष्यो से प्रकट होता है कि विभिन्न धर्मों एंव पथों के अनुयायी बहुत ही सामंजस्य की प्रकृति प्रदर्शित करते थे। पाल राजवश के अर्न्तगत बंगाल मे बौद्ध धर्म एव ब्राह्मण धर्म साथ-साथ पनप रहे थे। कश्मीर में यद्यपि राजा एंव रानियॉ शैव एव वैष्णव धर्म के अनुयायी थे किन्तु बौद्ध धर्म को भी सरक्षण देते थे।[97] प्रतिहार नरेश महेन्द्र पाल (898 ई0) के दिगवादवाउली अभिलेख से पता चलता है कि एक परिवार से विभिन्न सदस्य भिन्न धर्मों एंव देवताओं की उपासना करते थे। विभिन्न धार्मिक पथो का परस्पर सामजस्य एव सौहार्द्र इस काल के स्थापत्य मे भी दृष्टिगत होता है। इस काल में विभिन्न देवी-देवताओं की सयुक्त प्रतिमा का अकन हुआ है। संयुक्त प्रतिमाओ में हरिहर[99] की प्रतिमा सर्वप्रथम आती है। फिर हरिहर हरण्य गर्भ (सूर्य, विष्णु, शिव, ब्रह्मा)[100], त्रिमूर्ति (ब्रह्म, विष्णु, महेश), अर्द्ध नारीश्वर (शिव एंव शक्ति) आते है। इन ब्राह्मणवादी देवताओं के अतिरिक्त और बहुत से ब्राह्मणवादी एव बौद्ध देवता संयुक्त रूप से दिखते है। इस प्रकार एक हरिहर की प्रतिमा बिहार से प्राप्त है जो कि भारतीय सग्रहालय मे रखी हुई है।[102] इस प्रतिमा मे बीच मे हरिहर की प्रतिमा है एक किनारे पर सूर्य एंव एक किनारे पर

बुद्ध की प्रतिमा अकित है। बुद्ध को कई बार इन्द्र एव ब्रह्मा के साथ अकित किया गया है खजुराहो के जैन मदिरो मे ब्राह्मणवादी देवी देवताओ का स्वतन्त्र रूप से अकन हुआ है। इससे स्पष्ट होता है इस काल मे विभिन्न धर्मों के लोग परस्पर मिलजुल कर रहते थे जो इस काल के साहित्य, अभिलेख एव स्थापत्य मे प्रतिबिम्ब हो रहा था।

सक्षेप में कहा जा सकता है कि इस काल मे साम्प्रदायिक सौहार्द्र प्रमुख तत्व रहा है। इस समय विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय एक साथ फल फूल रहे थे। हिन्दूओ के प्रमुख पथ-वैष्णव, शैव, शाक्त इस समय बहुत प्रचलित थे। सामान्य जन मे यह विश्वास था कि स्वर्ग एव नरक व्यक्ति अपने कर्मों से प्राप्त करता है। इस काल मे तन्त्र का बढता हुआ प्रभाव सभी धर्मों को प्रभावित कर रहा था। कोई भी धर्म इस के प्रभाव से बच नही रहा था। शैव धर्म मे कौल, कापालिक एव त्रिक जैसी तात्रिक शााखाओ ने जन्म ले लिया था।

जैन एव बौद्ध धर्म बढते हुए ब्राह्मणवाद का सामना करने मे असमर्थ थे एंव इसके साथ ही इनका विस्तार क्षेत्र भी सीमित होता जा रहा था, जैन धर्म ने अपने को एक वर्ग विशेष से जोडकर अपने अस्तित्व की रक्षा की, जबकि बौद्ध धर्म उत्तर भारत से समाप्त होकर कुछ समय तक पूर्वीभारत मे केन्द्रित हो गया था और धीरे-धीरे अपनी जन्म स्थली से यह समाप्त सा हो गया। मत्तविलासप्रहसन मे बौद्धभिक्षुओ का उपहासपूर्ण विवरण प्राप्त होता है, जोकि इस धर्म के ह्रास का प्रतीक है।

पातक, प्रायश्चित, तीर्थों एव श्राद्ध का विधान थोडे बहुत परिवर्तन के साथ परम्परागत रूप से चला आ रहा था। श्राद्ध के सबध मे विचारो मे कुछ परिवर्तन दृष्टिगत होते है। एक सामान्य नियम यह था कि उपनयन विहीन बच्चा शूद्र के समान है और वह वैदिक मत्रों का उच्चारण नहीं कर सकता। गौतम[104], मनु[105], वसिष्ठ[106] एंव विष्णु[107] ने इस प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[108] ने विचार व्यक्त किये है, कि अल्पवयस्क पुत्र भी, यद्यपि अभी वह उपनयनविहीन होने के कारण वेदाध्ययन रहित है, तथापि वह अपने पिता को जल तपर्ण कर सकता था। नव श्राद्ध कर सकता था। इस समय वह वैदिक मंत्रोच्चार भी कर सकता था, यह बहुत बडा परिवर्तन

था कि उपनयनविहीन व्यक्ति मन्त्रोच्चार कर सके क्योकि बिना उपनयन के वह शूद्र सदृश समझा जाता था और उन्हे वैदिक मन्त्रोच्चार की अनुमति नही थी।

पूर्वमध्यकाल के लेखको ने श्राद्ध के समय मांस का भोजन देने के सम्बन्ध मे भिन्न-2 विचार प्रस्तुत किये है। हेमाद्रि[102] स्पष्ट शब्दो मे श्राद्ध मे मास अर्पण के पक्ष मे विचार प्रस्तुत करते है।पुलस्त्य[103] ने मिताक्षरा एव अपरार्क से उद्धरण लेकर यह बताया है कि ब्राह्मण द्वारा सामान्यत श्राद्ध मे यति भोजन अर्पण करना चाहिए, क्षत्रिय या वैश्य द्वारा मांस अर्पण, शूद्र द्वारा मधु का अपर्ण करना चाहिए। चाहे कर्त्ता कोई भी हो श्राद्ध मे केवल ब्राह्मण आमन्त्रित होते थे। इससे स्पष्ट है कि क्षत्रिय या वैश्य द्वारा आमन्त्रित ब्राह्मण को मास खाना पडता था। मिताक्षरा एव कल्पतरू से ऐसा कोई सकेत नही मिलता है कि कलियुग में कम से कम ब्राह्मणो के लिए मास प्रयोग वर्जित है, किन्तु सभी वर्ण के लोग मांस अर्पण नहीं करते थे, इससे स्पष्ट होता है कि श्राद्ध मे मास अर्पण को अब कम पसद किया जाने लगा, आगे चलकर यह वर्जित हो गया। जबकि प्राचीन काल मे ऐसा विचार था कि मास अर्पण से पित्र ज्यादा संतुष्ट होते है। आज भी केवल बंगाल इत्यादि प्रान्तो को छोडकर पूरे उत्तर भारत में कही भी श्राद्ध में पितरों को मास नही अर्पित किया जाता है।

पवित्र स्थल पर आत्महत्या करने की प्रथा संभवत. काफी प्राचीन काल से चली आ रही थी।किन्तु पूर्व मध्यकाल में इसके अनेक उदाहरण प्राप्त होते है। ह्वेनसाग[109] के कथन से इस प्रथा के प्रचलन का पता चलता है जब वह बताता है कि सामान्य धारणा थी कि जो व्यक्ति वटवृक्ष से नदी मे कूद जाता था और उसी में डूब कर प्राण दे देता था उसके लिए स्वर्ग का सीधा मार्ग खुल जाता था। प्रयाग मे आत्महत्या के अभिलेखीय प्रमाण भी प्राप्त होते है- 1000 ई0 में चन्देल वशीय धग[110] एव 1042 ई0 मे चेदिवंशीय गागेयदेव[111] 1068 ई0 मे चालुक्य वशीय सोमेश्वर[112] के प्रयाग मे आत्महत्या करने का उदाहरण मिलता है। लक्ष्मीधर के ग्रंथ तीर्थ विवेचन खण्ड के एक अध्याय महापथयात्रा[113] मे लेखक ने हिन्दू एव शाक्त पुराण (जैसे देविपुराण) का उद्धरण देते हुए बताया है कि इस अध्याय मे धार्मिक आत्महत्या के विभिन्न मार्ग बताये गये हैं।[114] अलबरूनी[115] के अनुसार वाराणसी ऐसा स्थान था जहाँ

महापुरूष आकर निवास करते है और जीवन का अत कर लेते थे। इसके अनुसार इस शहर के अन्दर प्रवेश करने वाले मात्र से सब पाप धुल जाते थे।

इस काल मे जहा तीर्थों ने प्रमुखता प्राप्त की, वही इस काल की एक प्रमुख विशेषता थी कि इस समय न केवल तीर्थों की बल्कि तीर्थों के प्रतीको की भी उपासना की जाती थी। तीर्थ भ्रमण एव तीर्थ तक पहुचने के मार्ग मे कोई वर्ण भेद, अस्पृश्यता के नियम नहीं माने जाते थे। यह इस काल के बाह्य आडम्बरो का एक और उदाहरण है कि किस प्रकार तीर्थ तक पहुॅचने के मार्ग मे किसी से भी सहायता लेने की अनुमति प्रदान कर दी गई, किन्तु दूसरी दृष्टि से देखे तो प्रतीत होता है कि जहॉ तक अस्पृश्यता मे बढती कठोरता का प्रश्न है वह तीर्थो से सबंधित मार्गों एंव स्थलो पर समाप्त हो जाती थी। शूद्रो एव अस्पृश्यों को अपने अराध्य की उपासना का स्वतन्त्र अवसर प्राप्त था।

पूर्वमध्यकालीन राजनीतिक स्थिति अत्यन्त अस्थिर थी, साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त हो गया था, जो अपने अस्तित्व के लिए लगातार संघर्षरत रहते थे, किसी एक केन्द्रिय शक्तिशाली शासन का अभाव हो गया था। इस काल में युद्ध के सैनिकों को वेतन के रूप में एवं अन्य व्यक्तियो को उपहार स्वरूप भूमि अनुदान देने की परिपाटी चल निकली थी, इसका प्रारम्भ गुप्तकाल से हुआ था और इस समय यह अपने शिखर पर पहुॅच गई थी, इससे एक नया भूमिधारी सामतों का वर्ग उदित हो रहा था, जो अपने को शक्तिसम्पन्न बनाने के लिए लगातार अपने अधीनस्थो से युद्ध करते रहते थे एव समय-समय पर अपने आश्रयदाता का विरोध करते रहते थे। इन सबको मिलाकर एक अशात एव अस्थिर वातावरण बना हुआ था जिसे राज्य की सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक स्थिति प्रभावित हो रही थी। इस काल के टीकाकारों ने राजनीति के सबंध में यत्रतत्र परिवर्तित विचार प्रस्तुत किंये है। जिससे स्पष्ट होता है कि इस काल मे कुछ परिभाषाओं के मानदण्ड बदले रहे थे। राजधर्म क्या है? इस पर मनु[116] की व्याख्या-"राजा का आचार, उसकी उत्पत्ति और जिस प्रकार उसकी इस लोक और परलोक मे परम सिद्धि हो उन सब को राजधर्म कहा जाता है। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[117] धर्म को कर्त्तव्य के अर्थ में लेते है और कहते है कि राजा के कर्त्तव्य या तो

दृष्टार्थ (अर्थात् जिनके प्रभाव सासारिक हो और देखे जा सके) है या अदृष्टार्थ(अर्थात् जिन्हे देखा न जा सके, किन्तु उनका आध्यात्मिक महत्व है।) यथा अग्निहोत्र उन्होने राजधर्म को स्पष्ट रूप से राजा के कर्त्तव्यो से सबंधित कर दिया।

एक अन्य स्थल पर मेधातिथि[118] राजनीतिक नियमो के निर्माण के सबंध मे स्पष्ट रूप से कहते है, कि राजनीति के नियम धर्मशास्त्र के धार्मिक ग्रथो के आधार पर नही बने है। प्रत्युत वे मुख्यत: सासारिक अनुभवो पर आधारित है। इस प्रकार अब राजनीति परम्परागत नियमो के आधार पर न निर्धारित होकर व्यवहारिक रूप से सासरिक अनुभवो पर आधारित हो गई थी।

राजा निर्वाचित होने की प्रथम योग्यता क्षत्रिय होना सभवत. इस काल मे आवश्यक नही रह गया था। जहॉ प्राचीनकाल मे राजा शब्द का एक अर्थ क्षत्रिय था एव मनुस्मृति[119] मे क्षत्रिय को ही राजा होने के योग्य बताया गया है वही मनु के टीकाकार कुल्लूकभट्ट[120] का विचार है कि राजा शब्द किसी भी जाति के व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हो सकता है जो व्यक्ति प्रजा रक्षण का कार्य करता है वह राजा है। यही तथ्य अवेष्टि नामक कृत्य के सबंध में कही गई है, जो कि राजसूय का एक प्रमुख अग है। राजा राजसूय यज्ञ करता था, अवेष्टि के सम्पादन के सबंध में ब्राह्मणो, क्षत्रियो एव वैश्यों की भी चर्चा हुई है, इससे प्रकट होता है कि राजसूय करने वाला राजा किसी भी जाति का हो सकता है। इस समय तक कई अन्य वर्णों यथा वैश्य वर्ण-गुप्तवंश, ब्राह्मण-शुंगवश, कण्व वश वाकाटकवश ने सफलतापूर्वक शासनकार्य सभाला था, इसी से प्रेरित होकर कुल्लूकभट्ट ने किसी भी जाति के राजा के नियुक्ति की बात की है अभी तक युद्ध भूमि मे वीरगति प्राप्त करने वाला राजा प्रशसनीय था किन्तु पूर्वमध्यकाल आते-आते मेधातिथि[125] के अनुसार जिस प्रकार अश्वमेध यज्ञ के उपरान्त राजा के साथ जो-जो स्नान करते है, सभी पापमुक्त हो जाते है, उसी प्रकार सभी जाति वाले सैनिक युद्ध में मर जाने पर पापरहित हो जाते है।

राजा के कर्त्तव्यो मे विद्यार्थियों, विद्वानों, ब्राह्मणों एव याज्ञिकों की रक्षा करना सम्मिलित माना गया है। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[122] कहते है कि विपत्ति एव अकाल के समय मे राजा को

अपने कोष से भोजन आदि की व्यवस्था करके प्रजापालन करना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जैसे आधुनिककाल मे सरकार ने जनता के सेवार्थ नि शुल्क चिकित्सा इत्यादि की सुविधाए प्रदान की थी। उसी प्रकार पूर्व मध्यकाल मे यह राजा का कर्त्तव्य माना जाता था कि वह प्रजा की रक्षा करे एव विपत्ति एव अकाल के समय अपने कोष से भोजन इत्यादि की व्यवस्था करे।

जहॉ मनु[123] का कहना है कि राजा मे सभी देवताओ की दीप्ति विद्यमान रहती है, अत सम्यक् आचरणों एव अनुचित आचरणो के विषय में वह जो कुछ नियम बनाता है उसका उल्लघन नही करना चाहिए। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[124] साधारण राजनियमो की व्याख्या करते है और साथ ही यह भी कहते है कि राजा को शास्त्रीय नियमो का विरोध नही करना चाहिए, अर्थात उसे वर्णाश्रम धर्म के विरोध मे नही जाना चाहिए, यथा अग्निहोत्र आदि का विरोध नहीं करना चाहिए। एक अन्य स्थल पर मेधातिथि[125] कहते हैं कि राजा का शासन इतना सुदृढ एंव कठोर होना चाहिए कि अकाल के समय राजा भोजन सामग्री का निर्यात रोक सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जहॉ एक तरफ मेधातिथि कहते है कि राजा को शास्त्रीय नियमो का विरोध नही करना चाहिए एंव विपत्ति आकाल के समय प्रजा के लिए भोजन इत्यादि का प्रबन्ध करना चाहिए वही नियत्रण के संबध मे मेधातिथि विचार व्यक्त करते है कि राजा अकाल के समय भोजन सामग्री का निर्यात रोक सकता है।

मनुस्मुति[126] मे उल्लेख प्राप्त होता है कि रिश्वत लेने वाले से राजा सर्वस्व हरकर उन्हें देश निकाल दे दे। मेधातिथि[127] इस पर टीका करते हुए कहते है कि उस राज्य को नाश का भय नहीं, जहां से कण्टक (दुष्ट लोग) निकाल बाहर किये जाते है और न्याय की दृष्टि मे सब समान समझे जाते है। मेधातिथि[128] ने साथ ही यह भी संकेत दिया है कि अधिकतर कण्टको को रानी, राजकुमार, राजा के प्रिय पात्रो एंव सेनापति के यहॉ आश्रय मिलता है। इससे पता चलता है कि पूर्वमध्यकाल मे भी रिश्वत लेना अपराध माना जाता था, इसके साथ ही इन्हें आश्रय कहॉ मिलता था; इस पर भी विचार व्यक्त किये गये है सभवत उन्हें जल्दी ही ढूढ निकाला जाता होगा एव उनका निवारण किया जाता रहा

होगा। कण्टको के आश्रय स्थल पर राजा कठोर दृष्टि रखता था, अर्थात उसके निरीक्षण से अब रानी, राजकुमार, प्रिय पात्र एव सेनापति भी नही बचे थे। सब उसके सन्देह के घेरे मे आ चुके थे। मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[129] एव कल्लूकभट्ट[130] ने राजधानी की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा है कि राजधानी पर शत्रुओ के अधिकार से गम्भीर भय उत्पन्न हो जाता है, क्योकि सारा भोज्य पदार्थ, सैन्य बल इत्यादि एकत्र रहते है। आगे मेधातिथि[131] कहते है कि भले ही राज्य का कुछ भाग शत्रु जीत ले किन्तु राजधानी अविजित रहनी चाहिए। राजधानी ही शासन-तन्त्र की धुरी है। इससे स्पष्ट होता है कि इस काल मे राष्ट्र से ज्यादा राजधानी को महत्व प्राप्त हो गया था और उसकी सुरक्षा के लिए अनेक उपाय किये जाने लगे थे।

मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[132] कहते है कि राजा खानो से खोदी गई वस्तुओं के अर्धांश का या कुछ वस्तुओं के अर्धांश का या कुछ वस्तुओ के 1/6, 1/8 का अधिकारी है, क्योकि वह भूमि का स्वामी है और सुरक्षा प्रदान करता है। इससे स्पष्ट होता है कि इस समय जब भूमि पर अनेक स्तरो मे अधिकार रखने वाले व्यक्तियो, यथा-भूमिधारी वर्ग, सामतवर्ग, उपसामत वर्ग, शासक वर्ग, के बाद भी अंतिम रूप से भूमि पर राजा का स्वामित्व माना जाता था। मेधातिथि[133] ने कुछ ऐसी वस्तुओं को गिनवाया है, जिस पर राजा का एकाधिकार था, जैसे- हाथियो के अतिरिक्त इनमें कुमकुम, रेशम, ऊन, मोती रत्न इत्यादि सम्मिलित थे।

युद्ध के सम्बन्ध में जहाँ कौटिल्य[134] विजय के लिए कपटाचरण के लिए सकेत करते है जबकि मनु[135] ने कहा है कि कपटपूर्ण या गुप्त आयुधो के साथ नही लडना चाहिए और न ही विषाक्त या शूलाग्र या जलती हुई नोको वाले आयुधो से लडना चाहिए, पीठ दिखाकर भागने वाले को एवं प्राणरक्षा की भिक्षा मॉगने वाले को नही मारना चाहिए, और कहा है[136] कि राजा को चाहिए कि वह शत्रु के देश को तहस-नहस कर दे, वही इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[137] कहते हैं कि शत्रु के देश के लोगों को यथासभव, विशेषत ब्राह्मणो की रक्षा करनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल मे युद्धों में उदारता प्रदर्शित की जाने लगी थी। ध्वजाहत[137] का अर्थ युद्ध मे बंदी बनाये गये लोगो को

दास बनाने को मेधातिथि[138] अस्वीकार करते है और साथ ही बताते है कि इसका अर्थ पराजित स्वामी के दासो पर कब्जा कर लेना बताया है इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि इस काल मे युद्धो मे तहस नहस नही होता था एव उदारता प्रदर्शित की जाती थी।

निष्पक्ष न्याय करना एव अपराधी को दण्ड देना राजा के प्रमुख कर्त्तव्यों मे से एक था। मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[140] कहते है कि लौकिक एंव पारलौकिक (अदृष्ट) कष्टो को दूर करना ही प्रजा-रक्षण है। पूर्वमध्यकाल मे भी प्राचीनकाल मे ही न्याय व्यवस्था चली आ रही थी।

भोग या भुक्ति के सबध मे कुछ परिवर्तित विचार दिखाई पडते है। जहॉ मनु[114] ने विधान किया था कि बधक एव प्रतिभूति (धरोहर)समय के व्यवधान से समाप्त नही हो जाते, बहुत लम्बों समय के उपरान्त भी उन्हें लौटाया जा सकता है वहॉ 11वी शती मे मनु पर टीका करते हुए कुल्लूकभट्ट[142] इसके लिए 20 वर्ष की समय अवधि निर्धारित करते हैं। इसके उपरान्त व्यक्ति स्वामित्वहीन हो जाता था।

साक्षी के सबंध मे मनु[143] का विचार है कि लोभरहित केवल एक पुरूष साक्ष्य के योग्य ठहराया जा सकता है, किन्तु सच्चरित्र स्त्रियॉ नही क्योकि उनकी बुद्धि अस्थिर होती है। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[144] कहते है यदि विवाद स्त्री एव पुरूष के मध्य हो और स्त्री एंव स्त्री के मध्य मे हो तो स्त्री योग्य साक्षी होती है, संभवत. यह समय के साथ विचारधारा मे बदलाव का सकेत था। मनुस्मृति में स्त्रियो की अविश्वासनीयता का जो चित्रण किया गया है, पूर्वमध्यकाल तक आते-आते उन्हे अब सम्मानजनक दृष्टि से देखा जाने लगा था।

एक स्थल पर मनु तीरति एव अनुशिष्ट शब्द का प्रयोग निर्णयो के पुनरावलोकन के अर्थ में करते हैं उनके अनुसार[145]- जब कोई व्यवहार सबंधी विधि सम्पन्न हो चुकी है (तीरति) या वहाँ तक जा चुकी हो जब कि असफल पक्ष से दण्ड लिया जा सकता है,तब बुद्धिमान राजा उसे काट नही सकता। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[146] एंव कुल्लूकभट्ट[147] ने इसका अर्थक्रम से इस प्रकार दिया है-''शास्त्रीय नियमो के अनुसार निर्णीत तथा असफल पक्ष के दण्ड लेने के रूप मे। इस प्रकार यहॉ पर यह परिवर्तन दृष्टव्य है कि जहॉ मनुतीरति का अर्थ किसी

व्यवहार विधि के सम्पन्न हो जाने से लेते है। वही मेधातिथि इसे शास्त्रीय नियम के अनुसार निर्णीत बनाते है। इससे स्पष्ट है कि इस काल मे शास्त्रीय नियमो पर विशेष जोर दिया जाने लगा था। एक स्थल पर मनु[140] एव वसिष्ठ[149] ने लिखा है कि जो लोग पाप करने के कारण राजा से दण्ड पाते है, वे अच्छे कर्म करने वालो के समान पवित्र होकर स्वर्ग जाते है, इस पर टीका करते है मेधातिथि[150] कहते है कि यह श्लोक केवल शारीरिक दण्ड के लिए ही प्रयोजित है, न कि धन संबधी दण्ड के लिए। इससे इस तथ्य का संकेत मिलता है पूर्वमध्यकाल में अर्थदण्ड ज्यादा दिये जाने लगे थे। इसी कारण मेधातिथि धनदण्ड के प्रचलन को ध्यान में रखकर बताते हैं कि वे स्वर्ग के अधिकारी नही है।

मनुस्मृति[151] मे मत्रबल से मारने वालो, जादू एव भूत प्रेत करने वालों पर केवल 200 पण का हल्का दण्ड लगाया गया है वही पूर्वमध्यकाल के टीकाकारा मेधातिथि[152] एंव कल्लूकभट्ट[153] का विचार था कि यदि जादू सफल हो जाय तो दण्ड मृत्युदण्ड तक पहुॅच सकता है। संभवतः पूर्वमध्यकाल में इसका प्रचलन बढ गया होगा। जिससे निबटने के लिए टीकाकारों ने कठोर दण्ड का विधान दिया होगा।

दायभाग के संबध मे विज्ञानेश्वर एव जीमूतवाहन ने सम्पत्ति मे स्त्रियो को भी अधिकार प्रदान किया है। अविवाहित रहने पर एक चौथाई, पुत्रहीन विधवा होने पर पति की सम्पत्ति पर सम्पूर्ण अधिकार दिया है। मेधातिथि[156] ने इसका विरोध करते हुए स्त्रियों के स्त्रीधन के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के अधिकार से असहमति जताई है।

मनु के ऊपर टीका करते हुए मेधातिथि[157] कहते है कि नियोग सबंधी एव ज्येष्ठ पुत्र के विशिष्ट अश से संबंधित बाते केवल प्राचीन काल मे ही प्रचलित थी। काल एवं देश के अनुसार स्मृतियो के वचन परिवर्तित होते है। इस प्रकार मेधातिथि के वक्तव्य से स्वतः सिद्ध है कि पूर्वमध्यकाल मे इस प्रकार के विशिष्ठ दाय प्रचलन मे नही थे।

स्वयं का पुत्र या कोई सतान न उत्पन्न होने पर दम्पत्ति दूसरे दम्पत्ति से सतान ग्रहण करते है, तब यह सन्तान दत्तक कहलाती है। जहॉ मनु[150] समानजातीय दत्तक पुत्र- की बात करते हैं, वही पर मेधातिथि[159] इस पर टीका करते हुए कहते है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय को भी

गोद ले सकता है जबकि 11वी शती के कुल्लूक[160] इस तथ्य से असहमति प्रकट करते हुए कहते है कि दत्तक सदैव समान जातीय होना चाहिए।

पूर्वमध्यकालीन भारत की अस्थिर राजनैतिक स्थिति से व्यापार वाणिज्य, उद्योग धन्धे मौटे तौर पर आर्थिक स्थिति प्रभावित हुए बिना न रह सकी। जिसका साक्ष्य तत्कालीन सिक्को की कम मात्रा मे उपलब्ध होने के रूप मे माना जा सकता है। मनु पर टीका करते हुए एक स्थल पर मेधातिथि[161] बताते है कि पण्य (व्यापार) जो कि द्रव्य के माध्यम से होता है इसे कभी-कभी द्रव्य को किसी अन्य द्रव्य से अदल बदल कर देते है अर्थात इससे स्पष्ट होता है कि इस समय व्यापारिक गतिविधियो मे वस्तु विनिमय प्रचलन मे था। साथ ही छोटे-छोटे सामन्तों के उदय से अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड रहा था। एक भूमि क्षेत्र के कई अधिकारी होने से उत्पादकों का बहुत शोषण होने लगा, इसका उल्लेख तत्कालीन साहित्य मे भी प्राप्त होता है। 11वी शती के दरपदलाना मे क्षेमेन्द्र बताते हैं कि शासको द्वारा किसानो का शोषण हो रहा था। सोमप्रभाचार्य के कुमारपाल प्रतिबोध[163] में एक ऐसा सदर्भ आता है जिसमें खून चूसने वाली कर व्यवस्था का विवरण मिलता है, मन्त्री लोगों की तुलना जोंक से की गई है। क्योकि वह विभिन्न प्रकार से शोषण करके खजाना भरना चाहते थे। अपराजितपृच्छा[164] मे भी लगभग ऐसा ही विवरण है कि राजाओ ने अपना महत्व गलत तथ्य से बचाने एव शोषणकारी कर व्यवस्था एव वित्त व्यवस्था के कारण, खो दिया है। कश्मीर के श्री हर्ष[165] के उद्वरण से ज्ञात होता है कि करो का बोझ इतना बढ गया था कि उन्हे किसानो से जबरदस्ती लिया जाता था।

इस काल मे शासक एंव शासित के मध्य कई नये वर्ग खडे हो गये थे, मनसरा अभिलेख[166] में करो की सूची दी गई है, जो आम जनता को विभिन्न श्रेणियों के राजा सामंत एंव प्रमुखो को देनी पडती थी, यह बताती है कि चक्रवर्ती महाराज या अधिराज, नरेन्द्र, पारसनिक एव पट्टहार क्रमश. उपज का 1/10, 1/6, 1/5, 1/4 और 1/3 भाग राजस्व के रूप मे लेते थे, इससे जहॉ एक तरफ पता चलता है कि एक सामान्य नागरिक को कितने भारी करो का वहन करना पडता होगा, वही यह प्रश्न भी जटिल हो जाता है कि भूमि पर स्वामित्व किसका है।

सभवत यही कारण होगा जिसके कारण इस काल के टीकाकार एव लेखक इस मत पर विचार प्रस्तुत करते समय भ्रमित से प्रतीत होते हैं।

मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[167] एक स्थल पर कहते है कि पृथ्वी मे गडे धन का आधा भाग राजा प्राप्त करते, क्योकि वह पृथ्वी का स्वामी है। वही एक ओर अन्य स्थल पर मेधातिथि[168] मनु पर टीका करते हुए व्यक्तिगत भूस्वामित्व का समर्थन करते हुए कहते है कि भूमि उसकी होती है जो उसको साफ करके कृषि योग्य बनाता है। इस वक्तव्य पर आधुनिक इतिहासकारो ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। आर0सी0पी0 सिह कहते है कि विचारो में विरोधाभास अवश्य है किन्तु यदि मेधातिथि के मस्तिष्क मे सम्मिलित अधिकार की बात होती तो इसे स्पष्ट रूप से व्यक्त करते, मुख्यत. मेधातिथि व्यवहारिक रूप से भूमि पर राजा के स्वामित्व को स्वीकार करते है। जबकि लल्लन जी गोपाल[169] का मत है कि मेधातिथि स्पष्ट रूप से भूमि पर व्यक्ति विशेष के अधिकार का समर्थन करते है यह भूमि अनुदानो मे भूमि स्वामित्व के आधार दान मे देने को प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत करते है।

किन्तु गम्भीर विचार करने से स्पष्ट होता है कि भूमि में गडे धन मे राजा का हिस्सा राजा की सम्प्रभुता सिद्ध करता है। जो राज्य की सभी चीजो पर होती है। जैस भूमि, खान, खेतीयोग्य भूमि, चरागाह, इत्यादि। जबकि दूसरे स्थल पर जब मेधातिथि कहते है कि भूमि उसकी है जो उसे साफ करके खेती योग्य बनाता है इससे कुछ इतिहासकार भूमि पर सम्मिलित व कुछ व्यक्तिगत स्वामित्व का निष्कर्ष निकालते है, जबकि कई प्रकार की भूमि रही होगी, खेती योग्य भूमि पर साफ करने वाले का अधिकार आवश्य रहा होगा, किन्तु उसका उपज मे राजाश देना यही सिद्ध करता है कि अंतिम रूप से भूमि पर राजा का ही अधिकार था।

मनुस्मृति पर टीका करते हुए मेधातिथि[170] औद्योगिक एंव व्यापारिक श्रेणियाँ पृथक-पृथक बताते है जिन्हे क्रमशः श्रेणी और गण या संघ कहा जाता था। वह इन दोनो में अन्तर बताते हुए कहते है कि श्रेणी के सदस्य व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र होकर कार्य कर सकते थे जबकि गण के सदस्य सामूहिक रूप से ही कार्य कर सकते थे। वह आगे बताता है कि श्रेणी विभिन्न प्रकार के सामान्य कार्य करने वाले लोगों का

समूह था जैसे कारीगरी, महाजन इत्यादि एक स्थल पर वह बताते है कि विभिन्न प्रकार के व्यापारियो का सगठन सघ कहलाता था जिसमे विभिन्न धर्म एव जाति से सम्बद्ध लोग सम्मिलित होते है जो समान धन्धा करते है। सघ के समान ही श्रेणी के सदस्य भी विभिन्न जाति एव समुदाय के हो सकते थे, किन्तु इनका पेशा आनुवाशिक होता था। इससे स्पष्ट होता है कि इस काल मे व्यापारिक गतिविधियों तीव्र हो गई थी। एव व्यापारिक सगठन भली भांति संगठित हो गये थे।

मेधातिथि[171] यह भी बताते है कि वास्तुकारो, राजगीरों, बढइयो इत्यादि एंव जो मिलकर संघ मे कार्य करते है, उनकी मजदूरी को इसी प्रकार बाटा जाता था कि जिसने ज्यादा मेहनत का एव कठिन कार्य किया है उसे ज्यादा हिस्सा मिलना चाहिए, जिसने सरल कार्य किया है उसे कम, इससे स्पष्ट होता है कि उस समय में मेहनत के अनुसार मजदूरी प्राप्त होती थी। एंव पारिश्रमिक का उचित बटवारा होता था।

पूर्व मध्यकाल के साहित्यिक एंव अभिलेखीय प्रमाणो से समुद्री व्यापारियों पर लगाये जाने वाले करो की पुष्टि होती है।[172] मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि[173] बताते है कि एक भारवाही जहाज के कर निर्धारण के समय कई परिस्थितियो का ध्यान रखा जाता है, समुद्री यात्रा की दूरी, यात्रा मे व्यतीत समय, मौसम, पानी की गहराई एंव जहाज की यात्रा मे कितने श्रमिक लगे है। मनु के एक अन्य टीकाकार कुल्लूकभट्ट बताते है कि बिक्री हेतु वस्तुओ पर उचित अनुपात मे कर लगाने के लिए उपरोक्त परिस्थितियों को ध्यान मे रखा जाता था। इससे स्पष्ट है कि समुद्र यात्रा का काफी बारीकी से निरीक्षण करने के बाद कर लगाया जाता था। इससे एक तरफ यह भी सकेत मिलता है कि इस काल में समुद्र यात्रा काफी प्रचलित थी। इस तथ्य की पुष्टि एक अन्य स्थल से प्राप्त प्रमाण से भी होती है। जिसमे मनु[174] कहते हैं कि समुद्री यात्रा मे कुशल व्यक्ति को कितना धन देना है यह सुनिश्चित होना चाहिए, जिससे कि वह निश्चित स्थान एव समय के आधार अपने लाभ की गणना कर सकें। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि[175] कहते हैं कि समुद्री यात्रा का उल्लेख केवल यात्रा के लिए किया गया है, किन्तु केवल व्यापारियो के लिए ही, (धन देने का प्रावधान है, जोकि जल एव स्थल मार्ग जानते है)

दिया जाने वाला धन निश्चित कर देना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस काल में व्यापारियो मे समुद्र यात्रा का काफी प्रचलन था।

(1) अलबरूनी, सचाउ पृ0 219

(2) कुमारिल का तंत्रवार्तिक

(3) अमितगति की धर्मपरीक्षा

(4) गुर्जर प्रतिहार अभिलेख

(5) क्षेमेन्द्र, कथासरित्सागर

(6) मेधातिथि मनु पर 10, 6

(7) मनुस्मृति 10, 64

(8) मेधातिथि मनु पर 10, 64

(9) हिस्ट्री आफ राष्ट्रकूटाज पृ0 328

(10) अलबरूनी, सचाउ पृ0 149

(11) मानसोल्लास, सोमेश्वर भाग 1 पृ0 44

(12) अलबरूनी सचाउ भाग 2 पृ0 162

(13) तत्रैव, काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ0 152

(14) अलबरूनी सचाउ भाग 2 पृ0, राजतरगिणी 4 पृ0 96

(15) राजतरंगिणी 4 पृ0 103-4

(16) कुल्लूकभट्ट

(17) स्मिथ, स्ट्रगल फार एम्पायार पृ0 477

(18) राजतरगिणी 7 पृ0 1617-18

(19) राजतरगिणी 6 पृ0 1000

(20) अलबरूनी, सचाउ II 102

(21) भारूचि मनुस्मृति पर (500-600ई0)

(22) विष्णु पुराण 6 1 36

(23) विष्णु पुराण, अनुवाद विलसन पृ0 489

(24) स्कन्द पुराण 3 2 39, 291

(25) क्षेमेन्द्र, दशावतारचरित 1 29

(26) रामशरण शर्मा प्राब्लम्स ऑफ ट्राजिशन फ्राम एशियट टू मेडिएवल इन इंडियन हिस्ट्री

(27) एरिक आर0बुल्फ, पीजैन्टस एण्ड पीजैण्ट सोसाइटीस, सपा0 थिआडोर शैनिन पृ0 268

(28) मनुस्मृति 3 112

(29) बौधायन धर्मसूत्र 2 4

(30) मेधातिथि मनु पर 10 95

(31) अलबरूनी सचाउ 2 पृ0 136

(32) मेधातिथि मनु पर

(33) कुल्लूकभट्ट मनु पर

(34) बी0 एन0एस0 यादव पृ0 14

(35) हवेनसाग, वाटर्स भाग I पृ0 168

(36) इब्न खुर्दादबा पृ0 12

(37) लक्ष्मीधर, गृहस्थखण्ड पृ0 421

(38) मेधातिथि मनु पर 10 238

(39) मेधातिथि मनु पर 3 62, 121, 156, 10 127

(40) विश्वरूप याज्ञवल्क्य पर 1 13

(41) मेधातिथि मनु पर 6 97

(42) मेधातिथि मनु पर 1 13

(43) कुल्लूकभट्ट मनु पर 1 13

(44) अपरार्क

(45) विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा 3 30)

(46) नारदस्मृति 5 38

(47) जे0डी0 एम0 डेरेट सं0 भारूचिस कमैटरी ऑनद मनुस्मृति 10 भूमिका

(48A) जे0 डी0 एम डेरेट तत्रैव 1 2 मनुस्मृति 8 414-418

(48) तत्रैव मनुस्मृति 8 66

(49) मनुस्मृति 8 66

(49A) मेधातिथि मनुस्मृति 8 416

(50) मनुस्मृति 8 414

(51) भारूचि की टीका 8 414

(52) मनुस्मृति 8 414 पर मेधातिथि

(53) मनुस्मृति 8 90

(54) मनुस्मृति 5 60 पर मेधातिथि

(55) मनुस्मृति 8 215 पर मेधातिथि

(56) मेधातिथि मनु 8 415 पर

(57) नारद स्मृति 5-27 रामशरण शर्मा यूजुअरी इन अर्ली मेडिवल इण्डिया (400-1200 ई0) कम्परेटिव स्टडीज इन सोसाइटी एड हिस्ट्री 7 अक 1 68

(58) भारूचि मनुस्मृति पर 8 175-76 176-77

(59) मेधातिथि मनु पर 8 177

(60) दासता एव ऋणदासता में अंतर के लिए आर0 डब्लू विंग्स स्लेवरी एंड कम्परेटिव प्रासपैक्टस पृ0 51-57

(61) मनुस्मृति पर 8 46

(62) मेधातिथि मनु पर 8 4 15

(63) लेखपद्धति पृ0 47, बडौदा, 1925

(64) महाभारत 12.60-25

(65) सम एस्पेक्टस आफ द चैजिग आर्डर इन इण्डिया डयूरिग शक कुषाण एज कुषाण स्टडीज पृ0 75

(66) मनु 2, 141, शखस्मृति 3/2, विष्णुधर्म सूत्र 29 2

(67) मेधातिथि मनु पर 2/112

(68) मिताक्षरा यज्ञवल्क्य पर 2/235

(69) मनु 10/16, याज्ञ0 3/42

(70) मनुस्मृति 4/7

(71) महाभारत, शातिपर्व 243 2 4

(72) कल्लूकभट्ट मनु पर 4/7

(73) मेधातिथि मनु पर 4/7

(74) गोविन्द राज मनु पर 4/7

(75) मिताक्षरा, याज्ञ0 पर 1/128

(76) मनुस्मृति 3/5

(77) मेधातिथि मनु पर 3/5

(78) कुल्लूकभट्ट मनु पर 3/5

(79) मेधातिथि मनु पर 3/5

(80) कात्यायन, याज्ञ पर 2 135-6

(81) वृहस्पति 15 35

(82) नारद 13 50

(83) अलबरूनी सचाउ ग्यारवही सदी का भारत पृ0 155

(84) दायभाग 11-24

(85) मिताक्षरा 2 135

(86) कुल्लूकभट्ट 10.192

(87) दायभाग खण्ड 13

(88) मिताक्षरा 2 136

(89) मनुस्मृति 9 187

(90) कुल्लूकभट्ट 10 192

(91) स्कन्दपुराण 4 71 44

(92) मेधातिथि मनु पर 5/157

(93) विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा याज्ञ0 पर 1 86

(94) दायभाग पृ0 46-56

(95) मेधातिथि मनु पर 8.416

(96) मेधातिथि मनु पर 2.25

(97) अवदानकल्पलता, प्रस्तावना पृ0 16

(98) इण्डियन एण्टिक्वैरी 15 पृ0 105 जे0ए0एस0बी0 33 पृ0 321 भण्डारकर की तालिका नं0 40

(99) इण्डियन एण्टीवैरी 15 पृ0 16

(100) खजुराहों में स्थित चित्रगुप्त, लक्ष्मण द0 पू0 किनारे के मन्दिर

(101) इण्डियन एण्टिक्वैरी 15 पृ0 16

(102) सच्चियामाता मन्दिर, ओसिया स्थित, पी0 आई0 एच0 सी0 पृष्ठ 51-52 (1952)

(103) पटना सग्रहालय न0 9591

(104) गौतम धर्मसूत्र 2 4-5

(105) मनुस्मृति 2 172

(106) वसिष्ठ धर्मसूत्र 2 6

(107) विष्णु पुराण 28 40

(108) मेधातिथि मनु पर 2 172

(109) बील, भाग 1 पृ0 232

(110) इपि0 इडि0 1 140

(111) तत्रैव 12 पृ0 211

(112) इपि0 कार्न 2 पृ0 136

(113) महापथ अर्थात तीर्थो की सहायता से दूसरी दुनिया में पहुंच सकते है।

(114) तीर्थ विवेचन खण्ड पृ0 216

(115) अलबरूनी सचाउ 2 पृ0 146-147

(116) मनुस्मृति 7 1

(117) मेधातिथि मुन पर 7 1

(118) मेधातिथि मनु पर 7 1

(119) मनुस्मृति 7 1

(120) कुल्लूकभट्ट पर 7 1

(121) मेधातिथि मनु पर 7 89

(122) मेधातिथि मनु पर 5 94

(123) मनुस्मृति 7 13

(124) मेधातिथि मनु पर 7.13

(125) मेधातिथि मनु पर 8.399

(126) मनुस्मृति 7.124

(127) मेधातिथि मनु पर 7 124

(128) मेधातिथि मनु पर 9 294

(129) मेधातिथि मनु पर 9 295

(130) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9 295

(131) मेधातिथि मनु पर 9 295

(132) मेधातिथि मनु पर8 39

(133) मेधातिथि मनु पर 8 400

(134) कौटिल्य 10 6

(135) मनुस्मृति 7 90-93

(136) मनुस्मृति 7 32

(137) मेधातिथि मनु पर 7 32

(138) नारद स्मृति मे उद्धत ध्वजाहत की परिभाषा

(139) मेधातिथि मनु पर 8 4-15

(140) मेधातिथि मनु पर 8 1

(141) मनुस्मृति 8 145

(142) कुल्लूकभट्ट मनु पर 8 140-142

(143) मनुस्मृति 8 70 77

(144) मेधातिथि, मनु पर

(145) मनुस्मृति 9 233

(146) मेधातिथि मनु पर 9 233

(147) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9 233

(148) मनुस्मृति 8 318

(149) वसिष्ठ 19-45

(150) मेधातिथि मनु पर 8 318

(151) मनुस्मृति 9 290

(152) मेधातिथि मनु पर 9 290

(153) कल्लूक भट्ट मनु पर 9 290

(154) विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा

(155) जीमूतवाहन, दायभाग

(156) मेधातिथि मनु पर

(157) मेधातिथि मनु पर 9 112

(158) मनुस्मृति 9 168

(159) मेधातिथि मुन पर 9 168

(160) कुल्लूकभट्ट मनु पर 9 168

(161) मेधातिथि मनु पर 5 127-129

(162) क्षेमेन्द्र दरपदलाना

(163) कुमारपाल प्रतिबोध

(164) अपराजित पृच्छा

(165) श्री हर्ष

(166) मानसरा प्रशस्ति पी0के0 आचार्य संस्करण, 284, 29-6

(167) मेधातिथि मनु पर 8 39

(168) मेधातिथि मनु पर 8 39

(169) लल्लन जी गोपाल, इकोनामिक लाइफ इन नार्दन इंडिया पृ0 8-10

(170) मेधातिथि मनु पर 3.526

(171) मेधातिथि मनु पर 8 211

(172) ओ0पी0 श्रीवास्तव, शुल्का इन मेधातिथि 8 406

(173) मनुस्मृति पर मेधातिथि 8 406

(174) मनुस्मृति 8 157

(175) मेधातिथि मनु पर 8 157

सहायक ग्रंथों की संक्षिप्त सूची

मूल ग्रंथ

अगुत्तर निकाय . अनुवाद फाउसबॉल, लन्दन 1962

अग्नि पुराण . सपादक, राजेन्द्रलाल मित्र, बिब्लियोथिका इण्डिका कलकत्ता 1873-79, आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज पूना 1900

अर्थववेद . सपादक एव अनुवाद डब्ल्यू0 डी0 ह्विटने, दिल्ली, 1971

अपरार्क . याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज पूना, 1903-04

अमरकोष . अमर सिह, क्षीरस्वामी की टीका सहित ओरिएण्टल बुक ऐजेन्सी पूना, माहेश्वरी व्याख्या भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना 1907

अमरकोषोद्घाटन, क्षीर स्वामी . अमरकोष पर टीका, सपादक टी0 गणपति शास्त्री, सस्कृत सीरीज न0 भाग 2 त्रिवेन्द्रम

आचारांगसूत्र अनुवाद, जैकोबी, 22 आक्सफोर्ड, 1984

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र . सुदर्शनाचार्य की टीका सहित, मैसूर गर्वनमेट सस्कृत लाइब्रेरी सीरीज

आपस्तम्ब धर्मसूत्र . हरदत्त की टीका सहित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी

आश्वलायन गृह्यसूत्र . नारायण की टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1894

आश्वलायन श्रौतसूत्र . बिब्लियोथिका इण्डिया 1879

आर्यसूर्य : जातकमाला, संपादक एच0केर्न, दिल्ली 1972

आर्यमंजूमूलकल्प : सं0टी0 गणपति शास्त्री, गर्वनमेंट प्रेस त्रिवेन्द्रम 1920

अब्दुल रहमान — सदेशरासक, स0एच0 भायनी, बम्बई 1945

उपनिषद — उपनिषद निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, गीताप्रेस, गोरखपुर वृहदारण्यक उपनिषद, छान्दोग्य उपनिषद, ईशावास्थ उपनिषद, ऐतरेय उपनिषद, केन उपनिषद, कठ उपनिषद, श्वेताश्वतर उपनिषद तैत्तिरीय उपनिषद्।

ऐतरेय आरण्यक — सपादक कीथ, आक्सफोर्ड 1909

ऐतरेय ब्राह्मण — षडगुरूशिष्यकृत्त सुखप्रदावृत्ति सहित, त्रावण-कोर विश्वविद्यालय सस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम

ऋग्वेद . सायणभाष्य सहित, सम्पादक एफ0 मैक्समूलर 1890-92; 5 भाग वैदिक सशोधन मण्डल, पूना 1933-51

कमलासिला : तत्वसंग्रह, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, 1939

कुमारिल . तन्त्रवार्तिक, बनारस ससकरण

कल्हण — राजतरगिणी, एम0ए0 स्टीन, दो भाग 1900 वाराणसी 1961, आर0एस0पंडित 1935

काठक गृहसूत्र : सपादक, डा0 कलन्द, 1925

कथाकोष : अनुवाद, तावने, लदन 1895

कात्यायनस्मृति . संपादक नारायण चन्द्र बद्योपध्याय, कलकत्ता, 1917

कामदक नीतिसार . संपादक आर0 मित्र, बिबिलयोथिका इण्डिका, 1884

कालिदास . कुमारसभव, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1927 अभिज्ञानशाकुतलम्, संपादक एस के वेलवलर नई दिल्ली। 1965

कुल्लूकभट्ट : मनवर्थमुक्तावली, मनु की टीका, सपादक, गोपालशास्त्री नेने, वाराणसी 1970

कूर्म पुराण . संपादक, नीलमणि मुखोपाध्याय, बिब्यिोथिका इण्डिका कलकल्ला, 1890 कौटिल्यकृत

अर्थशास्त्र — सपादक एव अनुवाद आर0पी0 कागले, बम्बई 1962 (द्वितीय सस्करण)

कृष्णमित्र . प्रबोध चन्द्रोदय, स0के0एस0 शास्त्री, गर्वनमेट पब्लिकेशन, त्रिवेन्द्रम 1936

खादिर गृहयसूत्र . मैसूर गवर्नमेण्ट ओरिएटल लाइब्रेरी सीरीज रवर्त्तगच्छ वृहद

खत्तरगच्छ गौरवावलि सपादक जिनविजय मुनि, बम्बई 1956

गरूड पुराण · खेमराज श्रीकृष्ण दास, बम्बई 1906

गोभिल गृहयसूत्र . बिब्लियोथिका इण्डिका सीरिज।

गौतमधर्म सूत्र : हरदत्तटीका सहित, आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज 1910

गौतम स्मृति : सेक्रैड बुक आफ द ईस्ट, आक्सफोर्ड 1897

गुणभद्र . उत्तरपुराण, सपादक पी0एल0 जैन, वाराणसी 1968

चन्दबरदाई : पृथ्वी राज रासो, सपादक, श्यामसुन्दर दास, वाराणसी 1904

चन्द्रशेखर . विवादरत्नाकर; संपादक एम0के0 स्मृतितीर्थ, एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल, 1931

. : गृहस्थ रत्नाकर, कलकत्ता 1928

जैन पुस्तक प्रशास्ति सग्रह : एस0जे0 जी0 न0 18, बम्बई 1943

जयदेव गीतगोविन्द, एन0एस0पी0 1929

जातक : सपादक, फाउल्सबोल, 1877-97; कैम्ब्रिज, अनुवाद 1895-1913 हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन

जिनसेन . आदिपुराण, दो भाग, काशी, 1965

जयदित्य एंव वामन काशिका, पाणिनी पर भाष्य, संपादक; ए0 शर्मा, हैदराबाद, 1969

जयानक — पृथ्वीविजय, स0जी0एच0 ओझा एव सी0 गुलेरी वैदिक मन्त्रालय, अजमेर 1941

जिनेश्वर सूरी — कथाकोष प्रकरण, बम्बई 1949

जिनहरसगानी — वस्तुपालचरित्र, जामनगर, भास्करोदय प्रेस

जिन-प्रभासूरि — विविध तीर्थ कल्प, शांति निकेतन, 1934

जीमूत वाहन — दायभाग, 2 वा सस्करण, सिद्धेश्वर प्रेस कलकत्ता 1893

जयसिह सूरी — हम्मीरमद मर्दन, गायकवाड, ओरिएण्टल सीरीज न0 10

तैत्तिरीय आरण्यक . आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज 1926

तैत्तिरीय ब्राहमण : शाम शास्त्री, मैसूर, 1921

तैत्तिरीय संहिता . श्रीपाद शर्मा, औधनगर, 1945, कलकत्ता 1854

तबकात-ए- नासिर . भाग I, अनु0 रावर्टी, 1881

तारीख-ए-फरिश्ता : फरिश्ता, अंग्रेजी अनुवाद जी ब्रीस

दण्डिन · दशकुमारचरित, स0 एम0 आर0 काले0, ओ0पी0सी0बी0 1917

दामोदर गुप्त : कुट्टनीमतम, वाराणसी, 1961
अनुवाद ई0 पावयास मैर्थर्स, लदन 1927

देवण्णभट्ट : स्मृतिचन्द्रिका, सपादक, एल0 श्रीनिवासचार्य, मैसूर, 1914-21

देवलस्मृति . आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना ।

देवी भागवत : बिब्लियोथिका इण्डिका, 1903

दीघ निकाय . सपादक, रीज डेविड्स ओर ई0 कार्पेन्टर, लंदन 1890-1911; हिन्दी अनुवाद राहुल साकृत्यायान सारनाथ वाराणसी, 1936

दीपवंश · संपादक, ओल्डेनवर्ग, लन्दन, 1879

देवी पुराण : संपादक पी0 के0 शर्मा, नई दिल्ली, 1976

धोयी : पवनदूत, सस्कृत साहित्य परिषद ग्रंथमाला नं0 13 कलकत्ता 1926

धम्मपद		सपादक, राहुल साकृत्यायन, रगून 1937
धनपाल		तिलकमजरी बम्बई 1951
		भविष्यतकथा,स0 सी0डी0 दलाल और पी0डी0 गुने बडौदा 1923
धनजय		दशरूपक, धनिक की टीका सहित, स0 गोविन्द त्रिगुयात, साहित्य निकेतन-कानपुर, 1954
नवसहसाकचरित		सपादक, वामन शास्त्री, बम्बई, 1895
नारद स्मृति	.	सपादक जॉली, कलकत्ता, 1885
निदान कथा		सपादक, भागवत, एन0के0, बम्बई 1935
नैषधचरित	.	बम्बई 1907
नारायण		हितोपदेश, सपादक एम0आर0 काले, दिल्ली, 1976
पतजलि	.	महाभाष्य, सपादक एफ0 कीलहार्न, बम्बई
पद्म पुराण	.	सपादक, बी0एन0 माडलिक, 4 भाग, आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज, पूना, 1893-94
पराशर स्मृति	:	बम्बई 1911
पाणिनी	:	अष्टाध्यायी, निर्णय सागर, प्रेस 1929
		सपादक एव अनुवाद, एस0 सी0 बसु दिल्ली 1977
पद्मगुप्त	:	नवसहसाकचरित, बम्बई सस्कृत सीरीज नं0 L III 1895
पारस्कर गृहयसूत्र	:	गुजराती प्रेस सस्करण, 1917
पुरातन प्रबंध सग्रह	:	सपादक, जिन विजय मुनि, कलकत्ता, 1926
पृथ्वीराज रासो	:	नागरी प्रचारिणी ग्रथमाला सीरीज
प्रतापरूद्र	:	सरस्वती विलास, मैसूर, 1927
बाणभट्ट	:	हर्षचरित, अनुवाद, कावेल और टामस 1897
	:	कादम्बरी, सपादक, रामचन्द्र काले, 1948
बिल्हण	:	विक्रमांकदेव चरित, बम्बई, 1875

बृहस्पति स्मृति — बडौदा, 1941 सपादक के0वी0 आर0 आयगर

ब्रह्म पुराण — गायकवाड, औरिएण्टल सीरीज बडौदा, 1941

ब्रह्मसूत्र — स0 महादेवशास्त्री एन0एस0पी0

ब्राह्मण्ड पुराण — कलकत्ता स0 2009

ब्रहवैवर्त पुराण — वी0पी0 सस्करण

बौधायन धर्म सूत्र — आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज।

बृहस्पति स्मृति — गायकवाड ओरिएण्टल सीरिज, 1941

बृहन्नारदीय पुराण — सपादक एच0 शास्त्री, आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज 230

आधुनिक सहायक ग्रंथ

Inscriptions

Bhandarkar D R — List of Inscriptions of Northern India, App. to EI XIX-XXIII

Fleet J F — C I I VOl III

Maity S K. and Mukherji R R . Corpus of Bengal Insciption, Calcutta, 1967

Mirashi V.V — C I I VOL IV Otacamund 1955

. C I I Vol V Ootacamund 1963

C I I Vol VI New Delhi, 1977

Peterson P — A collection of Prakrita and Sanskrit Inscriptions, Bhavnagar Archaeological Department Bhavanagar, 1905

Sircor D C — India Epigraphy, varanasi 1965

Indian Epigraphical Glossary Delhi 1966

Selected inscriptions Bearing on India History and Civilization 2 vol calcutta 1965 and New Delhi 1983

Secondary Sources

Agrawal V S — Harshcharita ka Eka Samskritika ka Adhyayana Patna 1953 Kadambari Kha sanskritika Adhyayana Varanasi

Aiyangar K V R — Aspects of Ancient Indian Economic thought Varanasi, 1965 (IIed)

. Introduction to Vyavaharakhand of Krtya Kalpataru, Baroda, 1958

. Aspect of the social and Political system of Manusmriti, Lucknow, 1949

Some aspects of the Hindu view of life According to the Dharmashastra, Baroda, 1932

Altekar A S — The Position of Women in Hindu Civilization, Varansi, 1956

Education in Ancient India Varanasi 1934 and 1948

The Rahtrakutas and their times Poona, 1967 (II ed)

States and Government in Ancient India Varansi 1949 Delhi 1958

Ambedkar B R — Who were the Shudras ? Bombay 1946

The Untouchables, New Delhi 1948

Bagchi P C — Studies in the tantras, Calcutta 1934

India and China, Calcutta, 1944

Beal, S — The life of Hiven Tsiang by Shaman Hwi-Li Delhi, 1973

Briggs — Tarikht-i-Firishat of Muhammad Qasim Firishta 4 vols London 1827, 29

Beni Prasad — States in Ancient India, Allahabad

Bhattacharya B — The India Buddhist Iconography 2nd Ed. Calcutta 1958

Bhattacharya H D (Ed) — The Cultural Heritage of India Vol III Calcutta 1953 Vol IV 1956

Bhandarkar R.G. — Saivism Vaisnavism and Minor Religious systems, Poona, 1929

Bandyopadyaya NC — Economic life and progress in Ancient India, Allahabad (1980)

Basham A L — The wonder that was India, London 1951

Cultural History of India, 1975

Barnett L.D — Antiquities of India, London, 1913

Biertedt R — The Social Order New York 1957

Bloch, Marc — Feudal Society translated form the French by L.A. Maryon in two Vol London 1965

Blunt, E.A.H. — Caste System of Northern India Indian Reprint S.Chand & Co, Delhi 1969

Blunt, E.A.H. — Social Service in India, 1946

Bose A N — Socıal and Rural Econom y of Nothern Indıa 2 Vol s, Calcutta 1945

Boss N S — Hıstory of the Chandells of Jejakabhuktı, Calcutta 1956

Brown P — Indıan Archıtecture, Bombay

Buch M A — Economıc lıfe ın Ancıent Indıa Allahabad, 1979 (Rep)

Buddha Prakash — Studıes ın Indıa Hıstory and Cıvılızatıon Agra 1962

Aspect of Indıan Hıstory and cıvılızatıon Agra 1965

Buhler G — The Lıfe of Hemchandra, S J G. X 1936

Butts R F — A cultural Hıstory of Educatıon, New York and London 1947

Bose P — The Hındu Colony of Combodıa, Adyar 1927

The Indıan Colony of Champa, Adyar 1926

Buhler — The lıfe of Henchandra, S J.G. X 1936

Butts, R F — A Clutural Hıstory of Educatıon, New York and London, 1947.

Bose P — The Hındu Colony of Champa, Adyar, 1926

Chakraborty. H P — Trade and Commerce of Ancient Indıa (C. 200 B C A.D.) Calcutta, 1967

Chakravartı N P — Indıa and Central Asıa, Calcutta 1927

Chattopadhyaya B . — Essay ın Ancıent Indıan Ecnomıc Hıstory N Delhi 1987

Chaudhary G C — Polıtıcal History of Northern Indıa from Jaın sources (650-1300 A.D.) Amritsar, 1963.

Coul born Rushton — Feudalısm in Hıstory, Prınceton Unıversıty Press, H 56

Crooke W — Trıbes and castes of North Western Provinces and Audh VOL II Calcutta 1896

Elliot, HM and Dowson J: — Hıstory of Indıa as Told by ıts Hıstorıars, Vol I & II Allahabad, 1969

Dange S.A — Economıc Histrory of Ancıent Indıa Calcutta, 1925

Das S K	Education System of the Ancient Hindus Calcutta 1930
Dube S C	Indian Village, 1950
	Manava Aur Sanskrit, Delhi, 1960
Das S C	Indian Pandits in the land of snow 1893
Dubois A	Hindu Manner and Customs
Dutta R C	Later Hindu Civilization A D 500-1200 4 Calcutta 1965
Dutta B N.	Studies in Indian Social Polity Calcutta, 1925
	Hindu Law of inheritence, Calcutta 1957
Dutta, N K	Origin and Growth of caste in India, Calcutta 1965, II Vol
Derrett, J D M	Religion , law and state in Ancient India, London, 1968
Eliot C	Hinduism and Budhism, 3 vols, London 1921
Engels F. .	The Origin of the family, Private Property and the state, Moscow 1952
Farquhar J N	Outline of Religious Leterature of India, Oxford University Press 1920,
Fick R	Social Organization in North East India in Buddha's Time, Calcutta 1920
Fleet J.F.	Gupta Insciptions (or Corpus Inscriptions Indicarum)
Forbes, A.K	Rasamala, New Delhi, 1973
Foreign Accounts :	Beal, S and S Hwvi-Li The life of Hiven Tsiaag Vol I London, 1911
Gango Padhyaya R ;	Agriculture and Agriculturists in Ancient India, 1932
Giles, H A	The travels of Fa-hsien or Record of Budhistic kingdom, cambridge 1923
Gibb, H.A R .	Travels of Ibna-Batuta, London, 1921
Ganguli D.C .	Contributions to the history of the Hindu Revenue stystem, Calcutta 1929
:	History of Paramars Dyanastry Dacca 1933
Ghoshal U N.	A History of Indian Political ideas, oxford, 1959

Studies in India Hystory and culture, Calcutta, 1917

A History of Indian Public Life, Bombay, 1966

The Agrarian System in Ancient India, Calcutta, 1930

Contribution to the History of Hindu Revenue System, Calcutta, 1972 (IIed)

Beginning of Indian Historiography and other Essays Calcutta 1944

Gopal L — Economic Life of Northern India Varanasi 1965

History of Agriculture in Ancient India , Varansi, 1980

The Sukraniti, Text of Nineteenth Century, Varanasi, 1978

Ghurye, G.S — Caste and class in India, New York 1950 IIed Bombay 1957

Social Tension in India, Bombay 1968

Vedic India, Bombay 1979

Caste, Class and Occupation Bombay, 1961

Habib Irfan — Agrarian System of Mughal India Asia Publishing House, 1963

Habibullah A.B M — The Foundation of Muslim Rule in India, A History of the establishment and progess of Turkish sultanate of Delhi. 1206-1290 A D , Allahabad, 1976 (III ed.)

Hazara R.C — Studies in the puranic Records on Hindu Rities and customs Delhi, 1975, IIed

Hirth, F and Rockhill W.W. — Chau-Ju- Kua, St Petersburg, 1911

Hodival, S.H., : Studies in Indo Muslim History, Bombay 1939 supplement Vol II Bombay 1957

Hopkins E W — The Religions of India, N. Delhi, 1972

Hourani G F — Arab Seafaring in the Indian Ocean in Ancient and Early Medieval Times Princeton Univ 1951

Hus, F L K — Clan, Caste and Club Princeton New Jersey, New York 1963

Hutton — Caste in India Cambridge University Press 1946

Ishwari Prasad — History of Medieval India , Allahabad 1925

Jaishaker Mishra — Prachin Bharat ka Itihas

Jauhari Manorama — Politics and Ethics in Ancient India Varanasi, 1968

Jaiswal K P — Hindu Polity, Calcutta, 1928

Jain V K — Trade and traders in western India, New Delhi 1990

Jha D N. — Revenue system in Post Maurya and Gupta times, Calcutta, 1967

Feudal Social Formation in Early India, Delhi 1987

Jha, G.N. : (Tr) Laws of Manu with Bhasya of Medhatithi, Allahabad.

John S. Deyell — Living without Silver, Delhi oxford Univ Press) 1990

Jolly J — Hindu Laws and customs, calcutta , 1928

outline of an History of Hindu law of Partition, Inheritance and adoption, Calcutta, 1885

J Burgess and H Cousens — The Architectural Antiquities of Northern Gujrat Varanasi 1975 of Northern Gujrat

Kangle R.P. — The Kautilya Arthshastra, Part III A study, Bombay 1965

Keith A B. — A History of Sanskrit literature, Oxford 1953

The Sanskrit Drama, Oxford 1954

Kapadia K,M : Marriage; and family in India Oxford, 1958

Kane, P.V. — History of Dharmastra, 5 Vols, Bhandarkar Oriental Research Institute Poona, 1930-53

Karve Irawati — Hindu Society An Interpretation poona, 1968

KetKar, S V — History of caste in India, New York 1909, 1979

Koshambi D D — Introduction to the study of Indian History, Bombay

. — Indian Feudal Trade Charter's JESHO, VOL II PP 281-93

Legge, J.H — The travel of Fa-hien, Delhi, 1972

MacIver, R.M. and page C.H — Society, London 1962

Mehesa Prasad — Suleman Saudagara, Kashi Nagari Prachreni Sabha V S 1978

Mocdonell A A and Keith A B — Vedic Index (Hindi) Vol II, Varanasi, 1962

Maity S.K — Economic Life of Northern India in the Gupta Period Varansi, 1970 (Revised ed)

Majumdar A K. — Chaulukyas of Gujrat, Bombay 1956

Majumdar B K — The Military system in Ancient India calcutta 1960

Majumdar, B.P — Socio- Economic History of Northern India, Calcutta 1960

Majumdar D N . Races and Cultures of India, Bombay 1958

Majumdar N M — A History of education in Ancient India, Calcutta 1916

Majumdar R C : Corporate Life in Ancient India Calcutta, 1922; 1969 (III ed)

(ed) The Clasic Age

: Age of Imperial Kanauj

Struggle for the Empire

The History and culture of the Indian People vol I to VI, Bomboy

Majumdar R.C. and Das Gupta K.K . A Comprehensive History of India, Vol 3 2 pts N Delhi 1982

Mex Weber : The Religion of India

		The Theory of Social and Economic Organization, New York, 1967
HC Crindle		Ancient India as described by Megasthenes
		Invansion of India by Alexander the Great as described by Arrian, Westminister, 1893
Mirashi V V		Inscriptions of the Kalachurichedi Era, 1955
		Kalachuri Naresa aura Unake Sans kala, Bhopal; V.S 2002
Mookerji, R K	.	Ancient Indian Education, London 1951
	.	A History of Indian shipping and Meritime Activity, London 1912
		Hindu Civilization, Bombay, 1977
Munshi K M		The Glory that was Gurja desa, Bombay, 1951
Mudholkar, V		Socio-Economic Study of the Early Jain Katha literature(A D 700-1000) Allahabad, 1995
Negi, J.S.	.	Some Indological studuies Vol I All 1930
Nath, Pran		A study in the Economic Condition of Ancient India, London, 1924
Naranga S P	·	Dvayasraya; A Literary and Cultural study, New Delhi, 1972
Niyogi P	.	The Economic History of Northern India Calcutta 1962
		A contribution to the Economic History of northern India. From the ninth to the Twelfth century A D. Calcutta, 1962
Niyogi Roma		History of the Gahadvala Dyanasty Calcutta 1959
Nizami, K A.	.	Some Aspects of Religion & Politic in India, During 13 the century Asia Pulishing House, 1961
Nizami, M		The Life and times of Sultan Mahomud of Ghazna, Combridge, 1931
Ojha G.H		Rajputana ka Itihasa, Vol I Ajmer 1937
	.	Maddhykalin Bhartiya Sanskriti, Allhahabad 1945

Pandey A B : Purva-Madhyakalına Bharat ka Itıhas , Kanpur 1954, Central Book Depot Allahabad

Pandey G C : The Meanıng and processs of Culture, Agra, 1972

Pannikar, K M . A Survey of Indıan Hıstory, Bombay 1947

. Hındu Socıety at cross road, Bombay 1956

. Indıa and the Indıan occean London 1951

Parson, Telcott . The Structure of socıal Actıon , New York 1933

Patıl, D R Cultural Hıstory from the Vayu Purana Poona 1946

Pathak, V.S Hıstory of Shaıva Cults ın Northern Indıa Varanası 1960

Prabhu P.H · Hındu Socıal Organızatıon Bombay 1958

Parkash Om · Early Indian Land Grants and state Economy, Allhahabad, 1988

Conceptualızatıon and History ın Early Indıan socıo Economıc studıes, Allahabad, 1992

Parasad Beni : State ın Ancıent Indıa, Allahabad 1923

Puri, B.N History of Gurjara-Pratiharas, Bombay, 1957

Raffles, T S The Hıstory of Java, condon 1830

Rapson, E J Ancıent Indian, Cambridge, 1916

RadhaKishnan, S Indian Philoshophy, 2 vols 1923-1960

Rai G.K. Involuntary Labour ın Ancıent Indıa, Allahabad 1981

Forced Labour ın Ancient and Early Medieval India,. IHR, VOL III, No.1 Page No 16-42

Ray H.C Dyanastıc Hıstory of Northern India (in two volumes) New Delhı, 1973

Ray P · Hıstory of Chemistry ın Ancient and Medıeval India, Calcutta 1956

Ray S C. : Early Hıstory and Culture of Kashmir, New Delhı, 1976

Raichaudhari H C . Polıtıcal Hıstory of Ancıent India 1963

	Early History of the vaisnava Sect, 2nded, calcutta 1905
Rawlinson H G	Intercourse between Indian and the western world, cambridge, 1969
Roy U N	Gupta Samrata aour Unka kala (Hindi) Allahabad 1976
	Prachin Bharat Men Nagar Tatha Jivan Allahabad 1965
Renaudot E	Ancient Accounts of India and China by two Maohammedan Travellars London, 1733
Risley H.H.	The People of India, London 1915
Rhys Davids	Buddhist India London 1903
	The Dialogues of Buddha
Sachau, E C	Alberuni's India (Two vol in one) New Delhi, 1964
Schoff	Peripuls of the Erythrean Sea New Delhi 1914
Salatore R.N.	Life in the Gupta Age, Bombay, 1943
Sankalia H.D	Archaeology of Gujrat, Bombay 1941
Sammaddar J N	Economic Condition of Ancient India, Calcutta, 1922
Sharma R.S	Indian Feudalism, Calcutta, 1965
	Sudras in Ancient India, Varansi 1958, second Edition 1980 Delhi
	Social Changes in Early Medieval India (C A.D 500-1200), Delhi 1969, reprint 1993
	Some Economic Aspects of the caste stystem in Ancient India, Patna, 1952
	Bhartiya Samantavada (Hindi) Tr. By A N. Singh, Delhi, 1973
	Decay of Gangetic Twons PIHC Muzaffarpur perspectives in social session 1972 P.P. Journal of Indian History , Golden Jubilee Volume, 1973 PP 135-50 and Economic History of Early India New Delhi, 1983

-		Taxation and state formation in Northern Indian in pre Mauryan Times, Social Science, Probings Vol I No I New Delhi, 1987
		Urban Decay, New Delhi, 1987.
Sharma & D N Jha		The Economic History of India Upto AD 1200, Trends and prospects, Journal of the Economic and social History of the orient XVII 1974, 48-80
Sharma R S. And Jha V (ed)		Indian Society Historical Probings, Delhi, 1974
Sharma, B.N		Social and Cultural History of Northern India (1000-1900) 1932; 1970
Sharma, D	:	Rajasthan Through the Ages, Bikaner 1966
	:	Early Chauhan Dyanasties Delhi, 1975
Sharma R N	.	Brahmin Through the Ages, Delhi 1977
Sharmas Y D.	.	'Exploration of Historical Sited' Ancient India No 9 1953
Shukla D.N.		Uttar Bharata ki Rajasva Vyavashthe (1000-1200 A D) Allahabad 1984
Sastri K.A Nilakanth		The Cholas, Vol II Pt I , Madras Uni Series No 10, 1937
Singh R.B		History of the Chahamanas Varanasi, 1961
Singh R C.P.		Kinghip in Northern Indian, Motilal Banarasiders, 1968
Sinha G.P		Post Gupta Polity (A D. 500-750) Calcutta, 1973
Sircar, D C	.	Some Aspects of Earliest Social History of India, Calcutta,
-		Selected Inscriptions, Calcutta, 1942
	.	Studies in the political and Administrative Systems in Ancient India, Delhi, 1974
Srivastava A.L.	.	Medieval Indian Culture, Agra, 1964
Srivastava O.P.	:	Slave trade in Ancient India and Early Medieval India PIHC, VOL XXXIX Page 121-136

	:	Sulka in Ancient India and Early Medieval Indian J G N Jha Vol XXXVI PP 129-160
–	:	Rate of interest During the Early Medieval India PIHC Kurukshetra Session 1982 P P. 115
	.	Village Autonomy in Northern India from Mauryan Times to the Twelfth Century A.D Bharati (Forth coming Vol)
		Oppressive Features of Commercial Taxation During the Early Medieval India, Prachya Pratiha, XI Page 63-71
		Commericial Taxation in India (A D 600-1200) Allahabad, 1999
Smith V A		Early History of India The Art of Indian and coylon oxfored 1911
Stein B	.	Peasant State and society in Medieval South India, New Delhi, 1980
Subba Rao, N S	.	Economic and Political conditions in Ancient India, Mysoore 1911
Tarachand		Influence of Islam on Indian Culture, (2nd Ed)Allahabad.
Thakur, Upendra		Some Aspects of Indian History and culture, 1974
Thaper, Romesh		Tribes, Castes and Religion in India 1977
Thaper Romila	.	Ancient Indian Social History, Delhi 1978
		The Past and prejudice, 1972
		The impact of Trade in India C. 100 to B.C 300 A.D KMISK
Thakur, V.K.		Historiography of Indian feudalism towards A Model of Early Medieval Indian Economy 600-1000 A.D. Patana 1989
Thaplyal K.K.	.	Studies in Ancient Indian Seal, Lucknow, 1971
Thompson J.W.	:	An Economic and social History of Middle age New York, 1928.
Tripathi R.S	:	History of Kanuj, Banaras, 1937

Tripathi R P — Studies in Political and Soci Economic History of Early India, Allahabad, 1981

Tod, James — Rajasthan, Vol I Calcutta 1877

Travells in western India, Asiatic society of Bengal 1839

Annals and Antiquities of Rajasthan (Ed Crooke) oxford, 1920

Upadhyaya V — The Socio- Religious Condition of North India (700-1200) Varanasi 1964

Udgaonkar Padma B — The Political Institution and Administration of Northern India Durina Medieval times (From 750 to 1200) A D Delhi. 1969

Yadav B N S — Society and Culture in Northern India in the twelfth century A D Allahabad 1973

The Accounts of the Kali Age and the Social Trasition from Antiquity to the Middle Ages IHR Vol V PS 1-2 1978-79 PP 48-97

The Problems of the Emergence of Feudal Relations in Early India, P.A Ancient India Setion PIHC BOMBAY 1980, PP 19-78

Yule Henry . The Book of Ser Marco Polo revised by Henry Cordiar, London 1920

Yule Sir Henry — The book of Sir Marco Polo-Tr and by Sir Henery Yule 2 vols London 1903

3 rd ed by Henry cordier 2 vol London 1920

Yusuf Ali . Medieval India, Social and Economical conditions, London, 1932

Vaidhy C V . History of Medieval Hindu India, Vol II Poona 1924 Vol III Poona 1926

Vidya Prakash . Khajuraho, Bombay 1967

Watters, T : On yuan Chwang's Travel in India (two vol in one), New Delhi, 1973

Wack, Joachini : Sociology of Religion, London 1947

Weber Max . The Religion of India, Tr and E.D. Hans H Gerth and Don Martindale the Free Press Glencoe, Illino is

While, Lynn : Medieval Technology and Social Change, Oxford Univ Press, 1964

Winternitz M : History of Indian literature 2 vol Calcutta 1927
History of Indian literature Vol III Pt I, Tra Subhadra Jha, Motilal Banarasi Das 1963

Journals, Periodicals and Reports

- Ancient India
- Annual Report of Indian Epigrapy
- Annual Report South Indian Epigraphy
- Annuals of the Bhandarkar Oriental Research Institute
- Annal Reports of the Rajasthan Museum
- Archaeological Survey of India Reports,
- Archaeological Survey of India Reports by A Cunningham Comprative Studies in Society and History
- Epigraphia Indica
- Government Epigraphists Report 1913
- Indian Antiquary
- Indian Archeology A Review
- Indian Historical Quarterly
- Islamic Culture, Hyderabad
- Indian Historical Review
- Journal of the Asiatic Society of Bengal
- Journal of the Bombay Branch of Royal Asiatic Society
- Journal of the Bihar and Orissa Research society
- Journal of Ganganath Tha Kendryia Vidyapeeth
- Journal of the Royal Asiatic Society
- Journal of the Economic and social History of the Orient Leiden Germany
- Journal of the India History
- Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland
- Journal of Numismatic society of India
- Journal of the U P Historical Review
- Memoirs of the Archaieological Survey of India
- Mysore Archaeological Survey Reports
- Mysore Epigraphists Report

- Prachya Pratibha
- Proceedings of Indian History, Congress
- Progress Report of the Archaeological Survey of India, Western Circle
- Rhythem of History (Journal of Rajasthan University Jaipur)
- South Indian Inscriptions
- Social Probings , New Delhi
- South Indian Teligana Incriptions